

सन् १९३६ में जन्मे डॉ० रमाकान्त आंगिरस की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा एक संस्कृत सेवा-रत परिवार में हुई। १४ वर्ष की आयु में पंजाब विश्वविद्यालय से शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद १९५७ में उन्होंने हिन्दी में एम० ए० किया। तत्पश्चात् संस्कृत में एम० ए० की उपाधि प्राप्त की। पंजाब विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में भारतीय दर्शन एवं साहित्य का अध्यापन करते हुए उन्होंने आचार्य शंकर के दर्शन को लेकर पंजाब विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। अब तक अनेक छात्र उनके निर्देशन में योग, सांख्य, अद्वैत वेदान्त एवं तन्त्र आदि की शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं। फिर भी उनका कहना है "कि मैंने छात्रों को पढ़ाते समय या लोगों से लम्बी वार्ताओं के [illegible] अधिकाधिक सीखा और समझा है।" पिछले २५ वर्षों से कुशल अध्यापन के साथ-साथ काव्य, निबन्ध एवं समीक्षा के क्षेत्र में इनका योगदान प्रकाशन, रेडियो वार्ता एवम् दूरदर्शन आदि के माध्यम से समय-समय पर होता रहा है। आत्म-प्रकाशन एवं आत्म-ख्याति से दूर रहकर इन्होंने अनवरत रूप से भारतीय दर्शन एवम् साहित्य की साधना की है।

2441

शांकर वेदान्त : एक अनुशीलन

(सन्दर्भ : शास्त्र एवम् लोक)

डॉ० रमाकान्त आंगिरस
एम० ए० (हिन्दी एवं संस्कृत),
शास्त्री, पी-एच० डी०,

प्रवक्ता—संस्कृत विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ ।

प्रकाशक : नटराज पब्लिशिंग हाउस करनाल द्वारा प्रकाशित/प्रथम संस्करण : १९८२/मूल्य : सौ रुपये/रघु कंपोजिंग एजेंसी द्वारा हिन्दुस्तान प्रिंटर्स, शिवाजी पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032 में मुद्रित ।

आवरण : चेतन दास

SHĀNKAR VEDĀNTA : EK ANUSHEELAN

By Dr. Ramā Kānta Āngiras Rs. 100·00

समर्पण

तुम्हीं को
जिसने माँ के रूप में वात्सल्य
पिता के रूप में अनुग्रह
आचार्य के रूप में कृपा
पत्नी के रूप में प्रेम
सन्तति के रूप में आत्माभिव्यक्ति
बन्धु और मित्र के रूप में साहाय्य
देकर
इन प्राणों को चरितार्थ किया।

आत्म-निवेदन

इस पुस्तक में शास्त्रीय और लोक-दृष्टि से आचार्य शंकर के केवलाद्वैत या आत्माद्वैत दर्शन को जानने का प्रयास किया गया है। पुस्तक के रूप में इसका प्रकाशन आज से प्राय: ११ वर्ष पूर्व हो जाना चाहिए था। लेकिन परिस्थितियों का विषम प्रभाव, आत्मविश्वास में त्रुटि या भवितव्यता की जकड़ आदि कोई भी कारण रहा हो, विलम्ब तो हो ही गया। लेकिन यदि इस पुस्तक में कोई सुचिन्तित बात है तो फिर उसमें कोई अखरने वाली पुरानापन जैसी बात आ जाने का खतरा मुझे नहीं रहा। प्रस्तुत पुस्तक को लिखते समय मेरी चेतना पर जिस दृष्टि का प्रभाव रहा वह दृष्टि अनजान व्यक्ति के लिए प्राचीन या इतिहास की वस्तु हो सकती है पर जानने वाले के लिए तो नित्य नवीन है। क्योंकि नया पुराना उसके लिए एक मिथ्या कल्पना है। तत्त्व तो जीवन-चेतना है जो नये पुराने से बहुत भिन्न है। नया और पुराना तो अति सीमित दृष्टि के परिणाम हैं। काल-परम्परा की दृष्टि से अनादित्व उसका एक सिरा है तो अनन्तता दूसरा। अत: काल-भेदिनी इस दृष्टि से प्राचीन लोगों ने भी जीवन और यथार्थ को पकड़ पाने की क्षमता प्राप्त की थी और अब भी लोग कर रहे हैं। क्योंकि सत्य या यथार्थ को आप कभी भी निरावरण दृष्टि से देख तो सकते हैं, उसमें तन्मय भी हो सकते हैं, लेकिन उसे पकड़ नहीं सकते। उसमें तैरने का आनन्द भी लिया जा सकता है, लेकिन अहम् की हंडिया में उसे बन्दी नहीं बनाया जा सकता।

आचार्य शंकर से मेरा लगाव विद्यार्थी-जीवन में ही हो गया था। उसी महामहिम प्रतिभा की मार्मिक दृष्टि को समझने के चक्कर में मुझे बुद्ध के दर्शन को भी समझना पड़ा। बुद्ध को समझने के फेर में श्रुति स्मृति और पुराणों की दृष्टि की ओर भी याचक दृष्टि से देखना पड़ा। इससे ऐसा लगने लगा कि आचार्य शंकर का पूर्वभाग ही कुछ कुछ समझ आ रहा है। फिर उत्तर भाग की ओर चला तो सिद्ध, नाथ, शैव, शाक्त, वैष्णव सन्तों के पास जाना अनिवार्य हो गया। अर्थात् शंकर में बुद्ध और बुद्ध में उपनिषद्, उपनिषदों में वैदिक और लौकिक काव्य-दृष्टि को देखकर मैं लोक-साहित्य की ओर आया। इससे दृष्टि में विरोध अल्पतर होता चला गया और मध्यकाल की शास्त्र-परम्परा और लोक-जीवन में आचार्य शंकर के दर्शन की पग-पग पर प्रतिच्छाया दृष्टिगत होने लगी।

फलतः इस यात्रा के अनन्तर ऐसा लगा कि शंकर जैसे विराट् व्यक्तित्व की परिक्रमा करने के अनन्तर यह तो शिष्टाचार ही है कि उसके आगे नमन किया जाए। यह पुस्तक उस नमन का ही एक संकेतमात्र है। आशा कर सकता हूँ कि भारतीय दर्शन के अध्येता पाठकों को यह मेरा प्रयास सम्भवतः इसलिए अच्छा लगे क्योंकि यहाँ आचार्य शंकर के माध्यम से अद्वैतपरंपरा का वह अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जो अखण्ड रूप से मध्यकालीन सन्तों के द्वार से होता हुआ हमारी पीढ़ी तक पहुँचा। ये सन्त ही हमारी लोक परम्परा के प्रतिनिधि रहे हैं। ज्ञान के दीपक को राजभवनों से लेकर दलित, दुःखी, दरिद्रनारायण तक की कुटिया में ले जाने का श्रेय इन्हीं को जाता है। क्योंकि इनकी दृष्टि न तो वर्ग-चेतना को चरम सत्य मानती थी न संघर्ष को। जनजीवन के प्रत्येक कण को आत्मज्योति से जागृत करने का दायित्व उन्होंने अपने पर लिया होगा, ऐसा उनके प्रत्येक पद से लगता है। कबीर, नानक, दादू या रविदास आदि लोक-प्रतिनिधि सन्तों को यदि वर्ग-संघर्ष या वर्ग-चेतना के प्रतिनिधि मानकर अध्ययन किया जाए तो वे केवल विद्रोहीमात्र बनकर रह जाएँगे। अतः मैंने उनके विद्रोह को लोक-परम्परा में उठी ग्लानि के मल के प्रति विद्रोही मानकर भी उन्हें दृष्टि की पूर्णता के उपासक माना है।

पण्डित और सन्त, शास्त्र या लोक को परस्पर टकराव की स्थिति में देखने वाले लोगों को यह देखना चाहिए कि मूलतः ये दोनों एक ही परम्परा की दो अवस्था-विशेष हैं। लोक से शास्त्र ग्रहण करता है और शास्त्र से लोक। सारा भारतीय मध्यकालीन जनजीवन या लोक-साहित्य अद्वैतवादी या वैष्णव आचार्यों की प्रेरणा का प्रतिफलन होने से इसी बात की साक्षी देता है। समस्त शास्त्रीय चेतना को लोक-चेतना अपने ढाँचे में कैसे ढालती है इसका प्रमाण आपको समाज के निचले वर्ग से लेकर ऊपरले वर्ग के लोगों के पेशे की उपयोगी कलाओं या ललित कलाओं के सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है। कबीर कपड़ा बुनते थे पर वेदान्ती ढंग पर। उनकी सगाई, विवाह आदि का ढंग भी रामसगाई का ही ढंग था।

मैं नहीं समझता कि प्रस्तुत प्रयास निर्दोष होगा। मैं मानता हूँ कि मैंने शांकर वेदान्त जैसे अत्यन्त व्यापक और अति गहन दर्शन को इन पृष्ठों में लगभग पूरी तरह से समेटने का दुःस्साहस-सा ही किया है किन्तु सुधी और सन्त लोगों को, सम्भव है, अपनी ही बुद्धि या संस्कार की निर्मलता के कारण यह प्रयास अच्छा लगे। क्योंकि ऐसे लोगों के स्वभाव का ही यह गुण होता है कि वे दूसरे के दोषों को बहुत लघु और गुणों को बढ़ाकर देखते हैं।

परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं।
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

अतः विद्वज्जनों की किंचित् अनुकूलता भी मेरे लिए स्पृहणीय ही है। प्रबन्ध के शीर्षक में मैंने लोक के सन्दर्भ की चर्चा की है। लोक शब्द के अन्तर्गत अभी केवल मेरे लिए सन्तवाणी को ही ले पाना सम्भव हो सका है अन्यथा पुस्तक का कलेवर भी भारी-भरकम हो जाता और अद्वैतवेदान्त के क्षेत्र के अधिक विस्तार को यह लेखनी एक ही प्रयास में पार भी नहीं कर सकती थी।

इस प्रबन्ध की रचना में आदि से अन्त तक गृहस्थ जीवन में भी सन्त-परम्परा का निर्वाह करने वाले स्वर्गीय पूज्य पिता पण्डित भजनलाल जी एवम् शास्त्रीय परम्परा और आचार की प्रतिमूर्ति पूज्य पितृपाद पण्डित विष्णुदत्त शास्त्री का आशीर्वाद रहा है। उनके प्रति केवल आभार या कृतज्ञता का प्रकाशन अपनी ही लघुता को प्रकट करना है।

इस प्रबन्ध के लेखन में जिन विद्वानों के ग्रन्थों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मुझे सहायता मिली उनके प्रति आभार प्रकट करना औपचारिकता मात्र नहीं है। साथ ही जिन विद्वानों के सुझाव से मैंने इस प्रबन्ध में कुछ परिवर्तन किए हैं वे भी धन्यवाद के अधिकारी हैं ही। अन्त में, नटराज पब्लिशिंग हाउस बन्धुओं के प्रति, मैं इस ग्रन्थ को सफलतापूर्वक प्रकाशित करने के लिए हृदयतः आभार प्रकट करता हूँ।

—डॉ० रमाकान्त शर्मा आंगिरस
प्रवक्ता, संस्कृत विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय (चण्डीगढ़)
ई० —१/१०४, श्री सदन,
सैक्टर—१४, चण्डीगढ़।

दिनांक : १२ अगस्त, १९८२
(श्रीकृष्ण–जन्माष्टमी,
विक्रमी संवत्, २०३९)

अनुक्रमणिका

अहैतुकीं यत्कृपां भवन्तः दीनेषु भक्तेषु सदा वितन्वते ।
तामेव याचे व्यथया विपन्नः स्वाज्ञानसिन्धौ परितः निमग्नः ॥१॥

धर्मो ह्यगाधः ज्ञानं रहस्यं विद्या हि सर्वा गुरु मात्र गभ्याः ।
असाधनोऽहं न वेद्मि मार्गं प्रभो त्वमेव त्वमेव शरणम् ॥२॥

या विश्वरचनैकक्षमा स्वलीलया
बीजञ्च निखिलस्य चराचरस्य
वियुक्त चित्तत्व नियोजनक्षमा
अहमात्मिका त्वं परमेशशक्तिः ॥३॥

यया बद्धं जगत्सर्वं परिभ्रमति चक्रवत् ।
वन्दे तां विष्णु चक्राख्यां शक्तिं सत्तत्वज्ञापिकाम् ॥४॥

या नारी बन्धरूपेण पुरा दृष्टा मुमुक्षुभिः ।
साधिका सा मया दृष्टा सृष्टिसारप्रकाशिका ॥५॥

स्नातुं वेदान्तगंगायां दूरादहमुपागतः ।
घूर्णनं वादवीचीनां मया दृष्टं भयावहम् ॥६॥

तथापि कूर्दितं तस्यां चिन्तयित्वैव तत्फलम् ।
कदाचित्पावनी गङ्गा प्रापयेन्मां सुधाम्बुधिम् ॥७॥

उद्घाटितानि श्रुतिशुक्तिशतनि तर्कै
रुद्भासितानि चिन्मुक्तिफलानि वित्त्या
सदसद्विवेचन क्षमैः मधुरैश्च लापैः
संल्लोभयन्गुणिजनाङ्खलु श्रेष्ठी शंकरः ॥८॥

भाषाप्रदेशबन्धान्परिहृत्य दूरम्
द्वैतान्धध्वंसनक्षमैः सुधिभिर्हि सद्भि
स्तृष्णाज्वरेणदग्धास्तृषिताश्चजीवा
अद्वैतशीतल जलैः सुतरां सुषिक्ताः ॥९॥

पदे पदे स्खलन्तं मां शिक्षितं यैः पदक्रमम् ।
जयन्ति धर्मनिष्ठास्ते श्रीमन्तो विष्णुशास्त्रिणः ॥१०॥

परमतत्त्व प्रकाशाय नायं मम परिश्रमः ।
प्रोञ्छनं बुद्धिसत्त्वस्य स्वाज्ञानज्ञानज्ञापनम् ॥११॥

१

अद्वैतवेदान्त में ब्रह्मदृष्टि

आज के युग में प्रायः प्रत्येक व्यक्ति एक विचित्र रहस्यात्मकता का शिकार होता जा रहा है। यह रहस्यात्मकता आत्मसाक्षात्कार की अपेक्षा उसे आत्म-गोपन की ओर प्रवृत्त करके उसके बौद्धिक अहम् से निकल निकलकर उसके व्यक्तित्व के चारों तरफ आवरक द्रव्य जमाती चली जा रही है। इस आवरण के भीतर रहते रहते वह अपने भीतर के गुरु और शिष्य दोनों की हत्या करता जा रहा है। इस हत्या को छिपाने के प्रयास में ही उसे अपनी चेतना के सम्मुख कई आवरणों की जाने अनजाने रचना करनी पड़ती है। और फिर व्यावहारिक बुद्धि को अपना वकील नियुक्त करना पड़ता है।

यह बात प्रायः हम सभी आस्तिकों एवं नास्तिकों में समान रूप से पा रहे हैं कि वे दोनों ही मतपरिवर्तन से बहुत डरते हैं। दोनों ही स्वयम् को चिन्तन को सौंपने की बजाए चिन्तन का ही मनमाना एवं विकृत उपयोग करने में कोई संकोच अनुभव नहीं करते। अपने-अपने विचार का मोह इतना प्रबल होता जा रहा है कि कोई भी अपनी इस सीमा से विद्रोह करने को तैयार नहीं। ऐसी स्थिति में सत्य के अवतरण की बात करना दक्षिण या वाम दोनों ही विचारकों को शोभा नहीं देता है। सत्य-प्राप्ति एवं लोक-कल्याण आदि शब्द दोनों के लिए ही आत्म-तुष्टि मात्र बनकर रह गए हैं। क्योंकि वास्तव में जब भी हम बिना परीक्षण की किसी विचारप्रणाली को स्वीकार करके किसी प्राचीन या अर्वाचीन विचार का स्तवन या निन्दन करते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति की चेतना का वह अंश जो प्रतिक्षण अपने में होने वाले परिवर्तन का स्वागत करने को तैयार है, और वह अंश जो प्रतिक्षण पहले को परिवर्तित करने की क्षमता रखता है दोनों ही अनावश्यक होकर व्यर्थ हो जाते हैं।

आत्मचिन्तन की प्रक्रिया में से होकर जाने वाले किसी भी जाति, देश या काल के लोग यह अनुभव करते आ रहे हैं कि मानव मात्र में किसी विषय या विचार की निन्दा या स्तुति करने की प्रवृत्ति का मूल विषय मानव-मन के

सम्पर्क से पैदा होने वाली फल की आसक्ति ही है। फल की इच्छा ही परिस्थिति-जन्य दशाओं में से होती हुई निन्दा और स्तुति के रूप में आयाम बदलती रहती है जिसका विश्व की विपरिवर्तमान सनातनता से कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहता। निन्दा और स्तुति दोनों ही जीवगत उपाधि की क्षुद्रता या तुच्छता पर आधारित हैं, विश्वरूपता पर नहीं।

अध्यात्मप्रणाली में प्रत्येक वस्तु, चेतन या अवचेतन, जिसकी भी सत्ता इस विश्व में है वह विश्वरूप ही है। द्रष्टा भी विश्वरूप है और दृश्य भी विश्वरूप ही है।[१] अतः विश्वरूपता के साक्षात्कार से होने वाला साधक का दर्शन या विचार भी विश्वरूप बन जाता है। अनादिकाल से अनन्त की ओर प्रवहमान इस विश्वप्रक्रिया की एक झलक मात्र से जिस आत्मदृष्टि या ब्रह्मदृष्टि का उन्मेष हो जाता है, उसके खुलते ही वैष्णवों को तो यह प्राप्ति होती है—"कि मैं ही हरि हूँ। और यह सब जगत् जनार्दन है। यह कार्यरूप या कारणरूप जगत् हरि से भिन्न नहीं हैं। ऐसा मनन जिस साधक का हो जाता है उसको भूतदृष्टि से या द्वन्द्व से होने वाले रोग नहीं होते।"[२] 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' के रूप में सारी विश्वप्रक्रिया विष्णुमय हो जाती है। शैवों का तीसरा नेत्र खुलकर जहाँ-जहाँ जाता है वहीं शिवत्व का साक्षात्कार करने लगता है। क्योंकि 'सर्वं शिवमयं यतः'।[३] शाक्तों[४], सूर्योपासकों[५] एवम् गाणपत्यों[६] की भी स्थिति इससे भिन्न नहीं।

वस्तुतः प्राचीन भारतीय साधनाओं में मूलतः दो ही दृष्टियों का उन्मेष हुआ है। एक को हम अणुदृष्टि कह सकते हैं तो दूसरी को विश्वदृष्टि। इन दोनों ही दृष्टियों का उल्लेख अद्वैत वेदान्त में है। उपनिषदों में प्रतिपादित प्रायः ११ के लगभग महावाक्यों में से दो महावाक्य बहुत ही महत्त्व के रहे हैं। प्रथम महावाक्य 'तत्त्वमसि'[७] उपदेश महावाक्य है। इस वाक्य के उपदेश द्वारा आचार्य शिष्य को 'तत्' यानी उस परम सत् के अनन्त विस्तार को त्वम् यानी शिष्य की जीवसत्ता की चरम सूक्ष्मता या सार में समझाने का प्रयास करता है। दूसरे अनुभव महा-वाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि'[८] के माध्यम से जिज्ञासु अपनी अस्मिता या 'अहम्' की चरम सूक्ष्मता में अनन्त विस्तार वाली ब्रह्मसत्ता को उलटकर देखता है, अनुभव करता है। फिर चरम सूक्ष्मता में अनन्त को जान लेने के बाद क्योंकि वाणी का पूर्ण मौन है अथवा परा में पर्यवसान है अतः वहाँ विश्वातीतता की स्थिति है। यही अणुदृष्टि है।

दूसरी दृष्टि को बोधित कराने वाले वेदान्त वाक्यों में 'अयमात्मा ब्रह्म'[९] और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'[१०] प्रमुख महावाक्य हैं। ये दोनों महावाक्य मानव-दृष्टि के उस पक्ष का उद्घाटन करते हैं जिसमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मतत्त्व अपने चरम अणुभाव में सिमटे मौन को त्याग कर अपने चरम विस्तार में मुखरित हो उठता है। यह उसका विश्वभाव है, विराट्भाव है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण

अर्जुन को इसी विश्वभाव की भूमिका पर लाकर खड़ा कर देते हैं। इस भूमिका में से तत्वज्ञानी को यह मानव आत्मा भी और यह सारा तथाकथित विश्वप्रपञ्च सभी बृहत् या महत् होकर स्फुरित होने लगता है।

इस प्रकार इन दोनों दृष्टियों को संकेतित करने वाले मन्त्र एवं व्याख्यान वेदों के मन्त्र भाग में, उपनिषद् भाग में, परवर्ती वेदान्त दर्शन में, तन्त्र एवं आगम आदि में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। क्योंकि ये दोनों दृष्टियाँ एक सिरे को दूसरे सिरे से जोड़े बगैर रह ही नहीं सकती अतः सब जगह इन दोनों दृष्टियों को ही साथ-साथ पाया जा सकता है। मूलतः दोनों एक ही हैं अतः दोनों ही दृष्टियाँ जिज्ञासु एवं साधक को फलासक्ति से परे कर देती हैं। क्योंकि फल क्षुद्र है। वह मनुष्यों को क्षुद्रता से बाँध देता है, निन्दा या स्तुति के भावों में बाँध लेता है। किन्तु इस फल की बजाए जीवन की प्रक्रिया अनन्त है। उस प्रक्रिया की उपासना मनुष्य को अनन्त से जोड़ देने की क्षमता रखती है। अतः गुण-दोष वाली फलदृष्टि से यह नितान्त भिन्न है। भारतीय जीवन से उत्पन्न कर्म, भक्ति एवं ज्ञान दृष्टियों के पीछे आधारभूत यही दृष्टि रही है। इसी के कारण कर्म के साथ नैष्काम्य, ज्ञान के साथ नैर्गुण्य और भक्ति के साथ अहैतुकता आदि जोड़ने वाले मनीषियों का यही भाव रहा कि प्रक्रिया की अनन्तता के साथ न तो कामना यानी फल का न ही गुण यानी अच्छाई या बुराई के भाव न ही हेतुकता यानी उद्देश्य या प्रयोजन का कोई सम्बन्ध हो सकता है। फिर भी उस सत् की प्रक्रिया में पुनरावृत्ति भी नहीं, निष्फलता भी नहीं, निर्गुणता और निरुद्देश्यता भी नहीं। वह जो भी है जैसी भी है जहाँ भी है, उसे अद्वैत वेदान्ती की भाषा में नमस्कार ही किया जा सकता है दिया लिया तो सम्भवतः कुछ भी नहीं जा सकता।

योऽसि सोऽसि नमोऽस्तुते ।।

सन्दर्भ

१. खवाय्वग्निजलोर्वीषु देवतिर्यङ्नरादिषु ।
अभिन्नास्सच्चिदानन्दाः भिद्यते रूपनामनी ।।
—दृग्दृश्यविवेक, श्लोक २१, रामकृष्ण आश्रम, मैसूर प्रकाशन, १९७६

२. "अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो नान्यत्ततः कारण कार्यजातम् ।
ईदृङ्मनो यस्य न तस्य भूयः भवोद्भवाः द्वन्द्व गदाः भवन्ति ।।"
—विष्णुपुराण, १-२२-८७

३. "यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ।।"

४. "अहं ब्रह्मस्वरूपिणी । मत्तः प्रकृति पुरुषात्मकं जगत् । शून्यं चाशून्यं च ।"
—देव्यथर्वशीर्ष

५. "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च । आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं ब्रह्म ।"
अर्थात् चराचर जगत् का आत्मा सूर्य है एवं यह आदित्य ही परिपूर्ण ब्रह्म है ।
—सूर्योपनिषद् ।

६. त्वत्तः सर्वः समुत्पन्नं त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
त्वय्येवेदं लयं याति त्वयि सर्वं प्रतीतिमत् ॥ —गणपत्युपनिषद् ।

७. दे० छान्दोग्योपनिषद्, ६-८-७

८. दे० बृहदारण्यकोपनिषद्, १-४-१०

९. माण्डूक्योपनिषद्, मन्त्र २

१०. दे० छान्दोग्योपनिषद्, ३-१४-१

२

अद्वैतवेदान्त में प्रस्थानत्रयी : एक समीक्षण

भारतीय दर्शन की यह एक अपनी विशिष्टता रही है कि वह प्रमुख रूप से पदार्थवादी होने की अपेक्षा ज्ञान के स्वरूप को समझने और आत्मसात् करने में व्यस्त रहा है। ज्ञानमीमांसापरक होने के कारण ही उसने अधिकाधिक अपने को वेद के साथ जोड़े रखा। वेद का अर्थ कोई विशिष्ट ग्रन्थ ही हो सकता है, इस प्रकार की कल्पना तो बहुत बाद की रही होगी। फिर इस प्रकार की कल्पना वेद को अनादि अपौरूषेय भी सिद्ध नहीं होने देगी। इसी से वेद शब्द का निर्वचन करते हुए एक आचार्य का यह कहना कि "ऋग् आदि वेद इसीलिए वेद कहलाते हैं क्योंकि वे उस ज्ञान की प्राप्ति के[1] लिए विचार करते हैं। किन्तु वेद के मूल अर्थ को खोजते हुए आचार्य शंकर ने विद् धातु के तीन रूपों और अर्थों की ओर संकेत किया है—सत्ता, ज्ञान और लाभ। इसी कारण परवर्ती दार्शनिकों एवं सूत्रकारों ने अपने-अपने प्रस्थानों में ज्ञानमीमांसा की ही प्रमुखतः विवेचना की है। पदार्थों की विवेचना को गौण ही रखा।

इसलिए प्रमाप्रधान या ज्ञानप्रधान भारतीय दर्शन के स्वरूप पर विचार करते हुए वैदिक एवं अवैदिक आचार्यों ने विचार की प्रयोजक या प्रवर्तक ज्ञान-प्रणाली को ही दर्शन कहा है। अथवा यथार्थ रूप में जिसके द्वारा पदार्थ जाना जा सके उस ज्ञान को ही दर्शन निश्चित किया। यह ज्ञान दो प्रकार का है। संवित् ज्ञान वह है जो बोध या awareness के रूप में सभी प्राणवान् जीवों में विराजित है। असामान्य ज्ञान वह है जो इन्द्रियों, मन एवं स्नायुतन्त्र की क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में उदित होता रहता है एवं अस्त होता रहता है। आत्माद्वैत में यही ज्ञान जब इन्द्रिय आदि साधनों की अड़चन के बगैर स्वयंसिद्ध आत्मसाक्षात्कार बन जाता है तभी ज्ञान कहा जाता है। जब इस साक्षात्कार के होने तक ज्ञान एक प्रणाली विशेष या प्रक्रियामात्र होता है तो वह विज्ञान[2] कहा जाता है अथवा प्रज्ञान। उपनिषदों में साध्य रूप में ज्ञान, सत्य और ब्रह्म एक ही बात है।[3] साधन रूप में वह विज्ञान है। कभी कभी साधन-साध्य की एकता को सामने रखकर 'प्रज्ञानं

ब्रह्म"[४] की घोषणा भी की गई है। ज्ञानवाचक वेद शब्द उपनिषदों में ऋषि, द्रष्टा या साक्षात्कृतधर्मा के रूप में परिणत होता हुआ स्पष्ट प्रतीत होता है। कठोपनिषद् के "तस्मिन्दृष्टे परावरे"[५] में ही मैं समझता हूँ, वेद का ज्ञान जो साक्षात्कार में पलटना चाहता था पूरी तरह पलट गया। फलतः दृष्टि शब्द या दर्शन शब्द का मूल उपरोक्त दोनों रूपों में श्रुति में है। ऋषि शब्द में द्रष्टा के धर्म पर बल आ रहा[६] था। बुद्ध ने फिर से जानने पर बल दिया था। आचार्य शंकर ने ज्ञान और दर्शन को पुनः एकीकृत करके समन्वित कर दिया।

अद्वैतवेदान्त में यह आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया ही जिज्ञासु को उन्नीत करने के लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन के मार्ग से होती हुई प्रस्थानत्रयी की उद्‌भावना का मूल आधार है[७], यह बात हम आगे सिद्ध करेंगे। यहाँ तो केवल प्रस्थानत्रयी की वेदान्तियों की कल्पना के कुछ ऐतिहासिक एवं कुछ शास्त्रीय तथ्यों को ही हम ढूंढ रहे हैं।

न्यायसूत्र के वात्स्यायन भाष्य में प्रस्थान शब्द का प्रयोग वेदत्रयी, वार्ता दण्डनीति एवम् आन्वीक्षिकी विद्याओं के अपने अपने प्रस्थानों के सन्दर्भ में किया है। श्री गंगानाथ झा ने वहीं पर अपनी टिप्पणी में कहा है कि अनेक प्रकार से शैली भेद को अपनाते हुए एक ही विषय का अनूठे ढंग से प्रतिपादन ही प्रस्थान का काम है। इस प्रकार किसी भी तत्त्व चिन्तन को दूसरों तक ठीक से पहुँचाने के लिए सोच समझकर की हुई वैज्ञानिकी उपाय योजना ही प्रस्थान—योजना है।[८]

II

उपनिषदों में वेदान्त शब्द का एकवचन में भी प्रयोग हुआ है और बहुवचन में भी। मुण्डकोपनिषद् के "वेदांतविज्ञान सुनिश्चितार्थाः"[९] तथा श्वेताश्वर के "वेदान्ते परमं गुह्यम्"[१०] आदि वाक्यों में एकवचनान्त वेदान्त शब्द इस रहस्य को प्रकट करता है कि समस्त विज्ञानों के स्रोत वेद के चरमसार रूप होने के कारण वेद के शीर्ष भाग या अन्तिम भाग के रूप में प्रतिष्ठित उपनिषद् ही वेदान्त है। गौतम धर्मसूत्र में भी 'उपनिषदो वेदान्ताः' वाक्य में वेदान्त शब्द के बहुवचनान्त प्रयोग द्वारा भी केवल उपनिषदों को ही वेदान्त कहा गया है। किन्तु वेदान्त शब्द के अर्थविकास की प्रक्रिया का आरम्भ हो चुका था। आचार्य शंकर ने भी ब्रह्मसूत्र के समन्वयाधिकरण पर भाष्य लिखते हुए निष्कर्ष वाक्य में यही कहा कि "सभी वेदान्तों में जितने भी वाक्य हैं वे तात्पर्य की दृष्टि से[११] इसी एक अर्थ के प्रतिपादक होने से आपस में अन्वित हो जाते हैं।" ये बहुत से वेदान्त क्या थे इसका स्पष्ट उल्लेख इसके बाद वेदान्तसार में सदानन्द ने किया। वेदान्त की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा कि "वेदान्त के मानी उपनिषद् ही जिसमें प्रमाण रूप है तथा

उपनिषदों के ही उपकारक ब्रह्मसूत्र आदि भी वेदान्त है।"[१२] इस वाक्य में आदि पद से श्रीमद्भगवद्गीता को भी वेदान्ती लोग ग्रहण करते हैं।

आचार्य शंकर से पहले के अद्वैतवाद में किसी आचार्य ने इन तीनों उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं भगवद्गीता पर भाष्य लिखा या नहीं इसका पता नहीं चलता। आचार्य शंकर द्वारा इन तीनों पर भाष्य-रचना हो जाने के बाद इन तीनों के समुदाय का नाम भी प्रस्थानत्रयी हो गया तथा बाद के आचार्यों (वैष्णवों) ने भी इन पर भाष्य लिखे। यह प्रस्थानत्रयी ही वेदान्तियों का अभेद्य दुर्ग बन गया।

विभिन्न कोशों में प्रस्थान शब्द का अर्थ विजय-यात्रा, मार्ग एवं उपदेश साधन आदि कई अर्थ उपलब्ध होते हैं।[१३] किन्तु शंकरोत्तर वेदान्त में प्रस्थान शब्द का अर्थ मार्गवाचक, संप्रदाय या परम्परावाचक उपलब्ध होता है। जैसे कि कर्म के ज्ञान का साधन होने के बारे में अद्वैतवेदान्त के भामती प्रस्थान और विवरण प्रस्थान का आपसी मतभेद प्रसिद्ध ही है। किन्तु अद्वैतमत में विजिगीषु की विजययात्रा वाला अर्थ भी स्वीकृत रहने की सम्भावना का निषेध नहीं किया जा सकता। क्योंकि श्री शंकर ने देश में विभिन्न रूपों में फैले बौद्धाचारों को पहले पूरी तरह समझकर ही वैदिक धर्म के उद्धार का झण्डा उठाया होगा। शंकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' की उपाधि देने वाले उस काल के आचार्यों को अज्ञात नहीं था कि शंकर बौद्धों के तर्कशास्त्र से ही बौद्धों की जड़ काटने में सफल हुए। तभी तो यादव प्रकाश ने कटाक्ष करते हुए कहा कि "वेदान्तियों! तुम्हारे मत में जब इस जगत् का सभी कुछ ज्ञान-विज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय सभी कुछ अनृत है तो तुम और बौद्ध एक ही थैली के चट्टे-बट्टे नहीं तो क्या हो।"[१४]

परन्तु यह कटाक्ष कटाक्ष ही था तथ्य नहीं। क्योंकि आचार्य ने बौद्धों के शून्यवाद और अपने ब्रह्मवाद का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है "अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वाच्च"[१५] अर्थात् अद्वैतमत में हमारे द्वारा किया गया इस माया-प्रपञ्च का निषेध अन्ततः (सद्वस्तु) ब्रह्म में पर्यवसित होने वाला है जो सत्ता में असत् की परिणति है, अभाव व शून्य में वह समाने वाला नहीं।"[१६] क्योंकि वेदांतमत में सत् का कभी परिणाम नहीं होता और असत् कभी परिणत हुए बिना नहीं रहता।

भारतीय धर्म और दर्शन के पण्डितों को पता ही है कि भगवान् बुद्ध ने जिस काल में अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था वह वस्तुतः भारतीय राजाओं की राजनीतिक विजयों की महत्त्वाकांक्षा को धर्मविजय में परिवर्तित करने का ही एक महान् यत्न था। बुद्ध के निर्वाण के शीघ्र बाद बौद्धाचार्यों ने जिस प्रथम संगीति (सभा) का आयोजन किया था उसमें वेदव्यास द्वारा प्रवर्तित वैदिक सहित्य की मन्त्रसंहिता एवं ब्राह्मण भाग के वर्गीकरण की पद्धति का अनुसरण करते हुए ही त्रिपिटक साहित्य में व्याख्या सहित बुद्धवचनों को समाहृत करके सुत्तपिटक,

अभिधम्मपिटक एवं विनयपिटक नामों से व्यवस्थित किया गया। बुद्ध के प्रधान शिष्य आनन्द के सहयोग से बुद्ध के उपदेशों को आप्तवाक्यों के रूप में सुत्तपिटक में संग्रहीत किया गया। नापितकुल (नाई) में पैदा हुए उपालि की सहायता से बौद्धों की आचार संहिता को विनयपिटक में संकलित किया गया। बाद में सुत्तपिटक के दार्शनिक मन्तव्यों को विशद रूप से युक्तिवाक्यों से मण्डित करके अभिधम्मपिटक का ग्रथन किया गया। इस प्रकार बौद्धाचार्यों ने अपने मत की पुष्टि और दूसरे मतों को निरास करने के लिए तीन पिटकों की स्थापना करके बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्तन के काम को अग्रसर किया।

इस सारी चर्चा करने का हमारा अभिप्राय केवल इतना है कि आचार्य शंकर ने भी अपने सिद्धान्तबल का चक्रवर्तित्व स्थापित करने के लिए अपने पूर्ववर्ती बौद्धों के अनुसार आसेतु हिमालय धर्मयात्रा के लिए प्रस्थान किया तथा अपने समकालीन आस्तिक एवं नास्तिक विचार-पद्धतियों के साथ संघर्ष करने के लिए उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं भगवद्गीता के तत्त्वचिन्तन को समन्वित करके अद्वैत वेदान्तियों के लिए एक अभेद्य दुर्ग या कवच बना दिया। प्रस्थानत्रयी की कल्पना के मूल को ढूंढ़ने की यह ऐतिहासिक व्याख्या है।

अब हम ऐतिहासिक दृष्टि को निवृत्त करके प्रस्थानत्रय के मूल की दार्शनिकी योजना को भी देख लेते हैं। ऊपर हम इतना तो संकेत कर आए हैं कि प्रस्थानत्रय का विचार बौद्धों को अपनी पूर्ववर्ती वैदिक परम्परा से मिला था। वैदिककाल में ऋषियों की अग्रगामिनी मेधा ने यह निर्णय तो कर ही लिया था कि तर्काविष्ट बुद्धिमात्र से तत्त्वजिज्ञासा शान्त नहीं हो सकती।[१७] अतः संहिताकाल में ही ऋषियों ने एक समन्वयात्मक मधुदर्शन का आविष्कार कर लिया था। तभी उनके कण्ठ से ऐसे मन्त्र फूटे जिनमें मधुदर्शन की मुक्त घोषणा थी—"ऋत का आचरण करने वाले व्यक्ति के लिए हवाओं में मधु है। खारे समुद्रों में भी मधु है। वनस्पतियों में, ओषधियों में, रात्रि में, उषाकाल में, पार्थिव धूलियों में, दीप्त सूर्य में सर्वत्र मधु उपलभ्य है।"[१८] यह मधु आनन्द, रस, समन्वय, जीवन की गतिमयता एवं ब्रह्म साक्षात्कार का सारभूत तत्त्व था। यह वेदोक्त मधुतत्त्व ब्राह्मण एवं उपनिषत्काल में अपने तीन आयामों में व्यक्त हो उठता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में श्रवण, मनन और निदिध्यासन के माध्यम से भी यही तत्त्वदर्शन स्फुट होता है।[१९] श्रवण को श्रद्धा से, मनन को युक्तिवाद से तथा निदिध्यासन को वरण या ग्रहण आदि पदों से व्याख्यात किया जा सकता है। बृहदारण्यक के इस कथन में कि "आत्मा, अरे! देखने की चीज है। उसे श्रवण करना चाहिए फिर मनन फिर निदिध्यासन।"[२०] 'देखना' इस श्रुतिवाक्य में लक्ष्य पद है। शेष तीनों इस लक्ष्य को प्राप्त करने की विधि बताते हैं। बृहदारण्यक में ही इसी विधि को दूसरे ढंग से भी कहा गया है—"ब्रह्मवेत्ता को बालभाव में स्थित हो जाना चाहिए। बाल्य और

पाण्डित्य को जानकर वह मुनि हो जाता है।"[२१] कुछ लोग बाल्य शब्द से मनन विधि का और पाण्डित्य से श्रवण विधि एवं मुनि पद से निदिध्यासन का अध्याहार करते हैं। श्रवण से तात्पर्य यहाँ उपक्रम एवं उपसंहार आदि विषय के प्रकरणों को समझकर सभी वेदान्तवाक्यों का संकेत अद्वितीय ब्रह्म में लगाना, मनन विधि में सुने या पढ़े तथ्यों का युक्तियों द्वारा मन्थन करके श्रुत अर्थ के अनुकूल चिन्तन में प्रवेश करना होता है। निदिध्यासन पद से चैतन्य से भिन्न विजातीय विचारों के प्रवाह को बन्द करके चैतन्य या आत्मा के अनुकूल सजातीय विचारों की धारा को प्रवाहित करना होता है।[२२]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसी श्रुतिसूत्र में प्रस्थानत्रय की कल्पना के बीजों को ही बोद्ध या अबोद्ध आचार्यों ने उद्धृत किया है। अद्वैतवेदान्तियों ने तो इसी सूत्र को पल्लवित करके वेदान्त सिद्धान्तों की अभेद्य भित्ति की रचना की। अद्वैत वेदान्त की इस आत्म-साक्षात्कारिणी प्रक्रिया के साथ किसी ईश्वरवादी या अनीश्वरवादी का विरोध नहीं। क्योंकि यह विधि इतनी सहज एवं मनोवैज्ञानिक है कि जिसके अनुसार नास्तिक भी अपनी बुद्धि की बाहरी एवं भीतरी क्षमताओं तथा समस्त तर्कशक्ति का अपने ज्ञान में विनियोग कर सकता है। आम आदमी की भाषा में इसी प्रक्रिया को सुनना, गुनना और उस पर चलना कहा जाता है। किसी भी प्रामाणिक या सच्चे व्यक्ति की बात को सम्पूर्ण ईमानदारी और लगाव के साथ सुनना या पढ़ना है जिसका फल है श्रद्धा का उदय। इस श्रद्धा नामक मानसिक गुण का उदय ही पहले संसार में बंधे हुए व्यक्ति की चेतना को रूपान्तरित कर देता है। सुनी या पढ़ी हुई बातों की जब वह व्यक्ति अपने और विश्व के सन्दर्भ में समन्विति बैठाने लगता है तो उसकी भौतिक बौद्धिक चेतना रूपान्तरित हो उठती है। तन्त्र और योग में इसी को पहले हृदयकमल और फिर द्विदलकमल रूप आज्ञाचक्र का विकास कहा गया। निदिध्यासन में विकसित एवं रूपान्तरण की ओर आती हुई मानव चेतना को पूर्णता रूप फल लगता है। हृदय और बुद्धि की भौतिक एवं मानसिक सीमाओं का रूपान्तरण अनायास होकर सहस्रदलकमल जो अनन्तदल या विश्वतोमुखिता का प्रतीक है, उसके खुलते ही साधक मन, वचन, कर्म में सम या एकमय होकर सत्य को सिर्फ धारण करता है। मनोमय स्तर पर जो चैतन्य के विकास की प्रक्रिया उपनिषदों में वैज्ञानिक एवं आलंकारिक विधियों का मिश्रण कर कही गई थी। उसी के कारण आचार्य ने श्रवण से श्रुतिप्रस्थान का मनन से तर्कप्रस्थान यानी ब्रह्मसूत्र का एवं निदिध्यासन से स्मृति प्रस्थान या आचार प्रस्थान श्रीमद्‌भगवद् गीता का उद्‌भावन किया।

अपने प्रस्थानत्रय के भाष्य में आचार्य शंकर श्रीमद्‌भगवद् गीता को स्मृति का नाम देते हैं। गीता में श्रीकृष्ण भी अर्जुन को उपदेश देते हुए यही कहते हैं कि यह ब्रह्मविद्या कोई नवीन विद्या नहीं बल्कि परम्परा प्राप्त प्राचीन ज्ञान को ही

मैंने अपनी स्मृति में उतारा है।[२३] अर्थ यह है कि स्मरण, उपासन और निदिध्यासन जब शास्त्र के रूप में अवतरित होता है तो वही अन्य जिज्ञासु के लिए श्रवण का आधार बन जाता है जो संशयरहित एवं निर्विचिकित्स ज्ञान की ओर उसे अग्रसर करता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म, ज्ञान और उपासना का तेहरा मार्ग है वह भी लगभग इसी ओर संकेत करता है। अन्यथा तीनों का समन्वय सम्भव ही नहीं। ज्ञान और आचार के बीच की रिक्तता अन्यथा भर ही नहीं सकती।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि उपनिषद् ही अद्वैत वेदान्त की तीन प्रस्थान वाली कल्पना का मूल है। उपनिषदों में प्रतिपादित श्रवण, मनन और निदिध्यासन में से श्रवण को ही प्रमुख मानते हुए कई आचार्यों ने मनन और निदिध्यासन को श्रुतिरूप श्रवण का ब्रह्मदर्शन रूप फल होने से श्रवण को ही प्रमुख माना है।[२४] इस प्रकार मूलतः एक ही श्रुति रूप होते हुए भी व्यवहार में तीन रूपों वाली यह प्रस्थानत्रय की कल्पना है जिसमें श्रवण से श्रुति अर्थात् वेद एवं उपनिषद्, मनन से तर्क प्रस्थान रूप ब्रह्मसूत्र एवं निदिध्यासन से स्मृति प्रस्थान रूप श्रीमद्भगवद्गीता का आविर्भाव हुआ। इन तीनों विधियों को एक ही दिशा में प्रयोग की बात अद्वैत वेदान्त में एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट की जाती है। जैसे कि—

कोई व्यक्ति गांधार देश की ओर जाना चाहता था। जा रहा था। किन्तु रास्ते में लुटेरों ने उसकी आँखों पर पट्टी बाँध कर, उसका धन लूट कर किसी निर्जन वन में उसे छोड़ दिया। अब वह बीहड़ में भूला हुआ पथिक गांधार देश में कैसे पहुँचे। किसी सत्पुरुष के द्वारा दिए गए शाब्दिक निर्देश को सत्य मानकर अपरिचित रास्ते पर चल पड़ता है। फिर उसके निर्देशों की अपनी बुद्धि के अनुसार स्थान-स्थान पर संगति बैठाता हुआ अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है।

प्रस्तुत दृष्टान्त में सत्पुरुष का निर्देश श्रुति या श्रवण में, निर्देशों का अपनी बुद्धि से परीक्षण मनन प्रस्थान में एवं निरन्तर उसी ओर चलना निदिध्यासन में अन्तर्भूत हो जाएगा। इस प्रकार ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया में ये तीनों विधियाँ ही वैज्ञानिक एक दूसरे की अनुपूरक एवं फलप्रद मानी जाती हैं।

अद्वैत वेदान्त में आचार्य शंकर के प्रमुख शिष्यों ने प्रस्थानत्रयी की गहरी छानबीन करते करते दो अवान्तर प्रस्थान और खड़े कर दिए। आचार्य के शिष्य पद्मपाद के अनुयायियों ने विवरण प्रस्थान को और श्रीवाचस्पति मिश्र के अनुयायियों ने भामती प्रस्थान का आविष्कार किया। विवरण प्रस्थान के अनुसार ब्रह्मसाक्षात्कार 'तत्वमसि' आदि श्रुतिवाक्यों से होता है। भामती प्रस्थान में ब्रह्म-साक्षात्कार मनन और निदिध्यासन से सुसंस्कृत अन्तःकरण से होता है। किन्तु दो भी एक बात पर दोनों सहमत हैं कि जिस प्रकार रूप के प्रकाशन में सूर्य की प्रामाणिकता निःसन्दिग्ध है उसी प्रकार ब्रह्मानुभव कराने में वेद या श्रुतिप्रस्थान ही एकमात्र निरपेक्ष कारण है।[२५]

वस्तुतः शून्याद्वय या विज्ञानाद्वय के व्याख्याता एवं उपनिषद् की परम्परा के ही साक्षात्कर्ता महात्मा बुद्ध को उपरोक्त ज्ञानप्राप्ति की प्रक्रिया भी पूर्णतः प्रभावित कर चुकी थी। उनके शिष्यों ने सम्भवतः उनके जीते जी ही 'बुद्धं सरणं गस्सामि' में बुद्ध के वाक्यों को मूल श्रुतिप्रस्थान, 'संघं सरणं गस्सामि' वाक्य में मिलकर मनन करने की प्रक्रिया को युक्ति या तर्कप्रस्थान तथा 'धम्मं सरणं गस्सामि' वाक्य में ज्ञान-धारण रूप आचारप्रस्थान या स्मृतिप्रस्थान को अन्तिम प्रस्थान माना था। इस प्रकार प्रस्थानत्रय की कल्पना को इतने बल से खड़ा करने के पीछे आचार्यों का एक ही लक्ष्य दिखाई देता है कि जिज्ञासु को जहाँ से चलना है या प्रस्थान करना है वहीं पर पहुँच कर रुकना है। क्योंकि निर्वचन एवं अर्थ-विस्तार के अनुसार प्रस्थान का अर्थ चलना और रुकना दोनों ही इस प्रकार समन्वित हो जाते हैं। किसी भी बात को निरन्तर गतिशीलता में रहकर समझना और फिर उसी समझ में स्थित होना ही ज्ञान की पूर्ण परिणति, कृतार्थता या चरितार्थता है।

इस सारी योजना को देखकर ऐसा प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि ज्ञानप्राप्ति की जो योजना जिज्ञासु या विशिष्ट व्यक्ति के लिए उपकारक है वही योजना लोक, संघ या समुदाय परम्परा के लिए भी उपकारक है। अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में व्यष्टि कल्याण या समष्टि कल्याण के लिए किन्हीं नए-नए या भिन्न शास्त्रों या नियमों की आवश्यकता नहीं है। अपितु एक ही सूत्र में समस्त विरोधों को पिरो देना ही दर्शन का फल है। अन्यथा शास्त्र के अनावश्यक विस्तार से जिज्ञासु और लोक की मति में भ्रम एवं उलझनें बढ़ती हैं। मानसिक एवं स्नायविक रोगों को फैलाने की जिम्मेवारी अनावश्यक शास्त्र-विस्तार को ही जाती है। अतः ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया में ज्ञान का प्रसार और समेट साथ ही चलते हैं। तभी व्यक्ति और लोक के जीवन में स्वच्छता रहती है। इससे थोड़ा और बढ़कर विचार करें तो लगता है कि प्रस्थानयोजना के मूल में व्यक्ति और परम्परा, अतीत एवं अनागत, व्यष्टि एवं समष्टि के सामञ्जस्य को देश की दृष्टि से बिन्दु में एवं काल की दृष्टि से वर्तमान या क्षण में लाने का एकमात्र प्रयास है। इसी से आचार्य शंकर की दृष्टि जहाँ एक ओर व्यक्ति के मोक्ष की बात करती है वहाँ सम्प्रदाय या संघ के महत्त्व को या परम्परा के महत्त्व को पूर्ण सम्मान देती है।[२१] तन्त्र की प्रतीकात्मक शैली में यदि प्रस्थानत्रय की बात को कहें तो आचार्य ने अद्वैतानुभूति को बिन्दु के स्थान पर स्थापित कर प्रस्थानत्रय को उसी बिन्दु के विकासरूप त्रिकोण के रूप में व्याख्यात कर ऋषिपरम्परा में पहले से ही विद्यमान प्रस्थानत्रय की योजना का अपनी लेखनी से पुनरुद्धार किया है। और यह योजना दृष्टि-भेद होने पर भी सभी भारतीय दर्शनों एवं विद्याओं में निर्विवाद रूप से मान्य है इसका परीक्षण किया जा सकता है।

सन्दर्भ

१. ऋगादयो वेदास्तत्प्रतिपत्त्यर्थं विचारं कुर्वन्तीति वेदाख्यामवापुः विद विचारणे। विद सत्तायाम्। विद ज्ञाने। विद्लृलाभे। एतेषां धातूनां विषय वर्तन्ते यस्मात्ततो वेदाः। —सनत्सुजातीय, शांकर भाष्य, पृ० ८१-८२, गीता प्रेस, गोरखपुर प्रकाशन, सं० २०१७।
२. "मोक्षे धीर्ज्ञानं विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः" दे० अमरकोश, तथा दे० "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" बृहदारण्यक उपनिषद् ३-९-२८, वेदान्त में साक्षिचैतन्य और बुद्धिवृत्ति चैतन्य का यही भेद है। शंकर ने कहा है—"आत्मज्ञानं मनोवृत्तिमात्रम्। ब्रह्मभावश्च मोक्षः।" —छान्दोग्य भा० १-१-१
३. "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", —तैत्तिरीय उ० २-१
४. ऐतरेय आ० ५-३
५. मुण्डक उपनिषद् २-२-८
६. "ऋषिर्दर्शनात्", —निरुक्त २-११
७. "इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक् प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते।" "प्रस्थानभेदः प्रतिपाद्य विषय भेदः", —न्यायदर्शन, वात्स्यायन भाषा, पृ० २०, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९२५
८. "विद्याप्रकारज्ञापनार्थत्वात् ज्ञापनाख्यो व्यापारः", —वही।
९. ३-२-६
१०. ६-२२
११. "सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येण एतास्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि", —ब्रह्मसूत्रभाष्य १-१-४
१२. वेदान्तसार, पृ० ७, पीयूष प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६८
१३. संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे।
१४. वेदोऽनृतो बुद्धकृतागमोऽनृतः प्रामाण्यमेतस्य च तस्य चानृतम्।
बोद्धाऽनृतो बुद्धिफले तथानृते यूयं च बौद्धाश्च समानसंसदः॥
१५. ब्रह्मसूत्र भाष्य १-१-२ तथा दे० "न च निगडभंग इव अभावभूतो मोक्षः", बृहदारण्यक शां० भा० ४-४-४६, "मोक्षस्य भावरूपत्वात्", —तैत्तिरीय भाष्य १-१-१
१६. "सर्वात्मभावो मोक्ष इत्युक्तः" बृहदारण्यक शां० भा० ४-४-७ तथा देखिए "ब्रह्मभावश्च मोक्षः। अद्वैतज्ञानं मनोवृत्तिमात्रम्", —छान्दोग्य शां० भा० १-१-१
१७. "नैषा तर्केण मतिरापनेया" कठोपनिषद् १-२-९, "श्रुत्यैव सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्", —ब्रह्मसूत्र भा० १-१-२

१८. मधुव्वाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः··· —**यजुर्वेद** १३-२७

१९. **बृहदारण्यक उ०**, २-४-५

२०. "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः"

—**बृहदारण्यक उ०** ५-६-६

२१. "बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः"

— **बृहदारण्यक उ०**, पृ० ३३१, अद्वैत आश्रम प्रकाशन, कलकत्ता, १९७५

२२. "विजातीय देहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तु सजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम् ।।" —पृ० १०८, अद्वैत आश्रम प्रकाशन, कलकत्ता, १९७४

२३. **श्रीमद्भगवद् गीता**, अध्याय ४, श्लोक १, २, ३

२४. "यत्पुनरुक्तं श्रवणात्पराचीनयोर्मनननिदिध्यासनयोर्दर्शनाद् विधिविशेषत्वम्"··· —**ब्रह्मसूत्र शां० भा०** १-१-४

२५. वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये ।

२६. "ओं नमो ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृभ्यो वंशऋषिभ्यो नमो गुरुभ्यः"

—**बृहदारण्यक उ० भा०** ।

'न आत्मविदः कर्त्तव्यं लोकसंग्रहं मुक्त्वा' **गीताभाष्य** ३-३६ तथा दे० यैरिमे
गुरुभिः पूर्वं पदवाक्य प्रमाणतः ।
व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम् ।।

—**तैत्तिरीय उ० भाष्यारम्भ** ।



सन्दर्भ

१. ऋगादयो वेदास्तत्प्रतिपत्त्यर्थं विचारं कुर्वन्तीति वेदाख्यामवापुः विद विचारणे। विद सत्तायाम्। विद ज्ञाने। विद्लृलाभे। एतेषां धातूनां विषय वर्तन्ते यस्मात्ततो वेदाः। —**सनत्सुजातीय**, शांकर भाष्य, पृ० ८१-८२, गीता प्रेस, गोरखपुर प्रकाशन, सं० २०१७।

२. "मोक्षे धीर्ज्ञानं विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः" दे० **अमरकोश**, तथा दे० "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" **बृहदारण्यक उपनिषद्** ३-९-२८, वेदान्त में साक्षिचैतन्य और बुद्धिवृत्ति चैतन्य का यही भेद है। शंकर ने कहा है—"आत्मज्ञानं मनोवृत्तिमात्रम्। ब्रह्मभावश्च मोक्षः।" —**छान्दोग्य भा० १-१-१**

३. "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", —**तैत्तिरीय उ० २-१**

४. ऐतरेय आ० ५-३

५. मुण्डक उपनिषद् २-२-८

६. "ऋषिर्दर्शनात्", —**निरुक्त २-११**

७. "इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक् प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते।" "प्रस्थानभेदः प्रतिपाद्य विषय भेदः", —**न्यायदर्शन**, वात्स्यायन भाषा, पृ० २०, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९२५

८. "विद्याप्रकारज्ञापनार्थत्वात् ज्ञापनाख्यो व्यापारः", —वही।

९. ३-२-६

१०. ६-२२

११. "सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येण एतास्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि", —**ब्रह्मसूत्रभाष्य १-१-४**

१२. **वेदान्तसार**, पृ० ७, पीयूष प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६८

१३. **संस्कृत हिन्दी कोश**, वामन शिवराम आप्टे।

१४. वेदोऽनृतो बुद्धकृतागमोऽनृतः प्रामाण्यमेतस्य च तस्य चानृतम्।
बोद्धाऽनृतो बुद्धिफले तथानृते यूयं च बौद्धाश्च समानसंसदः॥

१५. **ब्रह्मसूत्र भाष्य** १-१-२ तथा दे० "न च निगडभंग इव अभावभूतो मोक्षः", **बृहदारण्यक** शां० भा० ४-४-४६, "मोक्षस्य भावरूपत्वात्", —**तैतिरीय भाष्य १-१-१**

१६. "सर्वात्मभावो मोक्ष इत्युक्तः" **बृहदारण्यक** शां० भा० ४-४-७ तथा देखिए "ब्रह्मभावश्च मोक्षः। अद्वैतज्ञानं मनोवृत्तिमात्रम्", —**छान्दोग्य** शां० भा० १-१-१

१७. "नैषा तर्केण मतिरापनेया" **कठोपनिषद्** १-२-९, "श्रुत्यैव सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्", —**ब्रह्मसूत्र भा० १-१-२**

१८. मधुव्वाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः··· —यजुर्वेद १३-२७

१९. बृहदारण्यक उ०, २-४-५

२०. "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः"

—बृहदारण्यक उ० ५-६-६

२१. "बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः"

— बृहदारण्यक उ०, पृ० ३३१, अद्वैत आश्रम प्रकाशन, कलकत्ता, १९७५

२२. "विजातीय देहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तु सजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम् ॥" —पृ० १०८, अद्वैत आश्रम प्रकाशन, कलकत्ता, १९७४

२३. श्रीमद्‌भगवद् गीता, अध्याय ४, श्लोक १, २, ३

२४. "यत्पुनरुक्तं श्रवणात्पराचीनयोर्मनननिदिध्यासनयोर्दर्शनाद् विधिविशेषत्वम्"··· —ब्रह्मसूत्र शां० भा० १-१-४

२५. वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये ।

२६. "ओं नमो ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृभ्यो वंशऋषिभ्यो नमो गुरुभ्यः"

—बृहदारण्यक उ० भा० ।

'न आत्मविदः कर्त्तव्यं लोकसंग्रहं मुक्त्वा' गीताभाष्य ३-३६ तथा दे० यैरिमे गुरुभिः पूर्वं पदवाक्य प्रमाणतः ।

व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥

—तैतिरीय उ० भाष्यारम्भ ।

२

अद्वैतदर्शन : एक सामान्य मीमांसा

भारतीय चिन्तन के अजस्र मंथन के परिणामस्वरूप अद्वैत-चिन्तन का जो निर्मल नवनीत तैरकर ऊपर आया तो सभी को एक सन्तोष की अनुभूति हुई। जिसको भी उस अमृतपिण्ड की प्राप्ति हुई उसके भाग्य को सभी ने सराहा। उसका कुल पवित्र हो गया। जननी धन्य हो गई। सारी धरती उसके पुण्यों से उस दिन पुण्यवती हो गई। उसकी यही मानवी चेतना अपार ज्ञानसमुद्र में सदा के लिए खो गई।[१] अद्वैतचिन्तन के प्रति श्रद्धा से इस प्रकार नतमस्तक होने वालों में सहस्राब्दियों से भारतीय मेधा रही है। क्योंकि उसने जान लिया था कि जहाँ से मनसहित समस्त इन्द्रियाँ लौट जाती हैं उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला निर्भय होकर विचरण करता है।[२] किन्तु इस चिन्तन के मूल्य को आधुनिक दृष्टि रखने वाले पाश्चात्यविचारकों ने भी आंका। पाल डायसन ने कहा था कि यह औपनिषद् अद्वैत चिन्तन भारत में तो अद्वितीय है ही किन्तु सम्भवतः सम्पूर्ण विश्व में ही अतुलनीय है।* पाश्चात्य विद्वानों में भी उपनिषदों के अद्वैत चिन्तन से प्रभावित एक विशेष वर्ग रहा है जिसमें से शोपेनहर, फ्रेडरिक-श्लेगेल, मेक्डानल, ऐल्डूज हक्सले गोल्ड-स्टुकर आदि ने इस चिन्तन के प्रति अपनी महनीय श्रद्धाँ-जलियाँ अर्पित की हैं।

अद्वैत शब्द के प्रयोग हमें बहुत प्राचीनकाल से मिलते हैं। किन्तु आचार्य शंकर ने जो स्वयं अद्वैतदर्शन के महान् व्याख्याता रहे हैं, उन्होंने अपने कितने ही पूर्ववर्ती अद्वैताचार्यों को अपने भाष्य के आरम्भ से पूर्व सादर स्मरण किया है।[३] उपनिषदों में तो स्पष्ट उल्लेख मिलता है "हे सौम्य आरम्भ में यह एकमात्र अद्वितीय सत् था।"[४] इसी प्रकार कई जगह द्वैत का निषेधकर के अद्वैत विचार के परमफल का इस प्रकार भी वर्णन किया गया है—"जब तक द्वैत रहता है तब तक एक दूसरे को देखता है, और जबकि सारे पदार्थ ही आत्मरूप हो जाते हैं तब कौन किसको देखता है।"[५]

उपनिषदों में कहे हुए इन कथनों में स्पष्ट झलकता है कि द्वैतमात्र का

चिन्तन में से निरास कर देना ही अद्वैत चिन्तन है। इसी तुरीय अवस्था में साधक शान्त शिव परमसत्ता को अद्वैत रूप में निष्प्रतिघ ज्ञानचक्षुओं से देख पाता है।[६]

अद्वैत पद के समानान्तर ही अद्वय शब्द का प्रयोग हमें अद्वैतवेदान्त में भी मिलता है[७] तथा बौद्धों के माध्यमिक आचार्यों एवं सिद्धों में भी मिलता है।[८] उन्होंने इस अद्वय शब्द को अपने शून्यवाद के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। ग्राह्य-ग्राहकभाव से रहित परमार्थ अद्वय को ही नागार्जुन चतुष्कोटि से निर्मुक्त प्रपंचातीत पद कहते हैं जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत के भान का लोप हो जाता है।[९] इसी दशा को बौद्ध चन्द्रकीर्ति ने अपने मध्यममार्ग की व्याख्या में 'भावाभावान्तद्वय-रहित दशा' कहा था।[१०]

इस प्रकार हमें अद्वैत शब्द के तुलनात्मक प्रयोग से प्रतीत होता है कि सृष्टि के मूल में छिपी किसी द्वैतहीन एकता या समता (जिसमें इकाई भी न हो) की खोज बहुत देर से भारतीय मनीषा को बेचैन किए थी। शंकर ने उस अद्वैत-जन्य साम्य को आत्मा के स्तर पर उपलब्ध किया था। किन्तु फिर भी शांकर आत्माद्वैत को समझने के लिए बौद्धों के शून्याद्वैत को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार किया ही जा सकता है। क्योंकि तुलनात्मक अध्ययन में कई बार ऐसा लगता है कि उपनिषद् जिसे अद्वैत या ब्रह्म कहते हैं, शैली-भेद से बौद्धों ने उसी को अद्वय या शून्यता के रूप में स्वीकृत किया है।

अद्वैत-वेदान्त के अनुसार यह अद्वैतानुभव एक ऐसी सान्द्र अनुभूति है जिस में बाहिर से कहीं कुछ नहीं आता-जाता, केवल मुमुक्षु द्वारा अपनी ही कल्पित सीमाओं में से बाहिर आकर स्वाराज्य में विचरण करना है। अतः यह अनुभूति संख्येय नहीं। 'एक' या 'दो' अथवा 'बहुत्व' में उसकी परिकल्पना ही नहीं हो सकती। परिपूर्णता उसे कहा जा सकता है। इस परिपूर्णता के अनुभव में ही साधक को समग्र विश्व परिपूर्णता से उत्पन्न होकर परिपूर्ण में ही स्थित होकर उसी में पर्यवसित होता दीख पड़ता है।[११] कबीर भी यही कहते हैं कि इस परिपूर्ण अद्वैता-नुभव के लिए उन्हें कहीं आना-जाना नहीं पड़ा, बल्कि विचार करते-करते स्वयं ही 'रामजलु' का स्रोत अन्दर से फूट पड़ा।[१२] इसलिए यह जो 'सत्तत्व' है यह जैसा है वैसा ही रहेगा। इसे परिभाषा या संख्या में नहीं बाँधना चाहिए।[१३] 'नेति-नेति' पदों के द्वारा सम्भवतः उस ओर कुछ संकेत दिया जा सके।[१४]

अद्वैत शब्द की व्याख्या करते हुए एक बात बड़ी स्पष्ट हो जाती है कि भारत में विभिन्न वादों एवं दार्शनिक दृष्टियों के अनुसार अद्वैतदर्शन के अनेक भेद यहाँ के दार्शनिक चिन्तन में प्रकट हुए हैं। शैवाद्वैत, शाक्ताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, अचिन्त्याद्वैत, विज्ञानाद्वैत, शब्दाद्वैत इन सभी अद्वैत मतों में प्रत्येक आचार्य ने यही सिद्ध किया है कि समस्त जगत्प्रपंच उनके अद्वैत की ही माया से विजृम्भित होते हैं। अतः माया की भी उनके अद्वैतदर्शन में अपने ढंग की यथेष्ट स्वीकृति है। किन्तु

इतना सब होने पर भी इतिहास के प्रवाह को पार करके शंकराचार्य का आत्माद्वैत या केवलाद्वैत ही समस्त अद्वैत मतों के प्रधान पद पर आसीन हुआ है। अब तो एक परम्परा सी ही बन गई है कि अद्वैतवाद शब्द का प्रयोग शांकर अद्वैतवाद के रूप में ही होता है। मायावाद और विवर्तवाद इसी के नामान्तर हैं जो सिद्धान्त प्रतिपादिका विशेष दार्शनिक शैली के परिणामस्वरूप प्रयुक्त हुए हैं, जिनकी सार्थकता की चर्चा यथास्थान हम करेंगे।

भ्रान्तियाँ

केवलाद्वैत के विषय में शंकर के परवर्ती वैष्णव आचार्यों ने शंकाएँ खड़ी करनी शुरू कर दी थीं। ब्रह्म की निर्गुणता से चिढ़कर उन्होंने केवलाद्वैत को बौद्ध शून्यवाद का पर्यायमात्र[१५] कहा था, तथा साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण कहीं-कहीं उसे प्रच्छन्न बौद्ध चिन्तन और असत् शास्त्र भी कहा।[१६] रामानुज ने कहा था[१७] कि यदि उपनिषद् प्रतिपादित ब्रह्म निर्गुण है तो इसका अभिप्राय होगा कि ब्रह्म में कुछ गुणों का अभाव है, किन्तु फिर भी उसमें कुछ गुण तो रहते हैं। इस प्रकार की युक्तियों द्वारा शांकर मत पर अनेक आक्षेप किए गए थे। किन्तु शंकर ने जैसे ऐसी निर्मूल शंकाओं की पहले कल्पना कर ली थी और कहा था[१८] कि सम्प्रदाय को न जानने वाला तार्किक शास्त्रज्ञ होते हुए भी उपेक्षणीय है। सम्प्रदायवित् न होना ही तत्त्व-दृष्टि के प्रति असहिष्णुता पैदा करता है। इसी असहिष्णुता के कारण भेदाभेदवादी तथा ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी भास्कर ने भी आक्षेप किए थे[१९] कि केवलाद्वैत बेसिर-पैर का महायानियों का मायावाद है।

यही बात शांकर वेदान्त के यूरोपीय अध्येताओं पर भी लागू होती है। इन अध्येताओं में मैक्समूलर, डॉ॰ अर्कहार्ट, गफ, थीबो के नाम प्रमुख हैं। इन सभी ने अपनी-अपनी दृष्टि से निष्कर्ष भी दिए हैं किन्तु निष्कर्षों को प्रतिष्ठित करने वाले तर्कों की दुर्बलता यही है कि उनका मूल इस दर्शन-विशेष के सम्प्रदाय-बोध या परिवेशबोध में नहीं है। मैक्समूलर ने अद्वैतवेदान्त को 'unflinching monism' यानी कठोर एकत्ववाद समझ लिया था[२०] और अर्कहार्ट ने उसे विज्ञानवादी सर्वेश्वरवाद या 'Idealistic Panthiesm'[२१] मान लिया था।

वस्तुतः जब हम मॉनिज्म या एकत्व को अद्वैत का यथार्थ शब्दानुवाद मान लेते हैं तब तो शांकर अद्वैत का सैद्धान्तिक विघटन ही हो जाता है। क्योंकि अद्वैत वेदान्त में एकत्व, बहुत्व या दृश्य प्रपंच का प्रश्न मूलभूत नहीं है। 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' की प्रसिद्ध उक्ति के आधार पर वस्तुतः ब्रह्म के 'एक' होने की बात कही जरूर जाती है किन्तु उपनिषदों और शंकर के भाष्य ग्रन्थों में अद्वैत शब्द की अत्यधिक आवृत्ति को देखते हुए ही हमें मूल सिद्धान्त का अनावरण करना चाहिए। वाचस्पतिमिश्र के इस वाक्य को "कि वेदान्त का उद्देश्य अभेद यानी एकत्व को

सिद्ध करना नहीं अपितु भेददृष्टि का निराकरण[२२] है" इस विषय में सामने रखना चाहिए। तब 'यहाँ कुछ भी नाना या अनेकता[२३] नहीं है' इस उक्ति का अर्थ करते हुए 'इह' का अर्थ यदि जगत् होगा तो अनर्थापत्ति हो जाएगी। 'इह' का अर्थ स्वयं शंकर ने कठोपनिषद् भाष्य में किया है—'इह ब्रह्मणि अनानाभूते' अर्थात् उस ब्रह्म में नानात्व की वर्जना है, न कि भेद की सत्ता का ही पूर्ण बहिष्कार। किन्तु 'एक' शब्द अपनी अर्थव्यंजना द्वारा क्योंकि 'अद्वितीय' या 'अद्वैत' शब्दों के सर्वाधिक समीप बैठता है इसी से भ्रम होता है। अतः 'एक' शब्द के प्रयोग को हमें अद्वैत की परिधि में बाँधकर समझना होगा। उपनिषदों में प्रयुक्त 'विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं'[२४] 'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्'[२५] 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः'[२६] आदि और अनेकों ऐसे ब्रह्मविषयक कथन हैं जो उसके एक होने की घोषणा करते हैं। भारतीय ईश्वरवादी आचार्यों ने ऐसे ही कथनों के आधार पर वेदान्त की सगुण ब्रह्मविषयक व्याख्या की। किन्तु शंकर 'एक' शब्द को ब्रह्म के नानात्व के निषेधकारी अर्थ में ही लेते हैं। क्योंकि संख्या चाहे 'एक' हो या 'बहुत' वे तो मित ही हैं। ब्रह्म अमित है। संख्यातीत है। उस अमित ब्रह्म से मित जगत् का सम्बन्ध ऐसा नहीं जैसा 'एक' का 'दो' से या दो वस्तुओं का एक से, बल्कि सम्बन्ध ही नहीं, तादात्म्य कहा जा सकता। "सम्बन्ध तो (पृथक्-स्थित) मित पदार्थों का ही होता है।"[२७] अतः वाङ्-मनस् से अगम्य उस तत्व को 'एक' या 'बहु' से ऊपर समझना चाहिए, जहाँ समस्त भेदों का लोप हो जाता है, जहाँ समस्त मनःकल्पित उपाधियाँ मन सहित खण्ड-खण्ड होकर गिर जाती हैं वहाँ द्वैत या बहुत्व का मूलबीज एकत्व भी कहाँ रहेगा। उसे एक कहना तो एक औपचारिक वेदान्त-मर्यादा है। शंकर स्वयं कहते हैं कि "परब्रह्म से भूतों की या प्राणादिक जगत् की उत्पत्ति को मानना एक वेदान्त की रूढ़ि है"[२८], दर्शन नहीं। "ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति या उसमें लय सब अर्थवाद-मात्र है।"[२९] वेदान्तवाक्य ब्रह्म को मूलतः जब अपरिणामी मानते हैं तो सिद्धान्ततः सृष्टि के स्थिति, उद्भव, लयरूप परिणाम उसके कैसे कहे जा सकते हैं। अतः ब्रह्म के साथ जगत् की अपृथक् तादात्म्यानुभूति ही अद्वैतपद का अर्थ स्वीकार्य हो सकता है। केवलाद्वैत के विशेष समर्थक ग्रन्थ योगवासिष्ठ में तो ब्रह्म और जगत् के इस त्रिकालाबाध्य अभेद को स्पष्ट करते हुए यहाँ तक मान लिया गया है कि द्रष्टा और दृश्य, विषय और विषयी अभिन्न हैं। दोनों ही चिन्मय हैं, क्योंकि समानाधिकरण्य होने पर ही दोनों में मिलन सम्भव है—'सजातीयः सजातीयेनेकतामुपगच्छति' अथवा ज्ञाता और ज्ञेय में ज्ञानरूप सम्बन्ध अद्वैत की ओर इंगित करता है।[३०] जिस प्रकार मिट्टी का बर्तन मिट्टी से रहित नहीं हो सकता इसी प्रकार सब कुछ चिन्मय होने के कारण 'चेत्य पदार्थ या ज्ञेय' भी चित् से रहित कैसे हो सकता है।[३१]

अतः शंकर का यह विचार प्रो० हिरियन्ना की दृष्टि में नितान्त उपयुक्त

है "कि अद्वैत की स्थापना के लिए सांख्य के प्रकृतिपरिणामवाद का खण्डन उतना आवश्यक नहीं जितना ब्रह्मपरिणामवाद का खण्डन।"[३२]

केवलाद्वैत में ब्रह्म को निरुपाधिक एवं निर्गुण माना गया है। किन्तु आचार्य शंकर जानते हैं कि ब्रह्म को निर्विशेष कह देने से मन्दबुद्धि लोग उसे शून्य ही न समझ बैठें।"[३३] अत: उसे निर्विशेष, निरुपाधिक, या अव्याख्येय कहने का अर्थ सिर्फ इतना है कि वह ब्रह्म सुगणब्रह्म की तरह हमारी किसी वैचारिक-प्रक्रिया का आविष्कार नहीं जिसे हमें पाना है, बल्कि साधक स्वत: जो भी है उसे स्वयं को जानना है। इसी से 'नेति' 'नेति' जैसे निषेधवचनों द्वारा परिमार्जित वेदान्तप्रसिद्ध 'महावाक्यों' जैसे विधिवाक्यों द्वारा ब्रह्मानुभूति के लिए प्रोत्साहन दिया गया है।[३४] इस प्रकार से जहाँ हम अद्वैतवाद को एकत्ववाद से पृथक् कर लेते हैं, वहाँ शून्यवाद से भी उसे अलग कर लेते हैं।

बौद्ध शून्यवादी अभेदवादी या अद्वयवादी होने पर भी सत्तामात्र का ही निषेध कर बैठते हैं। किन्तु शंकर नानात्मक जगत् की प्रातिभासिकता और मिथ्यात्व को स्वीकार करके भी सत्ता और चैतन्य की नित्यता का निषेध नहीं कर पाते। सर्वार्थसिद्धिकार के मत की चर्चा करते हुए प्रो० हिरियन्ना ने शून्यवाद और केवलाद्वैत के अन्तर की ओर संकेत किया है—"अद्वैती तो केवल भेद का निषेध करता है किन्तु माध्यमिक भेद के साथ विद्यमान (तत्त्वमात्र) का ही निषेध करता है।[३५] क्योंकि यदि माध्यमिक के अनुसार विचार (विज्ञान) का सापेक्ष में टिके रहना असम्भव है, तो शंकर के अनुसार उसका शून्य में टिके रहना भी उतना ही असम्भव है। उपनिषदों के शब्दों में अद्वैत केवल नाम और रूप का निषेध करता है, परन्तु उसका नहीं जो इनके वेश में दिखाई देता है।[३६] नाम-रूप उपाधि के लय हो जाने पर आत्मा का आत्मा से जो साक्षात्कार है वही अद्वैतानुभूति है वही भूमा है। जिसमें महान् सुख की उपलब्धि होती है"।[३७]

यह जो केवल ब्रह्मानुभूति है उसे शंकर सांख्य, शैव, पांचरात्र, जैन मीमांसक आदि मतों की उपलब्धियों से इसलिए श्रेष्ठ कहते हैं क्योंकि इसमें विशिष्टानुभूति अर्थात् सविकल्पक ज्ञानों से पृथक् अद्वितीय चैतन्यरूप होने से 'मैं ही केवल शिव हूँ' ऐसा प्रत्यक्ष बोध है।[३८] 'केवल-शिव या आत्मा' का बोध कहने में तात्पर्य यही है कि वह आत्मा प्रतिमानरहित है, उसका कोई उपमान नहीं।[३९] श्रुति का कथन है[४०] कि उस ब्रह्म या आत्मा का कोई न कार्य है न कारण, न उसके समान ही कुछ है न उससे कुछ अधिक कोई है।

इस विषय में केवलाद्वैत में प्रयुक्त होने वाले विवर्तवाद शब्द पर भी विचार कर लेना चाहिए। यह पहले कहा जा चुका है कि ब्रह्म से सृष्टि उत्पत्ति का क्रमिक सिद्धान्त दिखाना वेदान्त की एक रूढ़ि ही है तत्त्वदर्शन नहीं। तत्त्वदर्शन तो वेदान्त में केवल ब्रह्मानुभूति है। जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने वालों के

संतोष के लिए विवर्तवाद की कल्पना की गई है। विवर्त का अर्थ है "उपादान से विलक्षण अन्यथा-भाव विवर्त है"। इसे सदानन्द की परिभाषा के अनुसार यूँ व्याख्यात किया जा सकता है—कि अयथार्थ प्रतीति के कारण जब किसी पदार्थ में कुछ दूसरी ही वस्तु भासती है तो उसे विवर्त कहा जाता है। या यूँ कहिए कि अपने मूल अधिष्ठान से सर्वथा पृथक् सत्ता में आना ही विवर्त है।[४१] और अधिष्ठान के समान ही अपनी सत्ता को धारण किए रहना परिणाम है। ब्रह्म का परिणाम तो हो नहीं सकता अतः जगत् कहाँ से आया इसके उत्तर में जगत् को ब्रह्म का ही विवर्त कहा गया है। यहाँ यह भी ध्यान देना चाहिए कि ब्रह्मपरिणामवाद को केवलाद्वैत कभी नहीं मान सकता। वह तो उच्छास्त्र है। उसकी अपेक्षा सांख्यों के प्रकृतिपरिणामवाद को एक सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है। इसी से सम्भवतः संक्षेपशारीरकार ने प्रकृतिपरिणामवाद को विवर्तवाद की पृष्ठभूमि माना है।[४२]

अब हम निष्कर्ष के पास पहुँचते हुए कह सकते हैं कि विवर्त सिद्धान्त के अनुसार यह जगत् और कुछ नहीं केवल ब्रह्म का ही ब्रह्मभिन्न रूप में प्रतिभास है। मूलतः यह ब्रह्म ही है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' अतः स्वयं शंकर का यह कहना कि जिस प्रकार घटाकाश, करकाकाश आदि महाकाश से अभिन्न हैं, क्योंकि उसका (अपना प्रतिभास) रूप यथार्थबोध होने पर नष्ट हो जाता है, और वे सत्तारहित प्रमाणित हो जाते हैं उसी प्रकार यह भोक्तृभोग्यप्रपंच भी ब्रह्म से भिन्न नहीं।[४३] जिस प्रकार घट का कारण मृत्तिका है और माला का कारण सुवर्ण है, इसी प्रकार सर्वज्ञ, सर्वेश्वर परमात्मा ही जगत् की उत्पत्ति पालन और संहार करने में समर्थ है। एक मायावी जैसे माया से अयथार्थ वस्तुओं का सर्जन कर उन्हें अपनी इच्छानुसार समेट लेता है, वैसा ही कुछ यह ब्रह्म और माया का खेल है।[४४] कबीर कहते थे कि बाजीगर ने डुगडुगी बजाकर लोग इकट्ठे किए, फिर स्वयं ही उन खेलों को समेटकर वह चलता बना।[४५] वह तो वस्तुतः अपने में ही रमने वाला आत्माराम है। विषय-निरपेक्षता तो उसकी स्वयंसिद्ध है। मूर्त्त और अमूर्त्त सभी रूपों में[४६] वह है। उसमें जगत् की प्रतीति का होना ऐसा ही है जैसा कि रस्सी में सर्प का, और सीपी में चाँदी की भ्रान्ति या प्रतीति का। अर्थात् जो वस्तु जैसी नहीं है उसमें वैसी ही प्रतीति कर लेना ही अध्यास या भ्रान्ति है। इसी को आचार्य ने 'अतस्मिंस्तद्बुद्धि'[४७] कहा है। और इसी को अद्वैत वेदान्त में अध्यारोप-प्रक्रिया के अन्तर्गत रखा जाता है। ब्रह्म से 'जगत् का आविर्भाव' आदि क्रम को समझने के लिए इसी प्रक्रिया का उपयोग किया जाता है।

दूसरी 'अपवाद' की प्रक्रिया है। जिसमें अध्यारोप के बिल्कुल उलट ब्रह्म में आरोपित समस्त प्रपंच का निषेध कर दिया जाता है। ब्रह्म में कल्पित जगत् को मिथ्या बताकर उसे उसके अधिष्ठान ब्रह्म में ही मिला दिया जाता है।[४८] यही

'नेति नेति' की प्रक्रिया है । इन दोनों प्रक्रियाओं के प्रयोग से साधक जब समझने योग्य हो जाता है, तो गुरु उसे 'महावाक्यों' के चिन्तन का उपदेश करता है । जिन के चिन्तन से ब्रह्मात्मैक्यरूप परमसाध्य सिद्ध हो जाता है । इन 'महावाक्यों' के बोध के बिना साधक की अद्वैतानुभूति सम्पन्न ही नहीं हो सकती ।[४६]

ये ऋषियों द्वारा कहे हुए महावाक्य चरम आध्यात्मिक अनुभूति को अपने में छिपाए हुए हैं । इन श्रुतिवाक्यों की संख्या के विषय में यद्यपि विभिन्न मत रहे हैं तो भी इन चार को तो सभी ने स्वीकार किया है । इनमें 'तत्त्वमसि[५०] महा-वाक्य उपदेशवाक्य है । शेष 'प्रज्ञानं ब्रह्म'[५१] अयमात्मा ब्रह्म[५२] एवं अहंब्रह्मास्मि[५३] तीन अनुभववाक्य हैं । इन सभी वाक्यों का प्रयोजन जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करना है । पंचदशी में महावाक्य-प्रकरण में इन्हीं चारों पर विशेष विचार किया गया है । जीव, जो मूलतः ब्रह्म ही है उसे केवल अपनी अन्तःकरण रूपी संकल्प-विकल्पमयी उपाधि को इस ज्ञान द्वारा उतार फेंकना है । उसी का अपने मूल स्वरूप ब्रह्म से अभेदानुभव होना है ।

यह स्पष्ट है कि इस अभेदवृत्ति को ही दृढ़ करते-करते आत्मतत्ववेत्ता औपनिषद् ऋषियों की वाणी से सहसा फूट पड़ा होगा कि यह अमृतस्वरूप ब्रह्म ही सामने है । वही पीछे हैं, दाएँ-बाएँ नीचे-ऊपर सब ओर यह सम्पूर्ण विश्व वरिष्ठ ब्रह्म ही है ।[५४] इस प्रकार विभिन्न साधना-पद्धतियों द्वारा अभेद साधन का प्रयत्न यहाँ भारत में निरन्तर चलता रहा है । इस प्रश्न को शंकर से बहुत पहले हल कर लिया गया था कि ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत के ऊपर अद्वैतराज्य है जहाँ जानने और ज्ञान कराने का भी लेशमात्र कष्ट नहीं । उस मूल तत्त्व को जान लेने पर वह समस्त जो पहले अज्ञेय बना रहता है, स्वयं ही ज्ञेय हो जाता है ।[५५] उद्दालक ने श्वेतकेतु से यही कहा था कि हे सौम्य । एक लोहमणि (स्वर्ण) का बोध हो जाने पर समस्त स्वर्णों का बोध हो जाता है । विकार यानी गहनों की अनेकरूपता तो वाणी का विग्लापन है । सत्य तो स्वर्ण ही है ।[५६] ऐसा जान लेने पर जो अकाम या निष्काम अथवा आप्तकाम या आत्मकाम हो जाता है उसके प्राण कभी कहीं न आते हैं न जाते हैं । वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है ।[५७] यही वस्तुतः ऋषियों और सन्तों की तुरीय या तुर्यातीत दशा है, जहाँ प्रपंच का अत्यन्त अभाव है, तथा अद्वैत-तत्त्व का साक्षात् अनुभव है । सन्त सुन्दरदास ने उस दशा के बारे में कहा है कि वह 'अस्ति' और 'नास्ति' के बीच की दशा है ।[५८] उस अवर्णनीय के बारे में न कुछ कहना बनता है, न सुनना । क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की उसमें प्रवृत्ति न होने से केवल जो प्रमातामात्र सत्तत्त्व है वही पर है, अव्याख्येय है, गुह्य है ।[५९] अतः सन्त भी यही कहते हैं—

अस तूं तस तोहि कोई न जान,
लोग कहें सब आनहि आन ॥[६०]

अद्वैतवेदान्ती चाहे शांकर हों या सन्त वे इस बात को मानते हैं कि शब्द जाल विकल्प ही पैदा करते हैं।[६१] तत्त्व का निर्वचन नहीं कर सकते। अतः मुमुक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कबीर कहते हैं कि मौन ही उस परमतत्त्व का व्याख्यान है। बोलने से तो वह तत्त्व ही नष्ट हो जाता है।[६२] इस तरह सन्त भी बड़ी सफाई से ब्रह्माद्वैत की अनुभूति को स्पष्ट करते हुए ब्रह्म को उसके 'एक होने' या 'अनेक होने' के झगड़े से परे ही रखते हैं—

एक कहे तो है नहीं, दोय कहूं तो गारि
है जैसा तैसा रहे कहै कबीर विचारि।।

यह कथन श्रुति के उस कथन के नितान्त समीप है जिसमें यह कहा गया है कि जब पढ़ाई के द्वारा उस परमतत्त्व के पास पहुँचा जाता है, तो वह छिप जाता है। वह कालातीत न 'अब है', न 'कल' होगा, उस अद्भुत को भला कौन जानता है।[६३]

केवलाद्वैत की इस परिचर्चा में शंकर के दादागुरु गौड़पाद द्वारा लिखित माण्डूक्यकारिका जो कि माण्डूक्यउपनिषद् पर व्याख्या होते-होते स्वयं में स्वतन्त्र महीयसी रचना बन गई है, उसके अद्वैत प्रतिपादन की चर्चा अपरिहार्य मानता हूँ। यद्यपि शांकर वेदान्त का मूलबीज उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्म का त्रिभुज ही है, तो भी माण्डूक्यकारिका का स्थान उनके बीच में ही कहीं आना चाहिए। यह एक ऐसा अद्वैत ग्रन्थ है जो किसी प्रकार की अनुभूति की जटिल प्रक्रियाओं के पचड़े में न पड़कर तथा अभिव्यक्ति की जटिलताओं से मुक्त रहकर अपने सर्वोच्च दार्शनिक अनुभव को सरलता से व्यक्त करता है। इसके प्रथम 'आगमप्रकरण' में सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में कहा गया है कि आत्मकाम एवं आप्तकाम भगवान् का सृष्टि बनाने का कोई प्रयोजन नहीं। यह तो उनका स्वभाव है।[६४] वह प्रपंच परमार्थ-दर्शियों के लिए भिन्न रूप से कोई अर्थ नहीं रखता।

दूसरे 'वैतथ्यप्रकरण' में स्वप्न और जाग्रत के सभी पदार्थों को चित्त-परिकल्पित मानते हुए यह कहा गया है कि ब्रह्म अपनी माया से स्वयं ही कल्पना करता है और स्वयं ही जानता है। यही वेदान्त का निश्चित मत है।[६५] उनकी माया न सत् है, न असत् है, न सदसत् है। यहां तो केवल अपने स्वरूप का विस्मरण ही माया है। अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर साधक का अपना मन ही 'अमन' हो जाता है। द्वैत तो दिखाई ही नहीं पड़ता।[६६] इस स्थिति में योगी का चित्तनिरोध आग्रह या हठ से नहीं, बल्कि अपने से अलग कुछ भी न रहने से ग्राह्यमात्र का ही अभाव हो जाता है।[६७]

अद्वैत-प्रकरण में उन्होंने पहले अपने मत को निगम-सम्मत बताते हुए कहा है कि छान्दोग्य आदि उपनिषदों में यह जो मिट्टी और घड़े, आग और

चिंगारी, कनक और कुण्डल, आदि के अभेद समर्थक दृष्टान्त दिए हैं वे ब्रह्माद्वैत की सिद्धि के लिए हैं। यदि उनमें कुछ भी भेद हम मानेंगे तो सदा अजन्मा एवं सम परमतत्त्व परिणामी सिद्ध हो जाएगा।[६८] अतः हमें यह मान लेना चाहिए कि जो वस्तु है, उसका जन्म क्या होगा ? क्योंकि वह तो पहले ही है। और जो असत् है, वह तीन काल में हो ही नहीं सकती। अतः द्वैत का प्रश्न ही नहीं।[६९]

अलातशान्ति-प्रकरण में फिर स्पष्ट किया है—कि जैसे अलात (मसाल) को घुमाने पर जिस प्रकार गोल या लम्बी भिन्न आकृतियाँ बनती हैं, और घुमाना बन्द करने पर सब बन्द हो जाती[७०] हैं, इसी प्रकार यह नामरूपात्मक जगत् भी मन के स्पन्दन के कारण ही भिन्न गतियों एवं आकारों में प्रतीत होता है। अतः गौडपाद, इसी निष्कर्ष पर आते हैं—"न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।"[७१]

सम्भवतः परवर्ती वेदान्ताचार्यों की जटिल 'अध्यारोप' और 'अपवाद विधि' का यही ग्रन्थ सरल स्रोत रहा हो। और इस ग्रन्थ के अजातिवाद ने स्वयं शंकर की प्रतिमा को अधिकाधिक निखारने में सहयोग दिया हो।

केवलाद्वैत मत की मौलिकता

बहुत से विद्वान् ऐसा मानते हैं कि शांकर-मत पूर्णतः बौद्ध-चिन्तन का ऋणी है। सांख्यप्रवचनभाष्य की भूमिका में विज्ञानभिक्षु ने पद्मपुराण का एक उद्धरण दिया जिसमें शांकर-मत को पहले मायावादी और फिर असत् शास्त्र इसलिए कहा है क्योंकि वह प्रच्छन्न बौद्ध-चिन्तन हो है। भेदाभेदवादी भास्कर वैष्णव आचार्यों के इस प्रकार के आक्षेप हम पीछे पूर्वपक्ष के रूप में स्थापित कर चुके हैं।[७२] वहाँ हमने यह भी स्वीकार किया है कि अद्वैत-चिन्तन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के रूप में बौद्ध-चिन्तन को कोई विजातीय हौवा न समझकर उसे स्वीकार भी किया जा सकता है। तब हमें यह भी स्पष्ट होने लगेगा कि बौद्ध-चिन्तन के जो स्पष्ट-अस्पष्ट प्रभाव सन्तसाहित्य में विद्वानों ने देखे हैं, उन्हें केवलाद्वैत के परिप्रेक्ष्य में भी देखा जा सकता है।

प्रारम्भिक बौद्ध-मत के साहित्य की ओर देखें तो पता चलता है कि औपनिषद् अद्वैत-चिन्तन विरासत के रूप में बुद्ध के पास भी था, बुद्ध ने अपने गृहस्थ-जीवन में विधिवत् शास्त्राध्ययन किया था। उसके समय तक एक विरोध कर्मकाण्ड के प्रति उपनिषत्कालीन राजर्षियों में मुखर हो चुका था। बुद्ध स्वयं एक ऐसे ही क्षत्रिय थे जिन पर वैदिक ज्ञाननिष्ठा का प्रभाव रहा होगा। अतः पहले यह भी विचार लेना चाहिए कि क्या बौद्ध-चिन्तन मूलतः अपने आप में सर्वथा मौलिक है ? डॉ० राधाकृष्णन् रीज डेविड्स का कथन उद्धृत करते हुए कहते हैं कि "गौतम का जन्म व पालन-पोषण जीवनयापन एवं मृत्यु एक हिन्दू के

रूप में हुई। गौतम के अध्यात्मशास्त्र एवं अन्यान्य सिद्धान्तों में ऐसा अधिक कुछ भी नहीं है जो किसी न किसी कट्टर सनातन धर्म के ग्रन्थों में न मिल सके।"[७३] बुद्ध का यह स्वीकार करना कि उनके द्वारा अन्वेषित धर्म एक पुराना आर्यपथ है, की उक्ति के आधार पर रीज़ डेविड्स कहते हैं कि बौद्ध धर्म पुराने सनातन धर्म के ही वृत्त में पनपा और फूला।[७४] इस अन्वेषण से यह समझा जा सकता है कि बुद्ध अद्वैतचिन्तन की परम्परा में ऐसे ही आ बैठते हैं जैसे लुप्त गीताज्ञान का उद्धार करने वाले विवस्वान्, मनु एवं श्रीकृष्ण आदि पूर्व पुरुष।[७५] बुद्ध का निर्वाण-सिद्धान्त कितना उपनिषदों के समीप रहा है इसका निर्णय बुद्ध के उस कथन की, जिसमें बुद्ध निर्वाण की दशा की तुलना ऐसी आग से करते हैं, जिसका ईंधन समाप्त हो गया"[७६] श्वेताश्वतर के इस कथन के साथ तुलना करके करना चाहिए—"वह अमृत का परमसेतु है जो धूमरहित जल चुके ईंधन वाली आग की तरह है।"[७७] इस दिशा में डॉ० राधाकृष्णन् का यह कथन नितान्त संगत है कि "अपनी कल्पना के विकास के लिए बुद्ध को केवल उपनिषदों से, वैदिक-धर्म के बहुदेववाद एवं धर्म के साथ जो असंगत समझौते किए गए थे, उन्हें निकाल देने की आवश्यकता थी।[७८] इसके साथ ही वे कहते हैं कि हम साहस के साथ कल्पना कर सकते हैं कि प्राचीन बौद्ध-मत उपनिषदों के विचार की नये दृष्टिकोण से पुनरावृत्तिमात्र है।[७९] परिणामतः हम यह मान सकते हैं कि बुद्ध और शंकर दोनों ने उपनिषदों में से प्रभाव ग्रहण किए हैं। दोनों के लेने में अन्तर अपने-अपने युग की प्रवृत्तियों के कारण है। किन्तु परवर्ती बौद्ध-दर्शन में भी माध्यमिक शून्यवाद अपनी दार्शनिक जटिलताओं के कारण उपनिषदों के सहज स्फुरणशील अद्वैत चिन्तन से दूर होते-होते तर्क में ही अधिकाधिक उलझता चला गया। शून्यवाद किसी प्रकार भी शांकर वेदान्त पर हावी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यदि उस पर कुछ भी शून्यवाद का प्रभाव रहता तो बौद्ध पण्डित अपने खण्डन में कहीं न कहीं उसके बारे में संकेत करते, जबकि विख्यात बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह में स्पष्ट ही औपनिषद् मत का विरोधी मत के रूप में तो खण्डन किया ही था।[८०] ऐसे ही कुछ एक और तथ्य हैं, जो बौद्धों के शून्याद्वैत का और आत्माद्वैत के विरोधों को स्पष्ट करते हैं और आत्माद्वैत की अपनी मौलिकता को संकेतित करते हैं। उनमें से कुछ एक को लिया जा सकता है।

शांकर वेदान्त में ब्रह्म नित्य है, एक है, और विज्ञानरूप है, तथा सजातीय विजातीय एवं स्वगत भेदों से रहित है जबकि बौद्धों का विज्ञान क्षणिक, नाना, एवं सजातीय है।

दूसरे शंकर कहते हैं कि यद्यपि बौद्धों में आलय-विज्ञान वासनाओं का आश्रय स्थान मान लिया गया है, किन्तु क्षणिक होने से वह अनवस्था दोष से ग्रस्त होकर वासनाओं का अधिकरण नहीं हो सकता।[८१] तीसरे बौद्धमत में बुद्धि या

विज्ञान ही सब कुछ होने से बाह्यजगत् को बाह्यार्थ-सत्तारहित मान लिया गया था। किन्तु शंकर कहते हैं कि स्वप्नज्ञान जहाँ मिथ्या है वहाँ जागरित दशा का ज्ञान उपलब्धिमूलक होता है, स्मृतिमात्र नहीं। अतः ज्ञानी की मुक्ति होने पर भी बाह्यजगत् की सत्ता रहती ही है।[८२] चौथे शून्यवादी के मत में शून्य सत्, असत्, सदसत् एवं उभयात्मक भेदों से निर्मुक्त है,[८३] जबकि शांकर मत में ज्ञान सत्य एवं अनन्त है।[८४] इसी प्रकार के दोनों के पारस्परिक भेदों को देखते हुए कहा जा सकता है कि शंकर प्रच्छन्नबौद्ध नहीं थे। हाँ, यदि प्राचीन बौद्ध-चिन्तन और शांकर अद्वैत में कोई समानताएँ हैं तो वे इसलिए कि दोनों ही औपनिषद् ज्ञान के अपने-अपने ढंग से ऋणी हैं।

सन्तसाहित्य में इन दोनों के मूलगत प्रभाव कहीं मिश्रित होकर कहीं अलग-अलग रूप से कहीं सूफीमत के माध्यम से कहीं सिद्धों नाथों योगियों के वचनों के रूप में सन्तों के पास अद्वैतचिन्तन के रूप में आ गए हैं। किन्तु सन्त-साहित्य में केवलाद्वैती चिन्तन रीढ़ की जगह पर है। वस्तुतः बुद्ध के बाद आचार्य शंकर एक ऐसा व्यक्तित्व था जिसने अपनी समन्विति में भारत की सभी प्रमुख चिन्ताधाराओं को समेट कर जनमानस को प्रभावित किया था। यह कहना दुराग्रह होगा कि शंकर का अद्वैत-चिन्तन केवल मात्र पण्डितों तक सीमित था। क्योंकि वस्तुतः कोई भी महान् दर्शन अपने मूल रूप में अपने उस प्रदेश के लोगों की माँग पर ही उभरा करता है। लोग तो प्रभाव ग्रहण किया करते हैं, पूर्णदर्शन प्रणाली को नहीं। वैसे तो जनभाषा में उपदेश देने वाले सिद्धों नाथों की वाणियाँ भी लोगों के लिए काफी दुर्बोध्य थीं। उनकी 'सन्ध्या भाषा' के झुटपुटे में साधारण जिज्ञासु को कुछ नहीं सूझ पड़ता। पर लोग उनके तत्त्व चिन्तन से बहुत प्रभावित होते थे। इसलिए यह एक अलग बात है कि कई सन्तों को शांकर सिद्धान्तों का शास्त्रगत परिचय न हो, किन्तु मन्दिरों, धर्मस्थानों में पुराणों की कथाओं और साधु-संन्यासियों के प्रवचनों और परिचर्चाओं के द्वारा वेदान्तवार्ता से जन कृत-कृत्य होते थे। भगवद्गीता, रामायण, महाभारत से लेकर परवर्ती काल की रचनाओं जैसे अध्यात्मरामायण, श्रीमद्भागवत, गर्गसंहिता आदि ग्रन्थों की कथाओं को सुनना सुनाना तो यहाँ के जीवन की एक मुख्य चर्चा रही है। फिर आधे पढ़े-लिखे पण्डितों द्वारा ये चर्चाएँ और भी अधिक लोगों में होती रहीं होंगी।

आज भी तत्त्ववेत्ता ज्ञानियों को उच्चवर्ग के सुशिक्षित संस्कार-सम्पन्न श्रोता कहाँ मिल पाते हैं? अशिक्षित या अर्धशिक्षित मध्यवर्गीय एवं निम्नवर्गीय जनता में ही उन्हें सच्ची श्रद्धा और आस्था मिलती है, जहाँ वे अतिसरल ढंग से उपदेशों द्वारा अपना विरेचन करते हैं। इसके अतिरिक्त अधकचरे वेदान्ती तो आज भी एक मूर्तिकार की तरह अगढ़ पत्थरों में ही स्वयं को अभिव्यक्त करना

आसान समझते हैं। फिर अद्वैत-चिन्तन तो वैसे भी यहाँ के भारतीय की विरासत रही है। चाहे वह पढ़ा हो या अनपढ़। शंकर ने तो जिस पद्धति से व्यवहारतः समस्त साधनाओं में अविरोध पर बल देते हुए विचार द्वारा मुक्त होने की बात कही वह नाथों, योगियों में भी परिलक्षित होती है। सन्तों ने तो उसे सत्संग द्वारा ग्रहण किया ही है।

यह कहना एक दुराग्रह है कि शंकर की आध्यात्मिक क्रान्ति भारतीय जनजीवन से दूर ऊपर ही ऊपर कहीं आई और जनजीवन से सर्वथा असम्पृक्त रही। विचारने की बात है कि क्या बौद्धों, जैनों, कापालिकों, द्वैतवादियों, अनीश्वरवादियों के साथ अद्वैताचार्यों के शास्त्रार्थ बन्द कोठरियों में होते थे? खुले में नहीं? यह अलग बात है कि शांकर सम्प्रदाय ने अपने सम्प्रदाय की भाषा संस्कृत रखी हो, जैसे कि यह रूढ़िवादी महायानी बौद्धों एवं कतिपय जैनियों में भी रही। वस्तुतः शंकर की मौलिकता यही थी कि समकालीन परिस्थितियों में युगधारा के बहाव को पहचानकर परम्परागत चिन्तन को सिर्फ मोड़ देना, जिससे कि पथभ्रष्ट बौद्ध-चिन्तन पूरी तरह निर्वाण को प्राप्त हो जाता। हर ज्ञानी एवं क्रान्तद्रष्टा व्यक्ति की अपने युग के रोग की पहचान ही रोग का उपचार करने में समर्थ होती है। मार्क्सवादियों का पूज्य ग्रन्थ 'दास कैपिटल' जो जनता की क्रान्ति में विश्वास रखता है, आज अधिकांश मार्क्सवादियों के लिए ही दुर्बोध्य बन गया है, और अब क्या वह धीरे-धीरे एक ऐतिहासिक मूल्य की वस्तु नहीं बन रहा? किन्तु मार्क्सवादियों के लिए वह ग्रन्थ 'आउट आफ डेट' हो जाने पर भी प्रकाश-स्तम्भ का काम नहीं दे रहा? क्या उसके विचार अन्य माध्यमों से घटिया से घटिया कम्युनिस्ट तक आज नहीं जा रहे? कोई भी युगप्रवर्त्तक व्यक्तित्व शिव की भावना से प्रेरित होकर ही सत्योपलब्धि के लिए अपना समस्त जीवन अर्पित कर देता है। उसके सत्यान्वेषण का अमृत तो धीरे-धीरे शिष्यों प्रशिष्यों द्वारा जन-मानस में सींचा जाता है। बल्कि बहुधा तो उसके विरोधियों द्वारा ही खण्डन करने कराने में वह अधिकाधिक प्रचार पाता चला जाता है। कहा जा सकता है कि प्रथम अद्वैतवादी सन्तों में कबीर कुछ इसी प्रकार अपने काशीवास के दौरान अद्वैत चिन्तन से प्रभावित होते रहे, फिर अपने मनन चिन्तन के कारण वे शीर्षस्थ अद्वैत वेदान्तियों में जा बैठे। फिर उनके रामानन्द के शिष्य होने के नाते भी यह ध्वनित होता है कि रामानन्द के प्रगाढ़ अद्वैत ज्ञान का लाभ कबीर को हुआ होगा। भक्ति के आचार्य होते हुए भी रामानन्द अद्वैत के प्रकाण्ड पंडित थे। उनकी भक्ति भावना अद्वैतोपासना से निश्चय ही प्रभावित थी।[८५] उन्हीं का संकेत पाकर कबीर की आत्मसाधना और भी बलवती हुई। उन्हें ब्रह्मविचार करने में जो अलौकिक आनन्द आने लगा उसे उन्होंने खुलकर व्यक्त किया—

"जब थें आतम तत्त विचारा।
तब निर वैर भया सबहिन में काम क्रोध गहि डारा
व्यापक ब्रह्म सबनि में एके, को पंडित को जोगी।"[८६]

उपरोक्त अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्माद्वैत का सिद्धान्त अपनी मूल प्राणशक्ति के कारण अनवरत रूप से गंगा की तरह प्रवाहित होता रहा है, और हर युग में उसमें कुछ न कुछ संवर्धन भी होता रहा है। छोटे-मोटे नदियाँ, नाले आत्मसात् करने में उसकी मौलिकता पर आँच कभी नहीं आई। विधि-निषेध की संकीर्णता भी उसमें नहीं आ पाई। शंकर का स्वयं यह सिद्धान्त था—कि त्रिगुणातीत मार्ग पर चलने वाले को विधि-निषेध क्या बाँधेंगे।[८७] फिर जब विसर्जनशील ग्रहण ही जीवन है, अर्थात् चिन्तन में से अनुपादेय का विसर्जन और उपादेय की स्वीकृति ही एक सही रास्ता है तो प्रभाव स्वीकार करने में हिचकिचाहट न होनी चाहिए। सन्तों ने भी इसी पद्धति से संस्कृत वेदान्त से यथेष्ट और यथोचित प्रभाव ग्रहण किए। जिनमें से कुछ साफ प्रत्यक्ष हैं और कुछ परोक्ष। वैदिककाल से ही तत्त्व द्रष्टा ऋषियों की अद्वैत-चिन्तक परम्परा जो प्रवाहित होती हुई स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ एवं महर्षि रमण तक आई, कबीर, दादू, सुन्दर दास, रैदास, चरणदास, निश्चलदास, पलटू, यारी आदि सन्त उस शृंखला की महिमान्वित कड़ियाँ हैं। अतः हमें यह स्वीकार कर चलना होगा कि अद्वैत-वेदान्तियों ने लोकभाषा में स्वमत का बहुत प्रचार किया होगा। सम्प्रदाय की भाषा चाहे संस्कृत रही हो। इसी प्रचार के परिणामस्वरूप सन्तों का सारा सिद्धान्तपक्ष अर्थात् ब्रह्म, जगत्, माया, जीव, नैतिकता की धारणाएँ बहुत गहरे में कहीं प्रभावित हैं। रही बात दोनों के व्यवहारपक्ष के अन्तर की। उसमें अन्तर रहना कालगत है, स्वाभाविक है। फिर हमारा यह भी अभिप्राय नहीं कि सन्तों का अपना था ही कुछ नहीं। लेकिन जातिवाद का खण्डन, तर्कगौणता तथा अवतारवाद, मूर्तिपूजा, तीर्थ स्नान आदि का खण्डन देखकर हमें नहीं मान लेना चाहिए कि सन्तों का मूलचिन्तन अद्वैत-वेदान्तविरोधी था।

श्रुतिप्रमाणविरोधी या वेदवेदान्तविरोधी लोग स्वप्रयोजनसिद्धि के लिए सन्तों की उन उक्तियों का छलपूर्वक हरण कर लेते हैं जिनमें वेदवेदान्तविरोधी बात[८८] उसी प्रसंग में कही गई है जिसमें शंकराचार्य ने स्वयं 'चर्पट पंजरीस्तोत्रम्' में वैय्याकरणपण्डित, जटाधारी, योगी, मुण्डी सभी में अनात्मकपरक व्यवहार को देखकर उनके ज्ञान को व्यर्थ कहा है और केवल गोविन्द-भजन की ही बात कही है। वैसे हमें सन्तों की उन वाणियों पर भी निष्पक्ष विचार करना चाहिए जिनमें सन्तों ने ऐसे पाखण्डियों को फटकारते हुए कहा था—'वेद कतेब कहहु मत झूठे झूठा जो न विचारे।[८९]

यह ठीक है कि सन्तों के समय में वेदवेदान्त का पठन-पाठन काफी कठिन

हो चुका था। दूसरे सन्त भी अपनी परिस्थितियों के कारण इनके विधिवत् अध्ययन तक पहुँच नहीं सकते थे। जैसा कि सुन्दरदास वेदवेदान्त की दुरूहता का एक जगह उल्लेख करते हैं—

वेद बहुत विस्तार हैं नाना विधि के शब्द।
पढ़ते पार न पाइये जो बीते बहु अब्द ॥[६०]

किन्तु वेदों का आदर सन्तों ने बराबर किया है। ज्ञानमात्र का आदर करने वाले सन्त आत्मदर्शनपरक श्रुति के प्रति असहिष्णु कैसे हो सकते थे। सन्त सुन्दरदास वेदों शास्त्रों के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहते हैं—

वेदसार तत्वसार सिम्रित पुराणसार
ग्रन्थन को सार सोई हृदय माहि आन्यो है ॥[६१]

हिन्दी के इन निर्गुणया सन्तों ने बहुत जगह खुले शब्दों में वेदान्तशास्त्र के प्रति श्रद्धा भी दिखाई है। तथा अद्वैतवेदान्त की विशेष आभासवादी और प्रतिबिम्बवादी दृष्टियों का यथातथ ग्रहण किया है। प्रतिबिम्बवाद का शास्त्रीय और युक्तियुक्त रूप आप कबीर के इन पदों में देखिए—

साधो ब्रह्म अलख लखाया।
जब आप आप दरसाया।
बीज-मद्ध ज्यों बृच्छा दरसे, बृच्छा मद्धे छाया ॥
ज्यों नभमद्धे सुन्न देखिये, सुन्न अनन्त आकाशा।
निःअच्छर ते अच्छर तेसे, अच्छर छर बिस्तारा ॥
ज्यों रवि-मद्धे किरन देखिए, किरन मद्ध परकासा।
परमातम में जीव ब्रह्म इमि—जीव मद्ध तिमि स्वांसा ॥
× × ×
आप ही वृच्छ बीज अंकूरा, आप फूल फल छाया।
× × ×
आतम में परमातम दरसे परमातम में साई।
झाई में परछाई दरसे, लखै कबीरा साई ॥[६२]

ज्ञानियों के मुख से निकली जो वेदान्तवाणी गुरुओं के द्वारा सन्तों को प्राप्त हुई उसे उन्होंने अपने परमपुण्यों का फल माना। भीखा कहते हैं[६३] कि वस्तुतः वेदवेदान्त के अनुशीलन से ही साधक के रुचिवैचित्र्य की तृप्ति होकर उसमें मोक्ष की इच्छा का उदय होता है। अतः जीवन का निःश्रेयस् अद्वैतवेदान्त से ही प्राप्त होगा, यह सन्तों का दृढ़ निश्चय है।[६४] सन्त गुलाल तो सीधे ही कहते हैं[६५] कि

हमारा यह निर्गुणमत वेदान्त ही है। इसी के अध्यात्मतत्व को सन्त लोग ग्रहण करते हैं।

गीता अद्वैतवेदान्त का स्मृति प्रस्थान है। आचार्य शंकर ने इसी से उस पर भाष्य लिखा। किन्तु सन्त भी इसका अध्ययन जरूरी मानते हैं—

"क्षर अक्षर निः अक्षर तीनों गीता पढि सुनि इन को चीन्हों"[९६]

वस्तुतः सन्तों का अपने परिवेश में जितना भी जोर चला उन्होंने अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों को समझने में तो पूर्ण रुचि दिखाई ही थी किन्तु उसके पारिभाषिक 'तत्वमसि' जैसे महावाक्यों, रज्जुभुजंग एवं कनक-कुण्डल सरीखे दृष्टान्तों का प्रयोग किया तथा अद्वैत-तत्त्व के ज्ञाताओं को सादर स्मरण किया है—

"तत्वमसी इनके उपदेसाई उपनिषद् कहें संदेसा।
ई निसचय इन के बड़ भारी, वाहिक वरण करे अधिकारी।
परमतत का निज परमाना, सनकादिकनारद सुख माना।
जागबलिक और जनक संवादा, दत्तात्रेय वहे रस स्वादा।
वह रामबसिष्ट मिल गाई, वह कृष्ण ऊधो समुझाई।
वहे बातक जो जनक बुढाई देह धरे बीदेह कहाइ।"[९७]

ऐसे परमार्थ को प्रकटित करने वाले अद्वैतदर्शन का कोई मूर्ख या अभागा ही निरादर कर सकता है।[९८] अन्यथा ऐसे सन्त जो गोपीनाथ कविराज के अनुसार 'सत्य स्वरूप' नित्य सिद्धवस्तु का साक्षात्कार कर चुके हैं, अथवा अपरोक्ष रूप से उपलब्ध कर चुके हैं और इस उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गए हैं वे तो चैतन्यस्वरूप[९९] है उनके मुख से तो सदैव वेदान्त का निर्झर बहता रहता है।[१००] कबीर[१०१], दादू[१०२], रैदास[१०३], दयाबाई[१०४], सुन्दर दास[१०५], जगजीवन[१०६] सभी सन्तों की वाणियों में अद्वैत-वेदान्त के प्रति निष्ठा स्फुट झलकती है। क्योंकि वस्तुतः शांकर वेदान्त ही सन्तों के सम्मुख ऐसा दर्शन था जो आत्मज्ञान के दायरे में शाब्दिक मोह के घेरे से निकलकर अधिकाधिक स्वानुभूति पर बल देता था। इस स्वानुभूति के तो सन्त दीवाने थे ही। आचार्य क्षितिमोहन सेन का सन्तों की वाणी के प्रति यह कहना "कि सन्तों की वाणियाँ जीवित मशाले हैं। इन दीपशिखाओं के जलाने वाले सन्तों को सामान्य जीवन की दिनचर्या के पवित्र क्षणों में जो आत्मानुभूति हुई वही सन्तसाहित्य कहा गया"[१०७] इस बात को प्रमाणित करता है कि सन्तों का भी आत्मानुभव के प्रति बहुत ही आदर था। यही कारण है कि सन्तों ने यद्यपि अन्य दर्शनों के प्रति 'छः दर्शन छानवे पाखण्डा' कहकर अरुचि दिखाई है, किन्तु अद्वैत-चिन्तन का समर्थन करते हैं—"सुन्दर द्वैत कछू मत जानहू, एक ही व्यापक वेद बतावैं।"[१०८]

सन्तों ने इन अद्वैतवेदान्त सम्बन्धी तथ्यों को स्पष्टतः गुरुमुख से जानने की ओर भी संकेत दिया है। वे कहते हैं कि सतगुरु ने तत्त्व के बारे में सोच-समझ कर मुझे उस रहस्य का निर्देश किया, फिर मैंने उस मूल तत्त्व को अपने अनुभव के आधार पर ग्रहण कर लिया।[१०९] किन्तु यह एक सन्तों की सीमा है कि वे परम-तत्त्व, माया, जीव, जगत् आदि के स्वरूप का वर्णन अपने अनुभव और अनुमान के आधार पर ही करते हैं। शास्त्रीय दार्शनिकता उनके काव्य में भले न हो, किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वे "उस (परमतत्त्व) की न तो कोई दार्शनिक व्याख्या करते हैं और न उसके स्पष्टीकरण में किसी तर्क का प्रयोग ही करते हैं।"[११०] कितने ऐसे प्रसंग हैं जिनमें उन्होंने कितनी ही गहन तर्क-पूर्ण दार्शनिक बातों का भी अपने अनुभूति-वर्णन में उपयोग किया है। यही उनका प्रभाव-ग्रहण है। वे वस्तुतः कोरे दार्शनिक न होकर आध्यात्मिक कवि अधिक थे जो सत्य का अनुभव हृदय में अधिक करते थे, जहाँ अद्वैतवाद के अनुसार ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान की 'त्रिपुटी' की एकता हो जाती है। एक सन्त अत्यन्त ही प्रौढ़ दार्शनिक शब्दावली में इसी तथ्य को यूँ कहता है—

ज्ञाता ज्ञेय अरु ज्ञान जो ध्याता, ध्येय अरु ध्यान।
द्रष्टा, दृश्य अरु दरश जो, त्रिपुटी शब्दाभान ॥[१११]

सन्दर्भ

१. "कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसच्चित् सुखसागरेऽस्मिंल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥"
—ईशावास्य उ०, भूमिका, पृ० ७ (गीता प्रेस)।

२. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति-कुतश्चन। —तैत्तिरीय उ० २-६-१

* "Philosophical conception unequalled in India, or perhaps anywhere else in the world."
—कल्याण (उपनिषद् अंक), पृ० ८६

३. यैरिमे गुरुभिः पूर्वं पदवाक्यप्रमाणतः।
व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥
—तैत्तिरीय उ०, शां० भा०, १-२

४. "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" —छान्दोग्य ६-२-१

५. दे० बृहदारण्यक उ० २-४-१४

६. "शान्तंशिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः"
—माण्डूक्य उ०, मन्त्र ७

७. दे० गौड़पादीय कारिका ४-८०, "विषयः स हि बुद्धानां तत् साम्यमजमद्वयम्" तथा दे० वराहोपनिषद् ३-८, "पूर्णमद्वयमखंडचेतनम्"।

८. "न द्वयं नाद्वयं शान्तं शिवं सर्वत्र संस्थितम्।"

—प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, पृ० ५

९. "न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्वं माध्यमिका विदुः॥

—माध्यमिक कारिका १-७

१०. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ५६३ (संस्करण ७, सन् १९६६)

११. "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते" —ईश० उ० १-१

१२. कबीर ग्रन्थावली, पद ४२, पृ० १०२ (काशी ना० प्र० स०)
"करत विचार मन ही मन उपजा, न कहीं गया न आया"।
तथा दे० आदि ग्रन्थ, राग गउडी, पद २४

१३. "जस कथिये तस होत नहीं, जस है जैसा सोई"।

—कबीर ग्रन्थावली, रमैणी ३, पृ० २३०

१४. कबीर ग्रन्थावली (सटीक, अशोक प्रकाशन), पृ० ६१६, रमैणी ४१

१५. "यत् शून्यवादिनः शून्यं तदेव ब्रह्म मायिनः"।

—वेदान्तसूत्र, अणु भाष्य, २-२-२९

१६. "मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेवच"।

—बलदेव उ० श्री शंकराचार्य, सन् १९६३, पृ० ३१८

१७. प्रो० हिरियन्ना, 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा', पृ० ३८४

१८. "असंप्रदायवित् सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवदुपेक्षणीयः"।

—कल्याण (उपनिषद्, अंक), पृ० ८१

१९. "विगीतं विच्छिन्नमूलं महायानिक बौद्धगाथितं मायावादं व्यावर्णयन्तो लोकान् व्यामोहयन्ति।" —ब्रह्मसूत्र, भास्कर भाष्य १-४-२५

२०. रामानन्द तिवारी, 'शंकराचार्य का आचारदर्शन', पृ० ११

२१. वही

२२. "अभेदोन साध्यते किन्तु भेदो व्यासिद्धयते वेदान्ते"। —वही

२३. "इह ब्रह्मणि अनानाभूते"। —कठ उ० शां० भा० २-१-१०

२४. श्वेताश्वतर उ०, अध्याय ३, श्लोक ७

२५. वही, अ० ४, श्लोक १

२६. वही, अ० ६, श्लोक ११

२७. "मितानां मितेनैव सम्बन्धः"। —ब्रह्मसूत्र शां० भा० ३-२-३१

२८. "परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा"।

—वही, १-१-२२

२९. ऐतरेय उ० शां० भा० २-१-१, 'सर्वोऽयमर्थवादः'।
३०. यो० वा० ६/२-२५-१४
३१. वही, ६/२-२५-१२, "बोधावबुद्धं यद् वस्तुबोध एव तदुच्यते। नाबोधं बुध्यते बोधो वैरूप्यात्तेन नान्यथा।" तथा ६/२-२५-११, "मृण्मयं तु यथा भाण्डं मृच्छून्यंनोपलभ्यते। चिन्मयादितया चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते।"
३२. 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा', पृ० ३३८
३३. छान्दोग्य उ० शां० भा० ८-१-१
३४. दे० संक्षेप शारीरक १-२५०-६, निषेध को विधान का ही एक सोपान माना है।
३५. 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा', पृ० ३७०
३६. वही
३७. "यत्रान्यत् पश्यति अन्यत् शृणोति अन्यद् विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तद-मृतमथयदल्पं तन्मर्त्यम्।" —छान्दोग्य उ०, ७-२४-१
३८. शंकराचार्य, दशश्लोकी, श्लोक ४
३९. "न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्यनाम महद्यशः"। —श्वेताश्वतर उ०, अ० ४, मन्त्र १९ पर दे० शां० भा०।
४०. "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च श्रूयते"। —वही, अ० ६, मन्त्र ८
४१. "स्वाभिन्नन्यूनसत्ताऽर्थो विवर्त इति कथ्यते" —सिद्धान्तलेशसंग्रह (अच्युत ग्रन्थमाला प्रकाशन), पृ० ५७-५८
"अतत्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः" —वेदान्तसार, पृ० ४७
४२. "विवर्तवादस्य हि पृष्ठभूमि वेदान्तवादे परिणामवादः"। —संक्षेपशारीरकम्, द्वि० अ०, श्लोक ६१
४३. ब्रह्मसूत्र, शां० भा०, २-१-१४
४४. वही, अध्याय २, उत्थानिका।
४५. "बाजीगर डंक बजाई। सम खलक तमासे आई॥
बाजीगर स्वांग सकेला। अपने रंग रवे, अकेला॥"
—आदिग्रन्थ, रागु सोरठि ४
४६. "मूर्तं चैवामूर्तं द्वे एव ब्रह्मणो रूपे"। —प्रबोध सुधाकर, श्लोक १६९
४७. दे० ब्रह्मसूत्र पर शंकर का अध्यासभाष्य।
४८. "अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पित वस्तुनः"। —सूतसंहिता, ४-२-८
४९. "विना महावाक्यमतो न कश्चित् पुमांसमद्वैतमवैतिजन्तुः"। —संक्षेप शारीरक, ३-३०३
५०. छान्दोग्य ६-७-८, 'वह तू ही है'।
५१. ऐतरेय उ० ५, 'प्रज्ञान अथवा विश्वचेतना ही ब्रह्म है'।

५२. माण्डूक्य उ० २, 'यह आत्मा ब्रह्म ही है'।
५४. बृहदारण्यक १-४-१०, 'मैं ही ब्रह्म हूँ'।
५४. मुण्डक उ० २-२-११
५५. छान्दोग्य ६-१-२, ३
५६. वही, ६-१-५
५७. बृहदारण्यक उ० ४-४-६
५८. "यह अत्यन्ताभाव है यह ही तुर्यातीत।
यह अनुभव साक्षात् है, यह निश्चय अद्वैत।।"
—राममूर्ति त्रिपाठी, रहस्यवाद, पृ० ३६
तथा मिलाइए—'नाहीं' 'नाहीं' कर कहे 'है' 'है' कहे बखानि।
'नाहीं' 'है' के मध्य में सो अनुभव कर जानि।।
—ज्ञानसमुद्र ४४
५९. "रहस्यं प्रमाणाद्यप्रवृत्ते : सर्वजनागोचरं प्रमातृमात्र सत्तत्वं परं तत्त्वम्"।
—तन्त्रालोक, जयरथी टीका, पृ० ९७
६०. संतकाव्य, पृ० १८९
६१. "शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमण कारणम्"।
—विवेकचूड़ामणि, श्लोक ६२
६२. "बोलना का कहिये रे भाई। बोलत बोलत तत्त्व नसाई"।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०९
६३. "न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभिसंचरेण्यमुताधीतं विनश्यति।।" —ऋग्वेद, १-१७०-१
६४. "देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा"।
—मां० कारिका, प्र० १, श्लोक ९
६५. वही, २-१२
६६. "मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलक्ष्यते"। —वही, २-३२
६७. वही, ३-१५
६८. वही, ४-४४
६९. वही, ४-४९
७०. "ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा"। —माडूक्यकारिका ४-४७, ४८
७१. कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता क्योंकि उसके उत्पन्न होने का कोई कारण ही नहीं है। —वही, ३-४८
७२. इसी अध्याय की टिप्पणियाँ १, २, ३, पृ० ४-५ पर।
७३. डॉ० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग-१, पृ० ३३२
७४. वही

७५. भगवद्गीता १-४
७६. दीघ निकाय २ : १५
७७. श्वेताश्वतर ४-१६
७८. डॉ० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग-१, पृ० ३३१
७९. वही
८०. तत्त्वसंग्रह, कारिका ३२८-३३१
८१. ब्रह्मसूत्र शां० भा० २-२-३१
८२. वही, २-२-२९
८३. माध्यमिककारिका १-७
८४. "सत्यंज्ञान मनन्तं ब्रह्म।"
८५. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत कबीर पृ० ९७, पर उद्धृत फर्कुहर का मत।
८६. सन्तकाव्य, पृ० १७६
८७. "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधि को निषेधः"।
८८. "वेद-कतेब छांडि देउ पांडे ई सब मन के भरमा।
कर्हाहि कबीर सुनहु हो पांडे ई तुम्हरे हैं करमा।।
—सन्तसुधासार, भाग-१, पृ० १०३
८९. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३२३
९०. सन्तसुधासार, भाग-१, पृ० ५८६
९१. सुन्दर विलास, पृ० १०
९२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० २३६
९३. "कहत हैं वेदवेदान्त संत पुनि गुरु कान मंह टेरा।
भीखा भाग विना नहीं देखत निकट ही दीप अंधेरा।"
तथा "वेदवेदान्त का अर्थ विचारहिं, बहु विधि रुचि उपजाई।"
—भीखासाहिब की वानी, पृ० ३
९४. वही, पृ० १८
९५. "निर्गुन मत सोई वेद को अंता, ब्रह्म सरूप अध्यातम संता।
जहंवा दुविधा मानव कोई अध्यातम वेदान्त मत सोई।।
यहि सिवाय कोई और बतावै। ताको सतगुर मन नहि आवै।।
—गुलालबानी, पृ० २१४
९६. डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, चरनदास की विचारधारा, पृ० २८१
९७. बीजक, रमैणी ८
९८. भीखासाहिब की वानी, पृ० १०
९९. सम्मेलन-पत्रिका, भाग-५१, संस्था १-२, पौष, ज्येष्ठ शक १८८८, पृ० १२१

१००. "वेदवेदान्त संत मुख भाखहि, धन्य जो नाम उपासी।"

—भीखासाहिब की वाणी, पृ० १०

१०१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५१
१०२. दादूबानी, भाग-१, पृ० ८५, ६४
१०३. सन्तबानीसंग्रह, भाग-२, पृ० १६६
१०४. दयाबाई की बानी, पृ० १२, १४
१०५. सन्तसुधासार, पृ० ५८०
१०६. सन्तवानीसग्रह, भाग-२, पृ० ६२
१०७. पृ० २६ की टि० ३
१०८. सुन्दरविलास, पृ० १२५
१०९. "सतगुर तत कह्यौ विचार, भूल गह्यो अनभैविस्तार।"

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २९

११०. परशुराम चतुर्वेदी का कथन, सन्तकाव्य, पृ० २९
१११. सन्तकाव्य, भूमिका, पृ० ५६



४

आत्माद्वैत और भारतीय चिन्तन : एक व्यापक प्रभाव

अद्वैत वेदान्त की व्यापक सौम्यता को लेकर एक संस्कृत का कथन है—

न यस्य केनापि समं विरोधः
समन्वितान्यन्य मतानि यस्मिन्
अद्वैतवेदान्त पथं प्रशस्तं
ज्ञानप्रधानं विवृणोमि किंचित् ।।*

अतः हिन्दीभाषी सन्तों के ऊपर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव परखने से पूर्व हमें समग्र तात्कालिक भारतीय चिन्तन पर अद्वैत के प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रभाव को समझ लेना होगा। जिन-जिन चिन्तन पद्धतियों के साथ सन्तों का सम्पर्क रहा है वे सभी किसी न किसी तरह अद्वैत के प्रभाव ग्रहण की स्वीकृतियाँ हैं। अतः प्रस्तुत अध्याय में यह विवेच्य है कि निगम अथवा आगम शब्दशास्त्र या स्मृतियाँ या पुराण, भारतीय अर्थनीति या राजनीति, तदतिरिक्त बौद्ध आदि वेद का अप्रामाण्य मानने वाले विचारक सभी अद्वैत से किस तरह बेहद प्रभावित थे। नाथपन्थी एवं सिद्धों की बहुत-सी वाणियाँ भी इस दिशा में हमारी आलोच्य हैं, जिनका सन्तों पर सीधा प्रभाव है।

सर्वप्रथम वेदों में हमें ऋषियों की ब्रह्मानुभूति के आह्लादजनक वर्णन मिलते हैं। ऋग्वेद के काफी प्राचीन सूक्तों में इस प्रकार के प्रमाण मिल सकते हैं। ऋग्वेदीय ऋषि वामदेव कहते हैं "मैं ही मनु हूँ, मैं प्रजापति हूँ, मैं प्राणिमात्र का निर्देशक सूर्य हूँ, मैं ही ब्राह्मण हूँ × × × मैं ही कवि उशना हूँ। अरे मनुष्यों! उस दिव्यता से सम्पन्न मैं पूर्ण ब्रह्म ही हूँ। तुम भी वही हो। अपने मूल को पहचानो।"[1] इसी प्रकार के कुछ वचन हमें आम्भृण ऋषि की पुत्री वाक् के मुंह से भी सुनने को मिलते हैं "मैं ब्रह्म हूँ, इस विश्व का कारण हूँ, मैं ही एकादश रुद्र हूँ × × × मैं ही ईश्वरी हूँ जो अपने भक्तों को वैभव सम्पन्न करती है।"[2]

इससे आगे हम देखते हैं कि कर्मकाण्ड के बढ़ते हुए प्रभावों के अतिरिक्त

हमारे कर्मठ ऋषि अभेद चिन्तन को नहीं भूल सके। यजुर्वेद के पुरुष सूक्त में "पुरुष (परमात्मा) को चराचर विश्वरूप, भूत भव्य तथा अमृतमय कहा है।"[३] शतरुद्रियपाठ में रुद्र का ब्रह्म के साथ अभेद स्थापित कर उसे चराचर विश्व में व्याप्त माना है। "वह कुत्ते के रूप में, वृक्ष के रूप में, चाण्डाल के रूप में, चोर के रूप में वन्दनीय है।"[४] इससे भी सुन्दर एक ब्रह्माद्वैत साधक वचन सामवेद में है। "जहाँ पुरुष को यज्ञ के कर्ता, होता, उद्गाता, अध्वर्यु, ब्रह्मा एवं यज्ञ सामग्री के रूप में एक ही कहा है।"[५] इस प्रकार के वैदिक कथन अद्वैत चिन्तन की अतिशय प्राचीनता के ही बोधक नहीं बल्कि इस बात के भी प्रमाण हैं कि अद्वैतचिन्तन भारतीय आत्मा का प्रथम एवं मूल स्वर है।

उपनिषदों में केवलाद्वैत

शांकर सम्प्रदाय में उपनिषदों को प्रस्थानत्रयी में से प्रमुख प्रस्थान माना जाता है। समस्त अद्वैत वेदान्त की दृढ़ आधारभूमि एकमात्र उपनिषद् है। आज हमें दो सौ बीस के लगभग विभिन्न उपनिषद् ग्रन्थों के नाम मिलते हैं जो अलग-अलग सम्प्रदायों के मान्य ग्रन्थ हैं। मुक्तिकोपनिषद् में श्लोक २४ से ३६ तक इनकी संख्या १०८ बताई गई है। वेदान्तों के मूल उपनिषद् अर्थात् बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कोषीतकि जो कि गद्यमूलक हैं अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन हैं। ईस्वी छः सौ वर्ष पूर्व रचित इन उपनिषदों का मूल बुद्धदर्शन पर भी प्रभाव रहा है।[६] ईश, कठ, केन, श्वेताश्वतर, मुण्डक प्रश्न, माण्डूक्य, मैत्रायणीय इनका काल अपेक्षाकृत बाद का स्वीकार किया जाता है। कहा जा सकता है कि इनमें शैली की दृष्टि से पहले के उपनिषदों में केवलाद्वैत बिखरे रूप में, और बाद के उपनिषदों में व्यवस्थित रूप में मिलता है। किन्तु हम तो यहाँ एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अवैदिक उपनिषदों में भी जो योग, तन्त्र एवं शैव, शाक्त, वैष्णव सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखते हैं उनमें हमारा प्रतिपाद्य पूर्णतः प्रतिपादित है। ब्रह्माद्वैत प्रतिपादन में उनका प्रयत्न हम स्थान-स्थान पर देख सकते हैं।[७] "वह यह आत्मा नेति नेति इस प्रकार से निर्दिष्ट सर्वथा अग्राह्य अशीर्य, असंग है।"[८] हे मैत्रेयी ! जहाँ सब कुछ आत्मा ही हो गया वहाँ किससे किसको देखें।[९] वह आत्मा जो हमारा ही रूप है उसे पा, 'अयमहमस्मिपरंब्रह्म' इस बोध से साधक संसारमुक्त तथा नित्यतृप्त हो जाता है।[१०] अत्यन्त प्राचीन उपनिषदों में हमें ऐसे कथन सरलता से मिलते हैं जिनमें द्वैत का सर्वथा निषेध किया है और द्वैत को भयमूलक कहा है।[११] क्योंकि सृष्टि-प्रपंच का समस्त विकार वाणी का विलासमात्र है। वह घटरूप विकार नहीं केवल मिट्टी ही है।[१२] इस प्रकार समस्त कार्यजगत् का मिथ्यात्व और ब्रह्म-कारणवाद का सत्यत्व उपनिषदों का अन्तिम ध्येय है। ऋषि तो इस समस्त विश्व को हर स्थिति में ब्रह्मरूप ही देखते हैं।[१३] द्वैतदृष्टि मिथ्या

है। इस द्वैतभान का कारण मिथ्याज्ञान है। इस मिथ्याज्ञान की निवृत्ति केवल आत्मा के प्रत्यक्ज्ञान से ही होगी। कर्म या उपासना ज्ञानसाधन के महत्त्वपूर्ण उपकरण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पहली या बाद की उपनिषदों का यही साध्य है कि ब्रह्म अद्वितीय है। उससे भिन्न यहाँ कुछ नहीं।[14]

वस्तुतः केवल आत्मा के स्वरूप-प्रतिपादन के अतिरिक्त उपनिषदों का मुख्य विषय और कुछ नहीं। ऋग्वेद में वर्णित पुरुष से लेकर आत्मा के स्वरूप-निरूपण तक एवं प्रजापति से लेकर विश्व के निर्विशेष कारणपर्यन्त प्रतिपादित समस्त विकास की अन्तिम मर्यादा उपनिषदों का आत्मा माना जा सकता है। वस्तुतः मानवीय चिन्तन के सम्पूर्ण इतिहास में ब्रह्म अथवा पूर्ण तत्त्व की विवेचना सर्वप्रथम उपनिषदों में ही हुई है ऐसा कहना असंगत न होगा। वैदिक उपनिषदों में इस ब्रह्माद्वैत का प्रतिपादन मुख्यतः दो रूपों में हुआ है। विध्यात्मक रूप में विभिन्न प्रतीकों द्वारा, अलंकारों द्वारा उसका स्वरूप-वर्णन हुआ है जिसमें उसके स्वरूप में समस्त विरोधों का परिहार किया गया है। "क्योंकि यह ब्रह्म स्थिर होते हुए भी दूरगामी है सोते हुए भी सर्वत्र जा सकता है।[15] वह विज्ञानस्वरूप है, आनन्दरूप है[16], अंगुष्ठ मात्र है।[17]" निषेधात्मक शैली के अन्तर्गत हम उन वाक्यों को ले सकते हैं जिनमें ब्रह्म को 'अशब्द', अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस अगन्धवत् कहा गया है। वह न अंतःप्रज्ञ है, न बहिःप्रज्ञ, न उभयतःप्रज्ञ, न प्रज्ञानघन, न अप्रज्ञ है। ऐसे ही वाक्य हैं जिनमें उस ब्रह्म का निषेधात्मक शैली में वर्णन करते-करते फिर विध्यात्मक शैली में उसका स्वरूप कह दिया गया है।[18] वैसे वह ब्रह्म स्वरूपतः अलक्षण है। क्योंकि उसका लिंग कोई नहीं। वह न स्त्री है, न पुरुष न नपुंसक।[19]

उपरोक्त उपनिषदों में केवलाद्वैतवादी ब्रह्म के स्वरूप कथन के साथ-साथ माया और अविद्या का भी यथावत् वर्णन मिलता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में तो स्पष्ट ही माया शब्द का उल्लेख है किन्तु दूसरे उपनिषदों में भी प्रतीकों संकेतों द्वारा माया और अविद्या के सिद्धान्त की ओर स्पष्ट निर्देश है। कहीं उसे असत् कहकर, कहीं नामरूपात्मक विकार और कहीं प्रपंच कहकर उसे सम्बोधित किया है। इसी से आचार्य शंकर ने मूलतः उपनिषदों को निवृत्तिमूलक मानकर उनकी व्याख्या की है। अतः वैराग्य भी उपनिषदों का प्रमुख पतिपाद्य है। कठ-उपनिषद् में तो स्पष्ट ही आवृत्त चक्षु ज्ञानी पुरुष को इन्द्रियों को बाह्य से लौटाकर अन्तर्मुख होकर आत्मदर्शन करने की सलाह दी है। फलतः हम इस निष्कर्ष की ओर अग्रसर हो सकते हैं कि केवलाद्वैत के समस्त सिद्धान्त व्यवस्थित एवं अव्यवस्थित दोनों रूपों में उपनिषदों में उपलभ्य हैं। कर्मकाण्डीय परम्पराओं की असारता के उद्‌घोष के साथ ही इनमें हृदय-प्रधान उपासनाओं की ओर ऋषियों का झुकाव हमारे सन्तों के लिए पूर्वप्रशस्त पथ ही है।[20]

अर्वाचीन उपनिषद्

अद्वैत वेदान्त की प्रमुख वैदिक उपनिषदों पर ही यद्यपि शंकराचार्य ने ब्रह्मवादी भाष्य लिखा, और दूसरी योग, भक्ति और रहस्यमूलक उपासना की विभिन्न साम्प्रदायिक उपनिषदों को उन्होंने छोड़ दिया, या उनमें से अधिकांश शंकर के परवर्ती उपनिषद् हैं, तो भी उममें अद्वैत-मार्ग का स्फुट प्रतिपादन कई जगह मिलेगा। यदि नाथों का योगसम्बन्धी उपनिषदों से और वैष्णवों का उपासनापरक उपनिषदों से घनिष्ठ सम्बन्ध है तो उन पर द्वैतवादी होने पर भी अद्वैत का प्रभाव सुनिश्चित है। इन अर्वाचीन उपनिषदों का उनके प्रतिपाद्य विषय और प्रयोजन के अनुसार वर्गीकरण किया जा सकता है। (१) केवलाद्वैत प्रतिपादक उपनिषद्, (२) योग के उपनिषद्, (३) वैष्णव उपनिषद्, (४) शैव उपनिषद्, (५) शाक्त उपनिषद्, (६) संन्यास सम्बन्धी उपनिषद्।[२१] यह विभाजन अधिक निर्दोष एवं व्यापक न होते हुए भी पर्याप्त उपयोगी कहा ही जा सकता है।

हम देखते हैं कि इन उपनिषदों के प्रणेता सम्प्रदायाचार्यों को अद्वैतानुभूति के मूल्य का पूर्ण बोध है। वे जानते हैं कि "जीवत्व और ईशत्व दोनों मेरी कल्पना में हैं। वस्तुतः मुझमें जीवत्व और ईश्वरत्व कल्पित हैं, वास्तविक नहीं। इस प्रकार जानने वाला प्रत्येक साधक मुक्त हो जाता है।"[२२] उन्हें यह भी पता है कि रज्जुभुजंगन्याय से माया के वास्तव अधिष्ठान मूल ब्रह्म का बोध हो जाने पर यह जगत् शून्यता में बदल जाता है।[२३] "यह तेजोमय प्रणवरूप बिन्दु ब्रह्मरूप है। वही निष्ठा है, परम मर्यादा है, और वही परम आश्रय है।" वह शून्य न होने पर भी शून्य के समान है। शून्य से परे स्थित है। वह न ध्यान है न ध्येय न ध्याता। वह सर्वस्वरूप भी है और शून्यस्वरूप भी।[२४] शुकरहस्योपनिषद् में अद्वैत वेदान्त के चारों महावाक्यों की पदविन्यासपूर्वक व्याख्या के साथ-साथ उनके जप की तान्त्रिक पद्धति को भी साथ ही दिया गया है और कहा है कि "जब तक मनोनाश नहीं होता तब तक जीव ब्रह्म ही है" इस वाक्यार्थ के रूप में 'तत्वमसि' में से 'असि' पद का चिन्तन करे। क्योंकि 'असि' पद जीव और ब्रह्म की एकता बता रहा है।[२५] श्री शंकर के सम्प्रदाय के आचार्य आज इन अवैदिक उपनिषद् ग्रन्थों को भी अत्यन्त सम्प्रदायानुकूल पाकर इन्हें भी वैदिक क्रम में रखने लगे हैं। जैसे—

ऋग्वेद के परवर्ती उपनिषदों में आत्मबोध, नादबिन्दु, सरस्वती रहस्य, आदि को मानते हैं। अध्यात्म, निरालम्ब, पैंगल, अद्वयतारक, मुक्तिक, शाठ्यायनीय उपनिषदों को शुक्लयजुर्वेद के अर्न्तगत मानते हैं। कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषदों में अक्षि, शुकरहस्य, सर्वसार, स्कन्द, योगशिखा, कठरुद्र, तेजोबिन्दु उपनिषदों को मानते हैं। मह, मैत्रेयी और दर्शन-उपनिषद् सामवेदीय हैं। अथर्ववेदीय उपनिषदों में अन्नपूर्णा, आत्म, त्रिपाद्विभूति महानारायण एवं नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषदों को गिना जाता है।[२६] इन सभी उपनिषदों में एक व्यवस्थित क्रम से हमें अद्वैत

चिन्तन का रास्ता मिलता है। इनमें ब्रह्म, जीव, जगत् माया, मोक्ष, सभी का थोड़े-थोड़े अन्तर से केवलाद्वैती ढंग का विवेचन है।

ब्रह्मसूत्र और अद्वैतदृष्टि

ब्रह्मसूत्र अद्वैतवेदान्त का तर्कप्रस्थान है। अद्वैतवेदान्त में उपनिषदों के, दीखने में विरोधी अनेक वाक्यों में अन्विति के अभाव से होने वाली असंगतियों को तर्क की कैंची से इस प्रस्थान द्वारा काटकर अद्वैत वेदान्त को आचार्य बादरायण द्वारा एक व्यवस्था दी गई थी। इस तथ्य का स्पष्टीकरण स्वयं भगवद्गीता भी करती है।[२७] इससे यह भी निश्चित हो जाता है कि ब्रह्मसूत्र की रचना गीता से पूर्व हो चुकी थी। इसी ब्रह्मसूत्र का दूसरा नाम भिक्षुसूत्र भी रहा जिसे पाणिनि की अष्टाध्यायी में देखकर आधुनिक अनुसन्धित्सुओं को भी इस रचना का पाणिनि से पूर्व (यानी ईसा पूर्व छठी शताब्दी) होना मानना पड़ता है।[२८] इस रचना के कारण ही वेदान्त चिन्तन भारतीय दर्शन के क्षेत्र में कितने ही मोड़ लेकर अनेक धाराओं में वह निकला। आचार्य शंकर द्वारा इस पर एक प्रामाणिक भाष्य लिख दिया जाने पर फिर तो द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, शुद्धाद्वैतवादी, अनेकों आचार्यों के इस पर भाष्य सामने आये। किन्तु आचार्य ने इस पर जो भाष्य किया वह स्वयं में अद्भुत कृति बन गई। और उसके इस भाष्य पर पद्मपादाचार्य की पंचपादिका-विवरण तथा वाचस्पति मिश्र की भामती बहुत ही प्रसिद्ध व्याख्याएँ बनी हैं। इन व्याख्याओं को लेकर अद्वैत वेदान्त के विवरणप्रस्थान और भामतीप्रस्थान नाम से स्वतन्त्र मत भी चल पड़े। ब्रह्मसूत्र की दार्शनिकों में इतनी प्रियता का कारण उसकी प्रौढ़ तर्क-शैली और एक सुव्यवस्थित चिन्तन था। इस ग्रन्थ के मूलतः चार अध्याय हैं। और प्रत्येक अध्याय चार पादों में बँटा हुआ है। आचार्य शंकर के अनुसार इस दर्शन का अभिप्राय इस प्रकार से दिया जा सकता है—

प्रथम समन्वयाध्याय में समस्त वेदान्तवाक्यों अर्थात् उपनिषद्वाक्यों[२९] का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आत्माभिन्नब्रह्म में तात्पर्य दिखाया गया है। ब्रह्म-जिज्ञासा के प्रयोजन से लेकर अद्वैत वेदान्त की श्रुतिमूलकता और समस्त श्रुतियों की अद्वैतवेदान्तपरता दिखाकर एक तर्क-संगत प्रतिपादन किया गया है। इस अध्याय में भी चतुःसूत्री का बहुत महत्त्व है।

दूसरे अविरोधाध्याय में अद्वैतवेदान्त विरोधी सांख्य आदि स्मृतियों और वैशेषिक, जैन, सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद, पांचरात्र, पाशुपत आदि दर्शनों के तर्क को खण्डित करके सच्चे वेदान्तमत की प्रतिष्ठा की गई है। इसमें युक्तियों की सूक्ष्मता द्रष्टव्य है।

तीसरे साधनाध्याय में अद्वैतवेदान्तसाधना के यज्ञ, जप, तप, व्रत आदि बहिरंग साधनों तथा शम, दम, निदिध्यासन आदि अंतरंग साधनों एवं अन्य

अध्यात्मज्ञानी के साधनों का वर्णन किया गया है।

चौथे फलाध्याय में भेदोपासना और अभेदोपासनाओं या प्रतीकोपासनाओं के फलों का विवेचन किया गया है। उसमें स्पष्ट सिद्ध किया गया है कि प्रतीकोपासक कभी भी ब्रह्मलोक में नहीं जाते। केवल अहंग्रह उपासना करने वाले ही ब्रह्मलोक के अधिकारी हैं।[३०]

भगवद्गीता और अद्वैत

भगवद्गीता अद्वैत वेदान्त का स्मृतिप्रस्थान है। यह भी कहा जा सकता है कि गीता वस्तुतः इस दर्शन का व्यवहारपक्ष है। अभेद-चिन्तन का अर्थ कोई निष्क्रियता, आलस्य, अथवा पलायन ही न कर ले, इस पक्ष की ओर गीता का शायद अधिक ध्यान गया है। आचार्य कहते हैं कि वेद ने एक ओर तो प्रवृत्ति-मूलक धर्म का प्रतिपादन किया है। दूसरी ओर ज्ञानवैराग्य रूप निवृत्ति लक्षण धर्म का परमनिश्रेयस् के रूप में विवेचन किया है। शंकर के अनुसार श्रीकृष्ण का अपना कोई प्रयोजन न रहने पर भी उन्होंने अर्जुन को भूतों पर दया के अधीन होकर इन दोनों प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप वैदिक धर्मों का उपदेश दिया।[३१] किन्तु गीतादर्शन के अनुसार इन दोनों मार्गों में से ज्येष्ठ कौन-सा मार्ग है? इसे समझना बड़ा कठिन है। पर यह निश्चित है कि गीता में सम्पूर्ण वेदार्थ का ही सार है।[३२] आचार्य गीता के सम्बन्ध में आगे कहते हैं कि जैसे श्रुति का परम-प्राप्तव्य मोक्ष और निकृष्ट-प्राप्य कर्मफल है ऐसे ही गीता का भी परमप्राप्य वही परमार्थ है।[३३] कर्मनिष्ठा का प्रयोजन केवल चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञानयोग्य भूमि तैयार करना है।[३४] यही गीता का प्रयोजन है।

किन्तु गीता के आदर्श स्थित-प्रज्ञ एवं जीवन्मुक्त का स्वरूप क्योंकि समस्त अद्वैत चिन्तन का एक मूर्त दिव्य आकार में ढला हुआ रूप है अतः गीता को वेदान्त की व्यवहारनिष्ठ नैतिक-मीमांसा कहा जा सकता है। वैसे गीता की अद्वैती व्यावहारिकता की बात उसके प्रत्येक अध्याय की पुष्पिकाओं से भी होती है जिनमें गीता को ब्रह्म-विद्यापरक योगशास्त्र कहा गया है। किन्तु सच्चे आचार के लिए जो शुद्ध नैतिक विवेचन अपेक्षित होता है, वह गीता को केवल वेदान्त से ही मिला होगा ऐसी भी विद्वानों की सम्भावना है।[३५] बाकी गीता में अधिकारी भेद से ही ज्ञान कर्म और मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है। अतः यदि हम निःश्रेयस् को भारतीय धर्मसाधना का परमध्येय स्वीकार करें तो गीता के अनुसार भी आत्म-दर्शनपरक तत्वबोध ही उसका प्रतिपाद्य सिद्ध होगा। गीता यह तो कहती है— "निर्गुण-साधना का मार्ग नितान्त कठिन है।"[३६] किन्तु फिर ज्ञानी की श्रेष्ठता को भी उसने खुलकर स्वीकार किया है।[३७] सम्भवतः गीता का ध्येय ही विभिन्न साधनाओं के समस्त विरोधों के बीच में से एक समन्वय-सूत्र खोजने की ओर था।

उसमें भक्ति आदि के मार्मिक रहस्य होते हुए भी उसकी जीव, जगत्, पुरुषोत्तम, प्रकृति की मान्यताओं को आचार्य ने अद्वैत वेदांत के परिप्रेक्ष्य में देखने का निश्चित अनुरोध किया है। क्योंकि गीता में इसके साथ ही हम अद्वैतचेतना के बहुत से स्फुट प्रभाव देखते हैं। जैसे सर्वसंकल्प-संन्यासी,[३८] सर्वभूतस्थमात्मानं,[३९] एकस्थं जगत् कृत्स्नं,[४०] माया की स्वीकृति,* वासुदेवः सर्वमिति,[४१] पण्डिताः समदर्शिनः[४२] आदि श्लोक-वाक्यों में एवं ब्राह्मी स्थिति के वर्णन में अद्वैतदर्शन ही स्पष्ट हुआ है।

इस प्रकार इन तीनों प्रस्थानों से सुसज्जित होकर अद्वैत वेदान्त अपनी पूर्ण वैज्ञानिक चिन्तनशीलता को प्राप्त हुआ है। इन तीनों पर आचार्य की परम आस्था रही है। सन्तों पर इस प्रस्थानत्रयी में से उपनिषद् और गीता की मान्यताओं का ही अधिकाधिक प्रभाव है। इन दोनों की सहज स्फुट चिन्तनशैली पर वस्तुतः विश्व के ज्ञानी मुग्ध हुए हैं। इसीलिए इन पर आधारित आचार्य शंकर के दर्शन की सरलता, पूर्णता, गम्भीरता को देखकर इलियट जैसे विद्वान् को भी मुक्तकंठ से प्रशंसा करनी पड़ी।[४३]

योगवासिष्ठ में अद्वैत

प्रस्तुत ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त की एक महान् कृति है। शांकर अद्वैत से भले ही इसमें प्रतिपादित 'जगत्कल्पनावाद'[४४] का भेद हो, पर मूलतः यह अपने ही ढंग से एक कथाबद्ध रीति में अद्वैत तत्त्व को उसके चरम रूप में प्रतिपादित करता है। माण्डूक्यकारिका के अजातवाद की तरह ही इसमें भी जगत् की उत्पत्ति न मानकर उसे चित्त की परिकल्पना ही माना गया है।[४५] इसके उत्पत्ति प्रकरण में भ्रांति या अध्यास का स्वरूप विवेचन[४६] तथा माया या अविद्या का वेदान्त-सम्मतरूप,[४७] बाजीगर के खेल की तरह जगत् का मिथ्यात्व,[४८] निर्वाण-प्रकरण में ब्रह्म की अखण्डरूपता एवं ज्ञान की श्रेष्ठता का प्रतिपादन तथा जीव ब्रह्मात्मैक्य एवं तत्त्व-ज्ञान से मोक्ष का वर्णन, ऐसे खुले तत्त्व हैं जो इसे अद्वैत वेदान्त की अति सफल कृति घोषित करने को हमें बाध्य करते हैं। अपने आगे आने वाले अध्यायों में हम योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों का बहुत जगह शांकर वेदान्त के परिप्रेक्ष्य में यथोचित प्रयोग करेंगे।

धर्मशास्त्रों में ब्रह्माद्वैत

वेदोक्त धर्म का युगानुकूल प्रतिपादन करने वाले धर्माचार्यों द्वारा स्मृति-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। प्रायः ये स्मृतियाँ संख्या में २८ के लगभग कही जाती हैं। किन्तु इन सभी धर्मप्रतिपादक ग्रन्थों में से हिन्दु समाज में मनुस्मृति और याज्ञ-वल्वयस्मृति को ही विशेष महत्त्व के शास्त्र माना जाता रहा है। हिन्दू धर्मशास्त्रों

में धर्मसूत्रों का भी पर्याप्त महत्त्व है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र और बौधायनधर्मसूत्र दोनों में हिन्दुओं के चिन्तन और रीति-नीति पर बहुत प्रकाश पड़ता है। इनसे भी पता चलता है कि हिन्दुओं में धर्म से लेकर अर्थ और काम के साधक जीवन में से गुजरते हुए मोक्ष तक पहुँचने की बात का बहुत शुरू में प्रचार हो चुका था। समस्त धर्म की साधना को मोक्षपरक माना जाता था। अतः ये शास्त्र आत्मज्ञान की उपलब्धि पर बहुत बल देते हैं। मनुस्मृति जिसकी लोगों ने सांख्यपरक अधिक व्याख्या की है। उसमें अभेदचिन्तन के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। उसमें स्पष्ट कहा है कि आत्मा ही समस्त देवताओं का रूप है यहाँ सब कुछ आत्मा में ही अवस्थित है।[४९] आत्मज्ञान की सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए कहा है कि अधर्म से बचने का केवल एक ही तरीका है, वह है कि व्यक्ति समाहित होकर सत् और असत् के भेद को भूलकर आत्मा में ही सब कुछ देखे।[५०] इन धर्मग्रन्थों में यतिधर्मों का जहाँ उल्लेख किया है वहाँ स्पष्ट ही केवलाद्वैती वेदान्त को मूर्धन्य पद दिया गया है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मैल से ढके शीशे में जैसे आलोक नहीं आ सकता उसी तरह साधना रहित अपक्व मन भी आत्मज्ञान का अधिकारी नहीं हो सकता।[५१] आत्मज्ञान क्या है, इस विषय में तो उनका स्पष्ट ही मत है कि जिस प्रकार एक ही आकाश घटाकाश मठाकाश के भेद से पृथक् भासित होता है उसी प्रकार केवल आत्मा ही अनेक रूपों में भासित होता है। इसी प्रकार वे अद्वैतियों के बिम्बप्रतिबिम्बवाद का भी उल्लेख करते हैं कि एक ही सूर्य विभिन्न तरंगों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतिबिम्बित होता है।[५२] आत्मज्ञानी को ही एकमात्र सर्वोच्च सुख का अधिकारी माना गया है। क्योंकि वह आत्मा में ही खेलता है, आत्मा से भिन्न कुछ नहीं देखता है।

धर्मसूत्रों में तो और भी स्पष्ट दृष्टान्त मिल सकते हैं। उनके अनुसार अद्वैत वेदान्ती की मान्यता है कि 'ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् केवल ज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है। भक्ति या कर्म मोक्ष में प्रधान कारण नहीं हो सकते। एवं आत्म-लाभ से परे मनुष्य का कुछ भी श्रेयस्कर नहीं। वह आत्मा ही परमकाष्ठा है वह ही एकमात्र अक्षोभ्य-पुर है।[५३] बोधायन-धर्मसूत्रकार 'ओ३म्' इस ध्वनि को ब्रह्म का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक मानते थे। वह ब्रह्म ज्योतिस्वरूप है, ज्ञान स्वरूप है, वह तप द्वारा जाना जाता है। इस आत्मा का ज्ञाता आत्मा को ही पूजता है, तृप्त करता है। क्योंकि यह आत्मा ब्रह्म है यह आत्मा ज्योति है।[५४] इन धर्मग्रन्थों का समाज के बहुत बड़े भाग पर प्रभाव रहा है। और फिर यह धर्मग्रन्थ ही क्या भारतीय राजनीति के पण्डित भी जहाँ कहीं भी अवसर मिलता, इस आत्माद्वैत के ज्ञान की चर्चा करने से नहीं चूकते। शुक्राचार्य वेदान्तियों के इस मत की चर्चा करते हुए कहते हैं कि वेदान्त मत में ब्रह्म एक है, अद्वितीय है। अनेकता कुछ नहीं है। यह सारा विश्व अज्ञान और माया का प्रपंच है।[५५]

पुराणों में अद्वैत चिन्तन

पुराण हमारे साहित्य की अमूल्य उपलब्धि है। संख्या की दृष्टि से १८ महापुराण और १८ उपपुराण माने जाते हैं। वस्तुतः जनमात्र से जितना सीधा सम्पर्क पौराणिकों का रहा है उतना शायद अन्य किसी ग्रन्थ के व्याख्याताओं का नहीं। इनके वक्ता भी सामान्य वर्ग के प्रतिनिधि कथावाचक ही थे। अद्वैत सिद्धान्त को जन सामान्य तक ले जाने का बहुत बड़ा श्रेय इन्हें है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, कृष्ण आदि के उपासकों के साम्प्रदायिक ग्रन्थ होते हुए भी ये अपने इष्ट को अद्वैत ब्रह्म के साथ ही एक करते हुए नज़र आते हैं। कुछ पुराणों में तो जहाँ तहाँ वेदान्त-चर्चा का उल्लेख मिलता है। विशेषतः विष्णुपुराण इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। स्थान-स्थान पर अद्वैत चर्चा के साथ उसकी समाप्ति भी अद्वैत वेदान्त की काण्डिक्यजनक और कोशिध्वजजनक की प्रमुख कथा के साथ होती है। इस पुराण के लेखक को इस बात का बराबर बोध है "कि मैं सब में हूँ, और सब मुझ में हैं।"[५६] यह समस्त 'इदमात्मक' और 'अहमात्मक' जगत् वासुदेव रूप है। किन्तु यह प्रतीति कर्मक्षय होने पर ही ज्ञान द्वारा होती है।[५७] अतः विज्ञान ही परमार्थ है। द्वैतदृष्टि से व्यवहार रखने वाले सभी धोखे में हैं।[५८] क्योंकि जिस प्रकार सफेद और नीला आकाश वस्तुतः एक है, ऐसे ही आत्मा भी एक है और अमर है।[५९]

पौराणिक लोग वेदान्त के मायावाद से भी पूरी तरह परिचित थे। उन्हें पता था कि माया केवल विचारों का भ्रम है सद्विचार से वह लीन हो जाती है।[६०] ब्रह्म तो आकाश के समान है उसका तो आना और जाना या खड़े रहना ही नहीं बनता।[६१] अतः मोक्ष-प्राप्ति का साधन केवल 'सोऽहमस्मीति' अर्थात् 'वह ब्रह्म मैं हूँ' इसका प्रत्यक्-अनुभव ही है।[६२] गरुड़पुराण के उपरोक्त कथन का महत्त्व इस दृष्टि से और भी अधिक है कि यह पुराण आम लोगों के यहाँ किसी की मृत्यु हो जाने पर ११ दिन तक सुना सुनाया जाता था। इसी प्रकार के अनेकों प्रमाण हम नारदीयपुराण, कूर्मपुराण, पद्मपुराण, वराहपुराण, सूतसंहिता, मार्कण्डेयपुराण, देवीभागवत, स्कन्दपुराण व भागवत आदि में पदे-पदे पाते हैं। किन्तु गूढ़ पारिभाषिक अद्वैतपदावली के कई स्पष्टीकरण भी इनमें हैं। देवीभागवत में ब्रह्म को पाँच कोशों में आबद्ध होने के कारण पुच्छ ब्रह्म कहा है।[६३] वह कूटस्थ है। ब्रह्मरूपा भगवती का महावाक्यों के द्वारा प्रत्यग्बोध होता है।[६४] भगवती को उन पारिभाषिक शब्दों से सम्बोधित किया है जो अद्वैतवेदान्त में ब्रह्म के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। जैसे वह भगवती द्वैतरहित है ब्रह्मात्मैक्यरूपिणी है। मिथ्या जगत् का वह अधिष्ठान है।[६५] श्रीमद्भागवतपुराण तो यहाँ की वैष्णव संस्कृति का प्राण रहा है। बड़े बड़े वेदान्ती उसे परमहंस-संहिता मानते हैं। इस पुराण के तो आदि, मध्य, अन्त अर्थात् सर्वत्र ही वेदान्त सिद्धान्तों की चर्चा है।

प्रारम्भ में ही जगत् कारण ब्रह्म मानकर और सृष्टि को केवलमात्र भ्रान्ति या अध्यासमात्र कहकर अद्वैत के प्रति पक्षपात प्रकट किया गया है।[६६] इस पुराण को यदि हम बहुत बाद की रचना भी मानें या शांकर सिद्धान्तों से प्रभावित भी मानें तो भी जन जन में इसका प्रचार सप्ताह-पर्यन्त कथावाचन के रूप में अभी तक चल रहा है। माया की स्पष्ट अद्वैतवेदान्ती परिभाषा इसमें यूँ है कि जो बिना किसी वास्तविकता के प्रतीत होती है और आत्मबोध होने पर नष्ट हो जाती है।[६७] इसी प्रकार के सिद्धान्त कपिल द्वारा माता देवहूति को दिये गए उपदेशों में,[६८] सनत्कुमार द्वारा पृथु को[६९] दिये गए उपदेशों में, प्रह्लादकृत स्तुति में[७०] नौ योगियों द्वारा निमि को दिए उपदेशों में[७१] तथा श्रीकृष्ण द्वारा अपने स्वरूप-कथन में मिलते हैं।[७२] यह अतिशयोक्ति न होगी कि ये पुराण केवलाद्वैती सिद्धान्तों को अपनी कथनशैली की मनोहारिता के माध्यम से यहाँ के प्रत्येक वैदिक या अवैदिक सम्प्रदाय में प्रतिष्ठित कर आये हैं। यह ठीक है कि इनमें अनेक विद्याओं का तत्त्वपूर्ण समावेश है। जैसे सृष्टि की उत्पत्ति एवं प्रलय, वंशावलियाँ एवं मन्वन्तरवर्णन, सांख्य-योग एवं वेदान्त आदि का विस्तृत सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विवेचन इन पुराणों में है, किन्तु तो भी अधिकांश पुराणों का परमसाध्य इन विचारधाराओं को अद्वैत चिन्तन के गहन सागर में ले जाने का रहा है।

रामायण ग्रन्थों में अद्वैत

एक बात हमें स्पष्ट मान लेनी चाहिए कि पुराणों से भी कहीं अधिक प्रभाव रामकथा का लोगों पर रहा है। रामकथा की व्यापक प्रभावशालिता हमें बौद्ध और जैन-ग्रन्थों में भी मिलती हैं। रामकथा को लेकर यद्यपि बहुत अधिक साहित्यिक रचनाएँ लिखी गई हैं, तो भी वाल्मीकि रामायण, योगवासिष्ठ अध्यात्मरामायण तथा आनंदरामायण ग्रंथों में केवलाद्वैती वेदान्त के यथार्थ प्रमाण मिलते हैं। योगवासिष्ठ तो मूलतः केवलाद्वैत प्रतिपादक ही ग्रन्थ है और उसके तत्त्वज्ञान का प्रभाव भी मध्यकालीन जनता पर अधिक रहा है और अब भी है। किन्तु वाल्मीकि रामायण में भी यत्र तत्र बिखरे दार्शनिक अंश मिल जाते हैं। राम को अक्षर ब्रह्म के साथ एकाकार मानकर उसे ही एकमात्र मध्य और अन्त में सत्य रहने वाला कहा है उसके बिना यहाँ सब मिथ्या है।[७३] अध्यात्मरामायण तो मूलतः अद्वैत वेदान्त को सामने रखकर लिखा गया ग्रन्थ है। उसमें राम के मानुष रूप की अपेक्षा राम की ब्रह्मरूपता अद्वयता और सर्वोपाधिविहीनता, अगोचरता का अधिक कथन है। सीता राम की माया है, जैसा कि हनुमान से वार्तालाप करते हुए सीता स्वयं स्वीकार करती है। फिर अहल्या एवं कौशल्या-कृत राम के स्तुति-कथन में, परशुरामकृत रामस्तुति में, वसिष्ठ द्वारा भरत को दिये उपदेश में ग्रन्थ-कर्ता के दार्शनिक विचार स्पष्टतः ब्रह्माद्वैती हैं। किन्तु अध्यात्मरामायण के

अन्तर्गत रामगीता में तत्त्वोपदेश एकदम परिमार्जित दार्शनिक शैली में है।[७४] रामगीता में तो वेदान्त की बहुत सी अद्वैतपरक परिभाषाओं का प्रयोग किया गया है। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का शास्त्रीय ढंग से विवेचन किया गया है।[७५] उसमें उपाधि-भेद से सर्वथा पृथक् आत्मतत्त्व को ग्रहण करने का भी आदेश है।[७६] शांकर वेदान्त में अध्यास की जो परिभाषा दी गई है वह अध्यात्मरामायण में एकदम स्पष्ट है। भ्रम से जो अन्य में अन्य की प्रतीति है वही अध्यास है। जैसे असर्पभूत रस्सी में सर्प का विभावन करना।[७७] यह अध्यास ही सारी भ्रान्तियों का मूल है। जीव की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि अनादि अविद्या से पैदा हुई बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित चेतन का प्रकाश ही वस्तुतः जीव है।[७८] इस जीव की समस्त भ्रान्तियाँ गुरु के पास रहने से पैदा हुए आत्मज्ञान के अनुभव से दूर हो जाती हैं। चिदानन्दरूप में स्थित हो जाने पर उसे बाह्य और आन्तर का कुछ भी पृथक्त्व नहीं दिखाई देता है।[७९]

इसी प्रकार के प्रमाण हमें आनन्दरामायण में भी मिलते हैं। राम अपने पिता दशरथ को अद्वैत का उपदेश करते हैं। राम कहते हैं कि यह विश्वमाया की छलना है, और यह माया सीपी में चाँदी और मरुस्थल में जल की भ्रान्ति के सदृश ही है।[८०] योगकाण्ड के पंचम सर्ग में परब्रह्म के लिए प्रयोग किए गए विशेषणों पर भी हमें ध्यान देना चाहिए।[८१] अन्त में शिव और राम में अभेद-दृष्टि रखने के लिए कहा गया है। क्योंकि दोनों ही एक हैं।[८२] राम और शिव के बीच अन्तर की कल्पना करने वाले को 'भेददृङ् नारकी नरः' कहा है। निष्कर्ष के तौर पर यहाँ भी कहा जा सकता है कि केवलाद्वैत के अत्यन्त ही वितत आभामण्डल ने हमारी समस्त संस्कृति को ही आमूलचूल प्रभावित किया है।

महाभारत में ब्रह्मवाद

महाभारत हमारी समस्त आस्तिक चिन्ता-धाराओं का एक संगमस्थल है। सांख्य सिद्धान्तों का उस पर पर्याप्त प्रभाव होते हुए भी अद्वैतवेदान्त भी उसका प्रतिपाद्य है। महाभारतान्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीता तो केवलाद्वैतीवेदान्त का स्मृतिप्रस्थान सर्वस्वीकृत है। श्री शंकराचार्यकृत श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्य स्पष्टतः ही व्यावहारिक शांकर वेदान्त का द्योतक है। महाभारत का शान्तिपर्व एवं मोक्षधर्मपर्व भी इस दृष्टि से बहुमूल्य के हैं। क्योंकि इनमें बड़े सीधे ढंग से व्याससम्मत ब्रह्मैकत्ववाद का प्रतिपादन किया गया है। जनमेजय के इस प्रश्न के उत्तर में कि पुरुष एक है या अनेक ? वैशम्पायन कहते हैं कि सांख्य और योगमत के लोग भले ही बहुपुरुषवाद मानते हों।[८३] किन्तु व्यास को ब्रह्मैक्यवाद ही अभीष्ट है।[८४] एक अन्य उपाख्यान में सुवर्चला के श्वेतकेतु को यह पूछने पर कि 'अहंभाव' क्या है और 'आत्मानुभव' क्या है श्वेतकेतु कहते हैं कि हे शुभव्रते !

'अहम्' शब्द का आत्मभाव में प्रयोग नहीं होता। क्योंकि सगुणता के ज्ञापक वाक्य उस अचिन्त्य ब्रह्म का ज्ञान कराने में अक्षम हैं।[८५] जिस प्रकार मिट्टी के घड़े में मृत्तिकाभाव रहता है इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में परमात्मभाव अभीप्सित है।[८६] 'मैं', 'तू', और 'यह' ये सब नाम परब्रह्म में कल्पित हैं।[८७] अतः केवल ज्ञानस्वरूप उस ब्रह्म में ही यह सारा विश्व प्रतिष्ठित है।[८८] महाभारतान्तर्गत विष्णुसहस्रनाम जिसके नित्यपाठ का प्रचलन अब तक हिन्दुओं में है उसमें भी विष्णु के लिए प्रयुक्त विशेषणों में केवलाद्वैती सत्य के दर्शन हो सकते हैं।

शब्दाद्वैत और केवलाद्वैत

शब्दाद्वैत निगमागमसम्मत प्राचीन मत है। शब्द को ब्रह्म मानना और परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी वाक् के रूप में उसी का विवर्त सारे प्रपंच को मानना शब्दाद्वैतियों का दृष्टिकोण है। सिद्धों, नाथों पर इस मत का यथेष्ट प्रभाव रहा है। सन्तों ने भी 'सबद' के रूप में इसकी खूब उपासना की है। प्राचीन आचार्यों ने विशेषकर वैयाकरणों ने इस पर वैज्ञानिक पद्धति से विचार किया है। इस मत के एक मुख्य नेता भर्तृहरि तो स्पष्ट ही विवर्तवाद और त्रिपुटी-दाह की केवलाद्वैती कल्पना से सर्वथा अनुप्राणित हैं। वे तो विश्व की समस्त प्रक्रिया को अक्षरब्रह्म का विवर्त मानते हैं।[८९] और द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन के त्रिक को सर्वथा कल्पित कहते हैं।[९०] इस प्रभाव से वैय्याकरण कैसे अछूते रह सकते थे। पतंजलि ने 'स्त्रियाम्' सूत्र की व्याख्या करते-करते केवलाद्वैती शैली में मायावादी दृष्टि का सीधा आश्रय लेते हुए कहा कि "जिसका लिंग नहीं उसे कैसे देखा जा सकता है। मृगतृष्णा की तरह अथवा मायानगर की तरह उसका तो अस्तित्व ही संदिग्ध है।"[९१] इसी प्रकार पाणिनि के सूत्र 'कर्मवत्कर्मणातुल्यक्रियः' की व्याख्या में भी आत्मा की अनश्वरता और एक चैतन्य की शरीरात्मा और अन्तरात्मा दो रूपों में कल्पना की गई है। मूलतः आत्मा एक ही है।[९२]

वस्तुतः इसमें कोई अत्युक्ति नहीं कि शंकर ने जिस केवलाद्वैतमत का प्रकाशन किया था वह एक प्राचीनकाल से समस्त भारतीय जीवन को प्रभावित करती जा रही प्रौढ़ दार्शनिकता का क्रम-प्राप्त विकास है। शाक्त, शैव, वैष्णव आदि सभी तन्त्र मूलतः अभेदवादी एवं मायावादी दृष्टिकोण को अपने अनुग्राहक के रूप में देखते हैं। शैवचिन्तक भी उन्हीं उपमानों से काम चलाते हैं। जैसे पानी पानी में और दूध दूध में घी घी में गिरा देने पर एक हो जाता है ऐसे ही आत्मा-परमात्मा में अभेद प्राप्त कर लेता है।[९३] प्रपंच रूप में यह सकलविश्व भैरव की ही तरंग है।[९४] इसी प्रकार आगे घटाकाश के दृष्टान्त द्वारा आत्मा की समरूपता की चर्चा एवं माया के कारण अनेकता के मिथ्याभास की चर्चा महानिर्वाणतन्त्र में की गई है।[९५] इसी ढंग की बात हमें पांचरात्रागम में प्रसिद्ध पद्मसंहिता में मिलती

हैं। ब्रह्मा और नारायण के वार्तालाप का वहाँ सारांश यही है कि जैसे स्थिर घटाकाश घड़े के ले जाने पर चलता हुआ भासता है किन्तु जैसे वह यथार्थ नहीं होता, इसी प्रकार परमात्मा और जीव का भेद भी वास्तव न होकर भ्रान्तिकृत है।[९६] ब्रह्म तो निर्गुण सच्चिदानन्द है। जीव उसके अंश हैं। अनादि अविद्या से वे ऐसे ही उपहित होकर पृथक् लगते हैं जैसे अग्नि और उसके स्फुलिंग।[९७]

अद्वैत और सिद्धनाथ मत

वेदेतर साधनाओं में दर्शन का सुपक्व रूप हमें बौद्ध दर्शन में जो मिलता है वह अन्यत्र नहीं। वैदिकचिन्तन के साथ बराबर शताब्दियों तक संघर्ष करते रहने के लिए यह जरूरी था कि बौद्ध लोग अपनी दार्शनिक मान्यताओं के निरन्तर विकास के लिए प्रयत्नशील रहते। फलतः शून्यवाद और निर्वाण के बारे में विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों में मतभेद बढ़ता गया। इधर जिस प्रकार योगाचार, वैभाषिक, सौत्रान्तिक मतों में माध्यमिक मत दार्शनिक विकास के चरम शिखर पर पहुँचा, उसी प्रकार वेद-प्रामाण्यवादी न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, योग, सांख्य-प्रणालियों के बीच में से अद्वैतवेदान्त भी दार्शनिकता एवं सुव्यवस्थित पारिभाषिकता की चरम सीमा पर पहुँच रहा था। दोनों के पारस्परिक आदान-प्रदान का एक कारण यह भी था कि एक वेद का अप्रामाण्य मानकर भी उपनिषदों के प्रभाव से पूर्णतः प्रभावित था, दूसरा वेद-प्रामाण्य मानकर उपनिषदों को अपना मूलस्रोत मानता था।

यही कारण है कि चिरकाल से दोनों की समानताओं को देखकर लोगों को प्रतीत होता रहा है कि वे परस्पर प्रभावित हैं। जिस समय शून्यवादी माध्यमिक भारतीय चिन्तनाकाश पर छा रहे थे उसी समय शांकर वेदान्त के मूलभूत सिद्धान्त गौडपाद की माण्डूक्य कारिकाओं में एक नये आलोक का विसर्जन कर रहे थे। शंकर के मतानुयायियों का अपनी गुरु परम्परा में गौडपाद का नित्य-स्मरण इस बात की पुष्टि करता है। कहीं कहीं पर तो बौद्धों का शून्याद्वय और वेदान्तियों का केवलाद्वय इतने समीप आ जाते हैं कि शून्यवादी भी मानने लगता है कि तथागत का जो स्वभाव है वही जगत् का है। लेकिन चूंकि तथागत का कोई स्वभाव नहीं अतः जगत् का भी कोई स्वभाव नहीं। उसे शून्य या अशून्य कुछ नहीं कहा जा सकता है[९८] निष्कर्ष के तौर पर इसे अनिर्वचनीयतावाद भी किसी सीमा तक कहा जा सकता है। गौडपाद भी अपने अद्वैत को इसी प्रकार चतुष्कोटि-निर्मुक्त कहते हैं।[९९]

वस्तुतः शून्याद्वैत और केवलाद्वैत की प्रतियोगिता का आधार उनकी कुछ एक मौलिक समानताएँ हैं। इन समानताओं का आधार दोनों का परंम्परा-प्राप्त उपनिषदों का तत्त्वज्ञान है। दोनों ने समय समय पर परस्पर घुल-मिलकर परवर्ती

ज्ञान, योग, भक्ति सम्बन्धी विचारधाराओं को प्रभावित किया है। पर आगे चलकर तो हम स्पष्ट देखते हैं कि बौद्धमत के ही क्रमप्राप्त रूप सिद्ध या नाथ सम्प्रदायों ने शून्य के स्थान पर भावरूपता यानी बोधिसत्व अथवा शिव की स्थापना कर ली। जिसका प्रत्यक्ष इतिहाससम्मत कारण है केवलाद्वैत की शून्याद्वैत पर विजय। अतः सिद्धों नाथों का कट्टर बौद्धप्रभाव से परे हटना उस पर पड़ने वाले सर्वतोमुखी केवलाद्वैत के प्रभाव को सिद्ध करता है। इन्हीं सिद्धों नाथों का कबीर आदि सन्तों पर प्रभाव कई रूपों में पड़ा है। आचार्य शंकर ने अपने और बौद्धमत के बीच के महान् अन्तर की ओर निर्देश किया है, कि शून्यवादियों का निर्वाण ब्रह्मनिर्वाण नहीं। क्योंकि बौद्धों का शून्य या निर्वाण अभाव में समाप्त हो जाता है और हमारा मोक्ष ब्रह्म में अवसान होने वाला है।[१००] इस अन्तर को सिद्धों नाथों ने काफी हद तक पाट दिया। अलक्ष्य, निरंजन परमपद, परमशिव का जामा अपने मतप्राप्त शून्य को पहना दिया।[१०१] यह विचार उठने लगा कि केवल तृष्णा का क्षय ही निर्वाण नहीं, बल्कि तृष्णाक्षय इसमें रहता है, ऐसा यह निर्वाण है।[१०२]

माया के प्रकरण में हम देखेंगे कि माया की धारणा अत्यन्त प्राचीन है। यद्यपि समयानुसार उसके स्वरूप में विकास की सम्भावना बराबर बनी रही है। नाथों सिद्धों ने माया के स्वरूप को अपने चिन्तन में यथावत् कई स्थानों पर ग्रहण किया है। जगत् को माया, मिथ्या, प्रपंच, अविद्या[१०३] कहना और स्वयं को ज्ञानस्वरूप मान लेना इस बात को सिद्ध करता है कि शांकर अद्वैत सिद्धों नाथों की तत्कालीन तांत्रिक प्रणाली एवं आचार को कहीं गहरे से प्रभावित किए जा रहा था। अविद्या और माया[१०४] का भ्रान्तिरूप कैसे सबको मोह में डाले है। सिद्ध आर्यदेव कहते हैं कि यह जगत् जो एक माया-मरीचिका है या गन्धर्वनगर के समान है केवल एक भ्रान्ति या स्वप्न है।[१०५] नाथ योगी तो स्पष्टतः ही मानते थे कि यह विश्व माया-प्रपंच है मैं इससे परे ज्ञानस्वरूप आकाश-सम निर्मल हूँ।[१०६] स्पष्ट ही यह शंकराचार्यकृत दशश्लोकी का छायानुवाद है। यह उस भूमिका की बात है जहाँ साधक ध्याता ध्यान ध्येय की भी त्रिपुटी से परे उठकर केवल ज्ञानरूप है। आत्मरूप है।[१०७] श्री धर्मवीर भारती का यह कहना नितान्त अर्थपूर्ण है कि "नाथपंथी वानियों में निर्वाण-तत्त्व परम आत्मानुभव को कहते हैं जिसमें साधक समस्त भवजाल से मुक्त होकर शुद्ध आत्मरूप में स्थित हो जाता है।"[१०८] शैवाद्वैती की परम्परा में प्रतिष्ठित होकर भी वे अपने शैवाद्वैत के साथ 'केवल' पद यत्र तत्र प्रयोग करते हैं—जैसे "भेदाभेदविनिर्मुक्तं वर्तते केवलं शिवम्।"[१०९] इन नाथों का यह भी कहना है कि केवल महेश्वर ही समस्त चराचर में परिपूर्ण और चित्प्रकाश होकर स्थित है।[११०] जिस प्रकार शंकराचार्य के 'तुम कौन हो' प्रश्न करने पर हस्तामलक अपने रूप का 'चिदानन्द रूपः शिवोऽहम्' कहकर परिचय

देने लगा था ऐसे ही नाथ परम्परा में दत्तात्रेय को गोरखनाथ के यह पूछने पर कि तुम कौन हो दत्तात्रेय कहते हैं—

न अम्हें जोगी न जोग जुगता।
आद्य प्रसादें रमों छछंद मुक्ता।।[१११]

वस्तुतः जीव-ब्रह्मात्मैक्य, माया के मिथ्यात्व की धारणा, गुरुपद की वन्दना, ये सब केवलाद्वैती मत के ही प्रभाव हैं। यूँ भी गोरखनाथ ऐतिहासिक दृष्टि से शंकराचार्य के काफी परवर्ती हैं। दसवीं या ग्यारहवीं शती तक शांकर मत यहाँ का एक सर्वविदित एवं सुप्रतिष्ठित मत बन चुका था। गोरख यह मानते थे कि "जोगेस्वर जीव सीव एकं भवति पारब्रह्म भवे लीनं।"[११२]

गुरु को परब्रह्म रूप में देखना उपनिषदों में चल चुका था। "ब्रह्मविद् ब्रह्म इव भवति" वाक्य को शांकर मत में महनीय पद मिल चुका था। ब्रह्मात्मैक्य-बोध का साक्षात्कार बिना गुरु के कभी नहीं हो सकता ऐसा शंकर भी मानते थे। 'गुरु रेव परं ब्रह्म' को सभी वेदान्ती मानते थे। इसी के प्रभावान्तर्गत सिद्धों ने बुद्ध को भावरूप देकर कहा कि "अपने में और बुद्ध में अद्वय स्थापित करना और यह सोचना कि मैं बुद्ध हूँ" सिद्ध का परम लक्ष्य है।[११३] गोरख भी इसी प्रकार दत्तात्रेय के सम्मुख प्रणतभाव से कहते हैं कि "स्वामी त्वमेव दत्तं त्वमेव देवं, आद मधे तुम्हें जान्या मेवं।"[११४] किन्तु गुरु बिना ज्ञान न मिलने की बात को उन्होंने बड़े मार्मिक ढंग से कहा—

गुर कीजे गहिला, निगुरा न रहिला।
गुर बिन ग्यान न पाइला रे माइला।।[११५]

अन्त में हम नाथों की इस चिन्तना में उस अवस्था का चित्रण प्रस्तुत करते हैं जिसे केवलाद्वैत में स्थित-प्रज्ञता या आत्मारामता कहा है। जिसमें समस्त संघर्षों का अवसान हो जाता है। कोई प्रतिद्वन्द्वी तक नहीं रह जाता है। साधक आत्मदर्शन कर कृतकृत्य हो जाता है—

कासो झूझों अवधू राई, विपष न दीसे कोई
जासों अब झूझों रे आत्माराम सोई।।[११६]

सूफीमत और अद्वैतवेदान्त

हम अपने निबन्ध की सरलता की दृष्टि से यहां सूफीमत को ऐतिहासिक दृष्टि से दो भागों में बाँटकर चले हैं। इस्लाम के भारत में आने से पूर्व के सूफीमत पर अद्वैतवेदान्त का प्रभाव। दूसरे इस्लाम के भारत आने के बाद सूफीमत पर वेदान्त का सीधा प्रभाव। किन्तु इससे पूर्व एक बार फिर हमें यह स्मरण कर लेना

चाहिए कि केवलाद्वैत मत के शंकर जन्मदाता नहीं थे किन्तु उसके एक नये समर्थ व्याख्याता वे जरूर थे। उनसे पूर्व विविध वैदिक एवं लौकिक साहित्य में केवल ब्रह्म के अस्तित्व की चर्चा बहुत हो चुकी थी। शंकर भी इसी आधार पर स्वमत को वैदिक कहते हुए स्वयं को एक परम्परा की कड़ीमात्र मानते थे।

विभिन्न विद्वानों का मत हैं कि जिन दिनों अरब और ईरान की मुस्लिम संस्कृतियों के परस्पर मिलन के परिणामस्वरूप प्रेम और ज्ञानवादी सूफीमत का जन्म हो रहा था, "उन दिनों मध्य एशिया में बौद्ध दन्तकथाएँ तथा रस्मरिवाज भी वहाँ प्रचलित थे। ऐसी दशा में इस (सूफीमत) पर उनका प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी था। कुछ लोग इसका मूल भारतीय वेदान्त में ढूँढ़ने का आग्रह करते हैं, क्योंकि इसकी कुछ बातें भारतीय चिन्ताधारा से मिलती-जुलती हैं।"[११७] उक्त ग्रन्थ की भूमिका में श्री नर्मदेश्वर यह मानने में संकोच करते हैं कि अद्वैत वेदान्त का भी मूल सूफीमत पर कोई प्रभाव हो सकता है। किन्तु इस विषय में निकल्सन भी सहमत हैं कि मुसलमानों की विजय से पूर्व बुद्ध की शिक्षाओं का पूर्वी फारस और ट्रान्सोक्सेनिया में काफी प्रभाव था। सूफियों ने माला का प्रयोग, यौगिक ध्यान, बुद्धि और मन के एकीकरण के बारे में बौद्धधर्म से सीखा।[११८] किन्तु यहीं पर एक शंका श्री निकल्सन को झंझोड़ती है कि "सूफियों की 'फ़ना' अर्थात् व्यक्तिगत अहं को विश्वव्यापी सत्ता में लय कर देने की कल्पना का मूलस्रोत निश्चय ही भारतीय है।"[११९] भारतीय कहने से निकल्सन का अभिप्राय क्या है। फ़ना का सूफियाना रूप जो कि बौद्ध निर्वाण से कतई मेल नहीं खाता अद्वितीय सत्ता मूलक अवश्य है यह कहने को बाध्य करता है कि वह केवलाद्वैती मुक्ति का ही रूप है जिसे शंकर ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि हमारा प्रपंच का निषेध करना ब्रह्म में लय हो जाना है, जबकि निर्वाण अभाव या शून्य में जाना है।[१२०]

प्रत्यक्ष प्रमाण होने पर भी आज जो साहित्य, दर्शन, कला पर अद्वैत-वेदान्त का प्रभाव मानने में आनाकानी की जाती है उसका कारण अद्वैत का ब्राह्मणवाद से सम्बन्ध बनाए रखना और दूसरे बुद्धधर्म को अतिरिक्त महत्त्व देकर हिन्दूचिन्तन का अवमूल्यन करना है। पूर्वग्रहों से मुक्त होकर कोई ईरानी रहस्यवादी वायज़ीद-बुस्तामी के इस कथन की परीक्षा करे कि "मैं परमात्मा से परमात्मा में गया, यहाँ तक कि मेरे भीतर से कोई चिल्ला उठा 'तू ही मैं है'।"[१२१] तो वेदान्त का सुनिश्चित प्रभाव माने बिना क्या चारा है। निकल्सन को भी कहना पड़ता है कि यह बौद्धधर्म नहीं, वरन् वेदान्त का विश्वात्मवाद है। हम 'फ़ना' को पूर्णरूप से निर्वाण के सदृश नहीं मान सकते। × × × जहाँ निर्वाण शुद्धरूप से नकारात्मक है, 'फ़ना' के साथ बका (अर्थात् परमात्मा में अनन्त जीवन) जुड़ी हुई है।[१२२] आज तो ऐतिहासिक भी यह मानने लगे हैं कि मुसलमान तो बुद्ध के अनुयायियों को बुतपरस्त मानकर उनसे घृणा करते थे। क्योंकि 'बुत' बुद्ध का ही

भ्रष्ट रूप है। महायानियों की मूर्तिपूजा तो प्रसिद्ध है। ब्राउन तथा निकल्सन सूफीमत का पाश्चात्य न्योप्लेटोनिकमत से सम्बन्ध जोड़ने में अधिक सचेष्ट हैं किन्तु न्योप्लेटोनिक-दर्शन तो मूलतः स्वयं भारतीय अध्यात्मशास्त्र से प्रभावित है। यूनानीदर्शन का अन्तिम रूप "यह पाश्चात्यदर्शन और पौरस्त्ययोग, रहस्यवादी अध्यात्मशास्त्र का एक अजीब मिश्रण था।"[१२३] वस्तुतः सूफीमत और वेदान्त का तुलनात्मक अध्ययन इसी तथ्य को प्रकाशित करता है कि अद्वैत वेदान्त का सूफीमत पर अप्रतिहत प्रभाव रहा है। श्री चन्द्रबलीपाण्डेय तो परिपुष्ट साक्ष्यों के आधार पर घोषणा करते हैं कि 'तसव्वुफ (सूफीमत) वेदान्त का ही मधुर रूपान्तर है।[१२४]

सूफियों की विभिन्न विचारधाराओं का अध्ययन करने से एक और ऐतिहासिक तथ्य सामने आता है कि एक सूफी सन्त इब्नुल अरबी जो कि पक्का अद्वैतवादी था। उसके विरोधी जिली ने भारत-भ्रमण किया। फिर अरबी के अद्वैतवाद का उसी ढंग पर खण्डन किया जैसा कि रामानुज ने शांकर अद्वैत का किया।[१२५] रामानुज की तरह जिली ने भी बाद में सूफीमत में 'इन्सानुलकामिल' (पूर्णपुरुष) के रूप में मुहम्मद की प्रतिष्ठा की। इस विषय पर गीता के पुरुषोत्तमयोग का प्रभाव देखा जा सकता है।

जहाँ तक इब्नुल अरबी के तसव्वुफ का प्रश्न है निस्सन्देह उसे ब्रह्मवाद कहा जा सकता है। वेदान्त दर्शन के द्वितीय सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः'[१२६] के सार को उन्होंने पूर्णतः ग्रहण किया है। वे कुरान की आयत ,'इन्ना लिल्लाह व इन्ना इलेहे राजयून" जिसका अर्थ है हम लोग परमात्मा से ही उत्पन्न हुए हैं, के आधार पर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की अनुभूति को 'हमावुस्त' अर्थात् सब कुछ वह है कहकर व्यक्त करते हैं। रामपूजनतिवारी ने सूफीग्रन्थ 'मतालिबेरशीदी' के एक अनुभववाक्य को उद्धृत किया है जिसका अर्थ है कि "वह क्या ही वर्णनहीन सत्ता है जो असंख्य वर्णों में प्रकट होती है।"[१२७] इसकी श्वेताश्वतर के इस मन्त्र से कितनी समानता है जिसमें कहा है कि वह एक अवर्ण सत्ता अनेक वर्णों को धारण किए है।[१२८]

वेदान्त के सृष्ट्युत्पत्ति सिद्धान्त की कल्पना भी हमें सूफियों में उसी तरह मिल सकती है। अद्वैतवेदान्ती कहते हैं कि यह विश्व उस परम एक सत्ता की केवल अनेकता में स्वयं को बाँटने की कामना का फल है। उसने संकल्पमात्र से सृष्टि रच दी।[१२९] इसी से शतशः मेल खाने वाली एक हदीस को हम ले सकते हैं जिसमें स्पष्ट ही कहा है "कि मैं एक गुप्त कोष के समान था, मैंने चाहा कि लोग मुझे पहचानें। इसीलिए मैंने सृष्टि की रचना की।"[१३०] इस प्रकार हम अनेक समानताओं के आधार पर जिनमें वेदान्त की गुरु शिष्य प्रणाली का भी सूफियों पर बहुत प्रभाव है हम कह सकते हैं कि हमारे हिन्दी सन्तों पर जो भी सूफियाना

प्रभाव रहा है उसके माध्यम से भी अद्वैतवेदान्त सन्तों तक बराबर पहुँचा। सन्तों ने केवलाद्वैत के इस प्रभाव को भारतेतर प्रणालियों से भी लिया और प्रत्यक्षरूप से तो वे केवलाद्वैती परम्परा की अमूल्यनिधि हैं ही। यह नहीं सोचना चाहिए कि शांकर मतानुयायी भारत से बाहर प्रभाव नहीं डाल सके। श्री राहुल सांकृत्यायन ने अपनी घुमक्कड़बाजी की चर्चा करते हुए किसी आधार पर ही कहा है, कि शंकर के शिष्यों ने प्राचीन रूस की राजधानी बाकू में अपनी धूनी रमाई थी।[१३१]

आत्माद्वैत और निर्गुण सन्त-काव्य

प्रस्तुत विषय को लेकर मैंने हिन्दी के विभिन्न नामी विद्वानों के शोधग्रन्थों का पर्यवेक्षण करते हुए यह अनुभव किया कि वस्तुत: केवलाद्वैत के परिप्रेक्ष्य में सन्तसाहित्य को देखने का प्रयास बहुत ही फुटकर रूप में हुआ है। जो हुआ है उसमें शोधकर्ताओं के अपने पूर्वग्रह या सन्त कवियों को नये युग के क्रान्तिकारी घोषित करने की प्रेरणा ने न्यायसंगत नहीं बनने दिया। एक संस्कार जैसे उन्हें बराबर पीड़ित कर रहा हो कि अद्वैतवेदान्ती विश्व से पलायन में विश्वास करते हैं, कर्म में उनकी आस्था नहीं। वह उच्चवर्ग का दर्शन है। उसमें बुद्धिवाद की गरिष्ठता है। जाने कितनी ऐसी अर्थहीन धारणाएँ लोगों ने मूलदर्शन को बिना समझे बना रखी हैं। हिन्दी के एक विद्वान् का तो यहाँ तक कहना है कि "शंकराचार्य तथा परवर्ती आचार्यों ने गम्भीर दार्शनिक ऊहापोह और तत्त्व-चिन्तन किया। किन्तु उनमें ज्ञानवाद के साथ कर्म का स्वस्थ समन्वय नहीं था। अत: यह दार्शनिक सिद्धान्त चिन्तन और तर्क की दृष्टि से अप्रतिम होते हुए भी सामान्य जनता द्वारा गृहीत नहीं हो सका। सन्त कवियों ने शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित मायावाद, विवर्तवाद अथवा शुद्ध ज्ञानवाद को नहीं ग्रहण किया, वरन् उपनिषदों के स्वस्थ, यथार्थवादी और लोकपरक चिन्तन को ग्रहण किया और प्रचारित किया जिसमें हृदय और बुद्धि, ज्ञान और कर्म का समन्वय किया गया था।[१३२]

एक अन्य विद्वान् वैष्णव साम्प्रदायिकों की ओर से कहते हैं कि "अद्वैत-वादी दर्शन के आधार पर शंकर ने जो भक्ति की महत्ता समाप्त कर दी थी, वह पुन: नवीन ढंग से इन आचार्यों के द्वारा प्रतिष्ठित हुई तथा भक्ति को एक सबल दार्शनिक आधार प्रदान किया गया और वह अद्वैतवेदान्तियों के ज्ञानयोग से अधिक व्यावहारिक एवं शक्तिशाली सिद्ध हुआ।"[१३३] आगे फिर इनका कहना है कि "आचार्य (शंकर) के दार्शनिक मतवादों से जनता को पूर्णत: आध्यात्मिक तुष्टि न मिली। उनका दर्शन जनता की साधारण बुद्धि से परे केवल विद्वत्समिति तक ही सीमित रहा।"[१३४] इसी प्रकार के कुछ विचार मुझे सिख सन्तों को लेकर लिखे गए निबन्धों में मिले।[१३५] इसके अतिरिक्त विद्वानों का एक ऐसा पक्ष भी है जो

सीधे घोषणा करता है कि "सन्तों पर शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का बहुत बड़ा ऋण है। इस ऋण का प्रमुख कारण युग का प्रभाव था। वह युग शंकराचार्य के सिद्धान्तों की ध्वनि से प्रतिध्वनित हो रहा था।" इस कोटि के विद्वानों ने सीधे ही सन्तों की दार्शनिकता को उधार ली हुई कहा है।[136] तीसरे मत के लोग हैं जो यह मानते हैं कि "कबीर आदि सन्तों का वस्तुतः समन्वयवादी दृष्टिकोण था। वे लोग, बौद्ध, सिद्ध, नाथ, योगी, सूफी, शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सभी मतों के विभिन्न प्रभावों की एक खिचड़ी-सी मानते हैं। ऐसे लोग सन्त मत पर विभिन्न मतों का प्रभाव दिखाने के चक्कर में सन्तों का अपना क्या था" इस विषय में एक भ्रम खड़ा कर देते हैं।[137]

इन समस्त आलोचकों के अतिरिक्त एक समृद्ध और अधिक सचेष्ट दृष्टिकोण है श्री परशुराम चतुर्वेदी जैसे सन्तसाहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों का, जो सन्तों की मौलिकता के प्रति अधिक जागरूक होने के कारण किसी भी प्रभाव को सीधे मानने में संकोचशील हैं। कबीर के सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि "इसमें सन्देह नहीं कि वे बहुश्रुत रहे होंगे और विविध मतों के अनुयायियों के साथ सत्संग करके उन्होंने उनकी अनेक बातें किसी न किसी रूप में ग्रहण कर ली होंगी तथा उन पर ऐसे कतिपय स्पष्ट वाक्यों तक का प्रभाव दिखलाया जा सकता है। किन्तु इसके साथ यह भी विचारणीय है कि इस प्रकार के सिद्धान्तों को उन्होंने अन्धविश्वास के कारण कहीं नहीं अपनाया है। उन्हें इन्होंने अपने 'निजी विचार' की कसौटी पर कस लेने का भी प्रयत्न किया है और अपनी अनुभूति में डालकर स्वयं अपना बना डाला है।"[138] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी की लेखनी सन्तों पर सिद्धों नाथों योगियों के प्रभावों को जिस प्रकार व्यक्त कर सकी है उसी सशक्तता के साथ आत्माद्वैत का प्रभाव दिखाने में इसलिए ज्यादा शायद नहीं खुल पाई, कि शायद आत्माद्वैत यहाँ के प्रत्येक मत या दृष्टिकोण का अन्तर्नाद है। प्रभाव की बात शायद औचित्य से दूर है।

उपरोक्त मतों की विवेचना या परीक्षा यद्यपि आगे यथास्थान होती रहेगी, तो भी कुछ बातों को मैं यहीं से स्पष्ट कर चलता हूँ कि उपरोक्त प्रथम दो विद्वानों के दृष्टिकोण को मैं उनके कथनों के आत्माश्रित दोषों के कारण शतशः अमान्य मानता हूँ। उसमें मुझे कुछ तटस्थता के अनुपात की कमी लगी है। डॉ० त्रिगुणायत सदृश विद्वानों ने इस विषय को प्रथम मार्ग-दर्शक के रूप में काफी दूर तक न जाकर बीच में ही छोड़ दिया है। अतिरिक्त मतों में कुछ ऐसी सामान्य सी बातें कहीं हैं जो इस पर कुछ प्रकाश नहीं डालतीं।

प्रभाव की प्रक्रिया

प्रभाव की बात करते हुए एक बात का हमें ध्यान रखना चाहिए कि

प्रभाव का अर्थ यह नहीं होता कि हम अपने विवेच्य में मूलतः शत-प्रतिशत प्रभावी दृष्टिकोण के तत्त्वों को निकाल बाहर रख दें। प्रभाव की प्रक्रिया वस्तुतः एक जटिल सामाजिक प्रक्रिया है। जिससे किसी भी युग का कोई भी रचनाकार मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि कोई भी रचना असामाजिक नहीं होती। संस्कृत-साहित्य के पारखी राजशेखर ने अनुभव से ही यह बात कही कि "नास्त्यचौरो वणिग्जन: नास्त्यचौर: कविजन:"[१३९] अर्थात् कोई बनिया अ-चोर नहीं होता कोई कवि भी अ-चोर नहीं होता। आगे राजशेखर ने कवि कुकवि और चोर का अन्तर बताते हुए कहा कि जो कवि है वह दूसरों की छाया ग्रहण करता है कुकवि दूसरे के पदों को, और चोर दूसरों के सारे अर्थ और प्रबन्ध को ही हरण कर लेता है।[१४०] प्रभाव ग्रहण वाली बात केवल कवि में ही संगत होती है। वस्तुतः व्यक्ति का निर्माण जिस सामाजिक परिधि में होता है उस परिधिचक्र के अनन्त घात-प्रतिघातमूलक स्पन्दन व्यक्ति के अन्तर्मन की उपलब्धियों में नये नये संयोजन करते हैं। प्रबुद्ध दार्शनिक या कलाकार के 'स्व' का निर्माण परिस्थितियों की मीठी आँच (जिसे हम प्रभाव कह सकते हैं) अधिक पूर्णता के साथ होने लगता है। इस सेंक को उचित अनुपात में ग्रहण करते हुए अपने अन्तर की रचनात्मक शक्तियों को वह जब खड़ा कर लेता है तो एक सर्जन होता है। प्रभाव की यह प्रक्रिया अत्यन्त गहरी और सूक्ष्म है। जब कवि प्रभाव को स्थूलरूप में उगलने या निगलने लगता है तो वह चोर, प्रतिक्रियावादी, सिनिक, दम्भी या असन्तुलित बन जाता है। अद्वैत-वेदान्त के प्रभाव को सन्तों ने भी ग्रहण किया है और धार्मिक दृष्टि से जीने वाले आम साधु-संन्यासियों ने भी। किन्तु सन्तों का प्रभाव-ग्रहण अपनी प्रक्रिया की पूर्णता के कारण पूर्णतः समंजस और रचनात्मक बना। वस्तुतः अत्यन्त ही सूक्ष्म द्वारों से स्थूल द्वारों से होकर अद्वैत-चिन्तन उन तक पहुँचा था, फिर एक मानव-कल्याणकामी जनकवि की तरह इस सारी प्रक्रिया को उन्होंने ग्रहण किया। साधारण साधु-संन्यासी भी प्रभाव ग्रहण करते हैं, पर केवल काषायवस्त्रधारण, भिक्षाटन, गुरुडम-प्रसार और कुछ रटंत बातों तक ही रह जाते हैं। शांति के नाम पर क्षोभ, त्याग के नाम पर ऐन्द्रिक-लम्पटता, प्रभाव की प्रक्रिया की अपक्वता के कारण होने वाली विकृतियों का ही परिणाम होती है। अतः सन्तों पर केवलाद्वैत वेदान्त के प्रभाव की चर्चा करते हुए यह ध्यान में रहना चाहिए कि कविहृदय-सम्पन्न सन्तों ने मूल दार्शनिकचेतना को छायारूप में तो सर्वत्र ही ग्रहण किया है। बौद्ध, नाथ, सिद्धों की योगक्रियाएँ क्योंकि बाह्याचारपरक होने के कारण केवल उन्हें उपदेशक ही बनाकर रह गई होंगी, इसीलिए सन्तों का इस तरफ का ग्रहण अत्यन्त उलझा सा जटिल रहस्यवाद ही बन सका है। लेकिन पिण्ड ब्रह्माण्ड की बातों के बाहर विचार करने की वेदान्ती प्रक्रिया ने ही उन्हें मौलिक प्रतिष्ठा प्रदान की। कबीर को यह चिन्ता है कि लोग उनके इस चिन्तन को कहीं सस्ते

किस्म का गीत न समझ बैठें। उन्होंने तो गीतों को ब्रह्मविचार देने के लिए माध्यम बनाया है—

तुम्ह जिनि जानो गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे॥

सन्तों की काव्यात्मक प्रतिभा पर मैं इसलिए जोर दे रहा हूँ कि अद्वैत-वेदान्त कोई नीरस दर्शन नहीं। ब्रह्म को आनन्दरूप मानने वाला दर्शन नीरस नहीं हो सकता। आत्मा को रसरूप[१४१] मानने वाले इसी दर्शन ने अपने पूर्वरूप में संस्कृत के विराट् काव्य-साहित्य को रससिद्धान्त दिया था। इसी ने शंकर को अमित रससंचारिणी काव्यात्मकता दी जो उनके स्रोतों के निर्झरों में मुखरित हो रही है।[१४२] अतः यह मान लेना चाहिए कि प्रस्तुत दर्शन मूलतः कभी भी अति-पारिभाषिक नहीं था। शंकरोत्तर युग में इसकी विवेचन शैली पर नव्यन्याय के युग की अवश्य छाप पड़ी है। जिसके कारण पिष्टपेषण अधिक हुआ।

यहाँ मेरा अभिप्राय यह नहीं, कि मैं सन्तों को कवि सिद्ध करने जा रहा हूँ। मेरा अभिप्राय सिर्फ इतना है कि अपठित और शिक्षा की उपलब्धि के साधनों से वंचित रहने पर भी उनमें सहज काव्यात्मकता काफी मात्रा में रही जरूर है। आलंकारिक इस कथन का लेखा-जोखा ले सकते हैं।

एक बात और, वह यह कि शंकर के दर्शन पर कठोर दार्शनिक बुद्धिवाद का लेबुल लगाने का एक आम रिवाज चल पड़ा है। जो कदाचित् औचित्य-रहित है। दूसरे मैं कहता हूँ कि यदि उनका दर्शन अपनी तर्कशीलता में अद्वितीय रहा है तो इससे प्रभाव न ग्रहण करने की बात कहाँ से आती है। आज भी दुर्बोध्य और शुद्ध तर्कवादी अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद जैसे दृष्टिकोण अपनी समस्त दार्शनिक दुर्बलताओं के अतिरिक्त लोगों को प्रभावित कर रहे हैं। पश्चिम से चलकर पूर्व के कवियों और बुद्धि-जीवियों को ही नहीं कुछ हद तक जनता को भी प्रभावित कर रहे हैं। इनके परिप्रेक्ष्य में यह ठीक है कि असंतोष, विसंगति, रोटी, कपड़ा आज की विकट समस्याएँ इन्हें जन के अधिक समीप ले जा रही हैं। किन्तु शांकर युग में आम मनुष्य की समस्याएँ अलग रही होंगी। जब निम्नवर्ग के लोग भी मुक्ति के चक्कर में घूम रहे थे, तो निश्चय ही ऊँचे वर्ग के लोगों की भी यह समस्या रही होगी। उस समय इस समस्या के समाधान के लिए केवलाद्वैती दर्शन से बढ़कर आश्रयदाता और कौन हो सकता था? बुद्ध के युग की समस्या भी कुछ ऐसी ही थी। और निर्वाण के चक्कर में ही समस्त एशिया एक दिन भिक्षु बनने को तैयार था। पर अब बुद्धदर्शन अपनी उपयोगिता खो बैठा था। सन्तों के युग में भी पंडितों के प्रति चाहे कितनी भी अनास्था पैदा हो गई होगी। किन्तु साधुओं के प्रति आदर-भाव भारतवासियों के मन से कभी नहीं गया। परमज्ञान की उपलब्धि

के लिए लोगों की दृष्टि वेदवेदान्तविद् गुरु की ओर ही उठती थी।

जहाँ तक सन्तों का सवाल है, उन्होंने अद्वैतदर्शन से यथेष्ट लिया है। कैसे लिया है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि उपनिषत्काल से ही लोग मानते आ रहे हैं कि आत्मज्ञान की प्राप्ति में श्रवण मनन निदिध्यासन का प्रमुख स्थान है। भगवद् गीता में ब्रह्मचिन्तन के लिए इन साधनों का उल्लेख किया गया है—

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥

—६-३२ मधुसूदनी टीका

अर्थात् तत्त्वचिन्तन परस्पर कथन, प्रबोधन आदि से होता है। योग-वासिष्ठ तो स्पष्ट ही ज्ञान प्राप्ति के साधनों में साधुसंग को महत्त्व देता है—

"शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधु संगमः" २-११-६०। श्रवण तो सन्तों का बहुत ही समृद्ध था इस विषय में हिन्दी के सभी विद्वान् एक मत हैं। कबीर, नानक, दादू, रैदास, सुन्दरदास, धर्मदास आदि पूर्वमध्यकाल के सभी सन्त निश्चय ही बहुश्रुत थे।

दूसरे सत्संग को वे अपना जीवन का अमूल्य क्षण मानते थे। कबीर का कहना है—"कबिरा संगत साध की हरे और की व्याधि।"[१४३]

उनके इस लाभ की ओर भी ध्यान देना चाहिए। अद्वैतवादी संन्यासी-सन्तों में से बहुतेरे ऐसे होते थे जो विद्वान् होने के बावजूद मान-मोह-रहित होकर जन-गोष्ठियों में अपने सिद्धान्त रखते थे।

तीसरे शांकर मत के अध्येता कई इन सन्तों के शिष्य हुए। उन्होंने अपने परवर्ती सन्तों को नितान्त वेदान्त का शास्त्रीय परिचय दिया। इस कोटि में सुन्दरदास और सन्त निश्चलदास के नाम उल्लेखनीय हैं। सुन्दरदास ने वैश्य होने के बावजूद अद्वैतवेदान्त की बहुत सी पारिभाषिकता को ग्रहण किया। निश्चलदास ने जाट होने के बावजूद अद्वैतवेदान्त के प्रौढ़ पारिभाषिक ग्रन्थों की रचना की। कबीर और दादू में भी अद्वैतवेदान्त की कई सीधी सपाट धारणाओं को ज्यों का त्यों अपनी समस्त पारिभाषिकता के साथ देखा जा सकता है। आगे हम यथा-स्थान इसकी चर्चा करेंगे। पर मेरा यह आशय कदापि नहीं कि अद्वैतवेदान्त का सन्तों पर प्रभाव मानने का अर्थ यह होना चाहिए कि दूसरी बौद्ध एवं वैष्णव विचारधाराओं का उस पर प्रभाव नहीं रहा है। अद्वैत का प्रभाव उन पर दोहरा पड़ा है। सीधे तौर पर और परोक्ष ढंग से भी।

परोक्ष ढंग की चर्चा करें तो यह समझना होगा कि क्या सन्तों पर वैष्णवों, सूफियों, सिद्धों, नाथों का प्रभाव अक्षुण्ण है। यदि इनका प्रभाव है तो क्या वैष्णवों की पवित्र परमहंससंहिता भागवत, और सूफियों के अनलहक सिद्धान्त, सिद्धों के

शून्याद्वय तथा नाथों के शैवाद्वैत पर कितने प्रतिशत शांकर अद्वैत का प्रभाव है। भागवत पुराण में यदि सांख्य और विशिष्टाद्वैत के स्पष्ट प्रभाव हैं तो मायावाद की चर्चा भी उसमें घटकर नहीं।[१४४] मंगलाचरण में ही मरुस्थल में होने वाली जल की भ्रान्ति के सदृश विश्व के मिथ्या होने की घोषणा कर दी है। सूफियाना अनलहक पर तो मुस्लिम एकेश्वरवाद की अपेक्षा वेदान्त का ही अधिक प्रभाव है। शून्याद्वय और शैवाद्वैत पर प्रभाव पीछे दिखाया जा चुका है। अत: यह माना जा सकता है कि सन्तों ने इन सभी मतों के बाह्य प्रभाव को छोड़कर आंतरिक प्रभाव को ही ग्रहण किया है, और वह था तत्त्वज्ञान से मुक्त होने की बात। फिर नाथ तो संस्कृत के ज्ञाता भी थे। उन्होंने संस्कृत से ग्रहण भी किया था और संस्कृत में लिखा भी था। त्रिगुणातीत पथ के पथिक को वैदिक विधि निषेध से ऊपर शंकर भी मानते थे नाथ भी।

सन्तों पर केवलाद्वैत मत के प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभावों के अतिरिक्त एक और भी विचारणीय पहलू है। भारत के जन-जन में पण्डितों के द्वारा जैसे राम-कथा और महाभारत की कथाएँ पहुँचीं ऐसे ही वेदान्त के प्रौढ़ ग्रन्थ योगवासिष्ठ, अध्यात्मरामायण, श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता, आत्मपुराण, गरुड़पुराण जैसे ग्रन्थ भी सामान्य धर्मबुद्धि गृहस्थियों एवं प्रभुभक्त सन्तों के घरों में बहुचर्चित थे।

इधर सन्तों पर यदि मराठी सन्तों का कुछ भी प्रभाव मानें तो गीता पर ज्ञानेश्वरी टीका के लेखक सन्त ज्ञानेश्वर के एवं अन्य विद्वानों पर विनीत वैष्णव सन्तों के प्रभावों को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। आदिग्रन्थ में इन्हीं अद्वैतोपासक ज्ञानेश्वर के शिष्य नामदेव को आदर से स्मरण किया गया है। और ज्ञानेश्वरी टीका पर अद्वैतवेदान्त का बहुत बड़ा प्रभाव है। वैसे भी मराठी आत्म-ज्ञानी सन्तों में उनका नाम मूर्धन्य है।

अब मैं थोड़ा सा शांकर दर्शन के प्रति एक भ्रम खड़ा करने वालों के लिए संक्षेप में आचार्य श्री शंकर की रचनाओं का भी उल्लेख कर देता हूँ। ध्यान रहना चाहिए कि शंकर एक अपूर्व मेधावी विद्वान् थे। एक अपढ़ व्यक्ति की सी जहाँ उनमें असन्तुलित बुद्धि नहीं थी, वहाँ ज्ञान का उन्माद भी उनमें न था। उनका अक्षत व्यक्तित्व अपनी निष्प्रतिध दृष्टि से भूत, भविष्यत् वर्तमान देखने की सामर्थ्य से सम्पन्न था। अत: वे जनमानस की स्थिति से अपरिचित न थे। उनकी घुमक्कड़ प्रकृति भी इस बात की द्योतक है कि वे भी बुद्ध की तरह ही अपनी सत्योपलब्धि को जन-जन में बांटना चाहते थे। किन्तु बुद्ध जहाँ अधिकारी अनधिकारी की जाँच के मामले में असावधान थे शंकर उतने ही जागरूक थे। यही कारण है कि उन्होंने अधिकारी भेद से अपने दर्शन की व्यावहारिकता को कायम रखते हुए सहृदय बुद्धिजीवी पंडितों के लिए प्रौढ़ शारीरिक भाष्य लिखा, वहाँ विरक्त मुमुक्षुओं के लिए सरल उपनिषद् भाष्य लिखे। किन्तु उनका वह साहित्य जो सामान्य संस्कृतज्ञों

के लिए लिखा गया है वह अब भी आस्थाशील हिन्दुओं का संबल है। अत्यन्त ही सरल पद्धति से अद्वैतवेदान्त का मार्मिक विश्लेषण उन्होंने विवेक चूड़ामणि, अपरोक्षानुभूति, शतश्लोकी, दक्षिणामूर्ति स्तोत्र, हरिभीडे स्तोत्र, उपदेशसाहस्री, चर्पट पंजरिका स्तोत्र, विष्णु सहस्रनामभाष्य, आत्मबोध, दशश्लोकी जैसे ग्रन्थों में किया। किन्तु यह उस युग की माँग थी कि समाज के मूर्धन्य बुद्धिजीवियों का मोह-भंग करके प्रचार किया जाए। यही कारण था कि रामानुजादि वैष्णव आचार्यों ने भी बाद में उन्हीं की नकल पर तर्कपण्डितों का व्यूह तोड़ने के लिए भाष्यग्रन्थों द्वारा ही अपनी मेधा को पहले प्रतिष्ठित करना चाहा बाद में अपने मत का प्रचार। शंकर यह भी जानते थे कि वह युग तांत्रिक प्रभाव का युग था अतः उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर आनन्दलहरी, सौन्दर्यलहरी जैसे ग्रन्थों द्वारा समयमत की तांत्रिकी श्रीविद्या के गहन रहस्यों को भी उद्घाटित कर उसे ब्रह्म-विद्या की ओर खींचकर युग प्रभाव को स्वीकार किया।

अतः यह धारणा गलत है कि शंकर का दर्शनमात्र पंडितों की सम्पत्ति था। जिस संस्कृत का प्रचार के लिए शंकर ने आश्रय लिया था वह संस्कृत तो हिन्दू सन्तों के घरों में अभी तक नहीं मरी। वह तो एक युग था जब संस्कृत एक समृद्ध संस्कृति की एक प्रमुख भाषा मानी जाती थी। उसी के माध्यम से शांकरदर्शन भारत की अधिकांश जनता तक पहुँचा। उन लोगों के घरों से वह बराबर लोक-भाषाओं के माध्यम से सामान्य जन तक पहुँचा था।

सन्दर्भ

* अर्थात् अद्वैतवेदान्त एक ऐसा दर्शन है जिसका किसी से कोई विरोध नहीं है। दूसरे सभी मत उसमें अपने आप समन्वित हो जाते हैं। ज्ञान-प्रधान होने के कारण वह एक नितान्त ही प्रशंसनीय चिन्तनमार्ग है।

१. ऋग्वेद, मं० ४, सू० २६
२. वही, मं० १०, सू० १२५
३. यजुर्वेद, अ० ४०
४. वही, शतरुद्रियसूक्त।
५. सामवेद कालसूक्त।
६. कल्याण (उपनिषद् अंक १, वर्ष २३) पृ० ८७ पर डॉ० पी० के० आचार्य का लेख।
७. त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद्, अ० ३, ४। दे० रामोपनिषद्, श्लो० ४-५। देव्युपनिषद्, श्लो० २-७। तथा रुद्रहृदयोपनिषद्, श्लो० ३३-३७

८. "स एष नेतिनेत्यात्मा, अगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यते"
—बृहदारण्यक, ४-५-१५

९. "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्" —वही

१०. ३-५-१ पर शांकरभाष्य। —वही

११. बृहदारण्यक, उ० १-४-२

१२. छान्दोग्य, ६-१-४

१३. वही, ३-१४-१

१४. त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद्, उ० ३-३

१५. ईशोपनिषद्, ५-१०

१६. बृहदारण्यक, ३-९-२८

१७. "अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा" —श्वेताश्वतर, ३-१३

१८. माण्डूक्य उ०, मन्त्र ७

१९. "नैष स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः" —श्वेताश्वतर, ५-१०

२०. कठ०, २-१-१

२१. डॉ० पी० के० आचार्य —कल्याण उपनिषद् अंक, पृ० ८७

२२. सरस्वती रहस्योपनिषद्, श्लोक ३३

२३. नादबिन्दूपनिषद्, अ० २, खं० १, श्लोक १ से ११

२४. तेजोबिन्दूपनिषद्, दे० श्लोक ८ से ११ तक।

२५. खण्ड ३ और २

२६. अद्वैत ग्रन्थकोश के आधार पर यह वर्गीकरण किया गया है।

२७. ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितम्।।
—अ० १३, श्लोक ४, पर शांकर भाष्य

२८. कीथ[1] ने इसका समय दूसरी शताब्दी, मैक्समूलर[2] ने ईसा पूर्व ३०० तथा फ्रेज़र ने ४०० ईसा पूर्व माना था। किन्तु अभयकुमार गुहा[3] ने ६०० ईस्वी पूर्व इसका रचना काल सिद्ध किया है।
(१) लिट्रेरी हिस्टरी ऑफ इण्डिया, पृ० १९६
(२) सिक्स सिस्टमज ऑफ फिलासफी, पृ० ११३
(३) राधाकृष्णन् इण्डियन फिलासफी, भाग-२, पृ० ४३५

२९. ब्र० सू० शां० भा० का समन्वयाधिकरण १-१-४। यहाँ आचार्य ने समस्त श्रुति-वाक्यों को ब्रह्मपरक ही बताया है।

३०. प्रस्तुत विवेचन ब्रह्मसूत्रभाष्य पर रत्नप्रभा, भामतीन्यायनिर्णय सहित, कामकोटि कोशस्थान मद्रास से प्रकाशित् सन् १९५४, ग्रन्थ के आधार पर है।

३१. "एवं प्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया वैदिकं हि अर्जुनाय शोकमोहमहोदधौ निमग्नाय उपदिदेश।" —गीता शां० भा० उपोद्घात

३२. "तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतम् ।" —वही
३३. "तस्यास्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परमनिःश्रेयस सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपरमलक्षणम् ।" —वही
३४. "शुद्धसत्वस्य च ज्ञाननिष्ठायोग्यताप्राप्तिः ।" —वही
३५. बलदेव उपाध्याय, भारतीयदर्शन, पृ० ५५
३६. "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्" —गीता, अ० १२, श्लोक ५
३७. "उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" —वही, अ० ७, श्लोक १८
३८. गीता, ६-४
३९. "सब भूतों में आत्मा का दर्शन" —वही, ६-२९
४०. वही, ११-७
* "मम माया दुरत्यया" —वही, ७-१४
४१. वही, २-७२
४२. भगवद्गीता, अ० ५, श्लोक १८
४३. "He in consistency, thoroughness and profundity holds the first place in Indian Philosophy."
—Hinduism and Budhism, Vol. II (Second edition), p. 208, Broadway London.
४४. संक्षिप्त योगवासिष्ठ अंक (३५वें वर्ष का विशेषांक, गीता प्रैस), पृ० ९७, ९९
४५. वही, पृ० १९८, १८६
४६. वही, पृ० १०९
४७. वही, पृ० २०२
४८. वही, पृ० २३४
४९. आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ।। —म० स्मृ०, १२-११९
५०. सर्वमात्मनि संपश्येत् सच्चासच्च समाहितः ।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ।। —वही, १२-११८
५१. याज्ञ व० स्मृ० यतिधर्म प्र०, १४१
५२. आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत् ।
तथात्मैको ह्यनेकश्च जलाधारेष्विवांशुमान् ।।
—याज्ञ व० स्म० यति-धर्म प्रकरण, श्लोक १४४
५३. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, बम्बे संस्कृत सिरीज़ द्वारा प्रकाशित सन् १९३२, पृ० ३९, १-८-२२
५४. ओमिति ब्रह्म वा एष ज्योतिः य एष ज्योतिः य एष तपति । एष वेदो । य एष वेदो । य एषतपति वेद्यमेवेतत् । यदेष तपति एवमेवैष आत्मानं तर्पयति

आत्मने नमस्करोति। आत्मा ब्रह्म। आत्मा ज्योतिः।

—बौधायनधर्मसूत्र चौखम्बा सिरीज़ का पृ० २०८, २-१७-३६

५५. ब्रह्मैक मद्वितीयं स्यात् नेह नानास्ति किंचन।
मायिकं सर्वं मज्ञानादिति वेदान्तिनां मतम् ॥—'अद्वैत ग्रन्थकोश' में से उद्धृत

५६. विष्णुपुराण, १-६-७५

५७. वही, २-१२-४०

५८. "द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः" —वही, २-१४-३१

५९. "सितनीलादिभेदेन यथैकं दृश्यते नभः।" —वही, २-१६-२६

६०. गरुडपुराण के आचार-खण्ड का कथन—
"माया विचारसिद्धैव विचारेण विलीयते"
—अद्वैत ग्रन्थकोश (देववाणी परिषद् प्रकाशन १, देशप्रिय पार्क रोड़, कलकत्ता) में भूमिका भाग १, पृ० २३

६१. "कथमाकाशकल्पस्य गतिरागतिः संस्थितिः" —वही

६२. सोऽहमस्मीति मोक्षाय नान्यः पन्था विमुक्तये" —वही

६३. "पंचकोशान्तरगते पुच्छब्रह्मस्वरूपिणि"
—देवीभागवत स्कन्ध ४, अध्याय १४ में से उद्धृत, वही, पृ० २२

६४. "पुनस्त्वंपदलक्ष्यार्था प्रत्यगर्थस्वरूपिणी" —वही

६५. "निर्द्वैताद्वैतवर्जिता मिथ्याजगदधिष्ठाना, ब्रह्मात्मैक्यस्वरूपिणी"
—ललितासहस्र-नामस्तोत्रम्

६६. भागवतपुराण, स्कन्ध १, अ० १, श्लोक १

६७. "ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत् न प्रतीयेत चात्मनि" अद्वैत ग्रन्थकोश, पृ० २३ पर उद्धृत

६८. वही, स्कन्ध ३

६९. वही, स्कन्ध ४, अध्याय २२

७०. वही, स्कन्ध ७

७१. वही, स्कन्ध ११

७२. वही, स्कन्ध ११, अध्याय २८

७३. "अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्त च राघव" तथा—
"न तदस्ति त्वया विना" —युद्धकाण्ड, अद्वैत ग्रन्थकोश से उद्धृत

७४. अध्यात्मरामायण, उत्तरकाण्ड, पृ० ३६७ से ३७२ तक, गीता प्रैस प्रकाशन।

७५. वही, उत्तरकाण्ड, रामगीता, पृ० ३७०

७६. वही, उत्तरकाण्ड, सर्ग ५, श्लोक ३०

७७. यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमादध्यासमित्याहुरमुं विपश्चितः।
असर्पभूते हि विभावनं यथा रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत्॥
—वही, उत्तरकाण्ड, सर्ग ५, श्लोक ३७

७८. "अनाद्यविद्योद्भवबुद्धिबिम्बितो।
जीवः प्रकाशोऽयमितीर्यते चितः।।" —वही, श्लोक ४०

७९. "पूर्णश्चिदानन्दमयोऽवतिष्ठते।
न वेद बाह्यं न च किंचिदान्तरम्।।" —वही

८०. आनन्दरामायण, सारकाण्ड, सर्ग ५

८१. वही, योगकाण्ड, सर्ग ५

८२. "रामः साक्षान्महादेवः नात्र भेदः कथचन" —वही, मनोहरकाण्ड, सर्ग १२

८३. बहवः पुरुषा लोके सांख्ययोगविचारणे।
नैतदिच्छन्ति पुरुषमेकं कुरुकुलोद्वह।।
—महा भा० शान्तिपर्वान्तिर्गत मोक्षधर्म पर्व, अ० ३५, श्लोक २

८४. "समासतस्तु यद् व्यासः पुरुषैकत्वमुक्तवान्।" —वही, श्लोक ७

८५. वही मोक्षधर्म पर्व अ० २२०, श्लोक ८१

८६. मृण्मये हि घटे भावस्तादृग्भाव इहेष्यते। —वही, अ० २२०, श्लोक ८२

८७ अहं त्वमेतदित्येव परे संकल्पना मया। —वही, श्लोक ८३

८८. "केवलं ज्ञानमात्रं तत् तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्" वही, अ० २२०, श्लोक ९४

८९. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।। —वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड

९०. यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं चापि कल्पितम्।
तस्यैवार्थस्य सत्यत्व माहु स्त्रय्यन्तवेदिनः।। —वही

९१. कथं पुनरसल्लिगं शक्यं द्रष्टुम्। मृग तृष्णावत्। तद् यथा मृगास्तृषिताः अपां धाराः पश्यन्ति, न तास्सन्ति। यथा गन्धर्व-नगराणि दूरतो दृश्यन्ते, उपसृत्य च नोपलभ्यन्ते। —महाभाष्य भार्गवशास्त्री संपादित निर्णयसागर प्रकाशन, सन् १९४२, पृ० १८-१९

९२. कः पुनरात्मानं हन्ति कोवाऽऽत्मना हन्यते। द्वावात्मानौ अंतरात्मा, शरीरा-त्माच। —महाभाष्य, पृ० १२२, (कैय्यटप्रदीप सहित एवं नागेश की उद्योत टीका सहित भाग-३ रघुनाथ, शिवदत्त एवं काशिनाथ संपादित। निर्णय सागर प्रकाशन १९३७)

९३. यथाजलं जलेक्षिप्तं क्षीरं क्षीरे घृते घृतम्।
अविशेषं भवेत्तदद्वदात्माऽपि परमात्मनि।। —सुप्रभेदागम

९४. जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभंग्यः प्रभा रवेः।
ममैव भैरवस्येता विश्वभंग्यो विभेदिताः।। —विज्ञान-भैरवतन्त्र

९५. घटस्थं यादृशं व्योम घटे भग्नेऽपि तादृशम्।
नष्टे देहे तथैवात्मा समरूपो विराजते।।
—महानिर्वाणतन्त्र अन्तिम अध्याय

९६. यथा घटस्थमाकाशं नीयमाने घटे सति।
यातीतिवस्तुतो नैव भेदोऽस्ति पर जीवयोः ॥ —पद्मसंहिता, अ० ६

९७. निर्गुणः सच्चिदानन्दस्तदंशाः जीवसंज्ञकाः।
अनाद्यविद्योपहिताः यथाऽग्नौ विस्फुलिंगकाः ॥ —कुलार्णव-तन्त्र

९८. तथागतो यत्स्वभावस्तत् स्वभावमिदंजगत्।
तथागतो निःस्वभावो निःस्वभावमिदंजगत् ॥
शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ॥
—बौद्धदर्शन, भरतसिंह उपाध्याय, पृ० १०४२-४३

९९. "चलस्थिरोभयाभावै रावृणोत्येव बालिशः"।
—माण्डूक्यकारिका ४।८३

१००. "ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधः न अभावावसानः"।
—ब्रह्मसूत्र, शां० भा० ३-२-२२

१०१. "सच्छाकासि सिवं पदं"। —थेरीगाथा, गाथा १३७
तथा "न द्वयं नाद्वयं शान्तं शिवं सर्वत्र संस्थितम्"।
—प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, पृ० ५

१०२. नहि तृष्णायाः क्षय एव निर्वाणं किन्तु तृष्णायाः क्षयोऽस्मिन्निति,
—बौद्धदर्शन-बिन्दु, पृ० १५

१०३. "अविद्या करिकुं दम अकिले सें"। —चर्यापद् ९

१०४. "मायाजाल पसारि रे बोधेलि माया हरिणी"। —वही, २३

१०५. चित्तविशुद्धि प्रकरण, श्लोक १८

१०६. माया प्रपंच रचना न च मे विकारः
× × ×
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्।
—गोरखनाथ और उनका युग, रांगेय राघव द्वारा, पृ० १४१

१०७. न ध्यानं न च ध्याता न ध्येयो ध्येय एव च। —तेजोबिन्दूपनिषद्, अ० १
केवलंज्ञानरूपोऽहं केवलं परमोऽस्म्यहम्। —वही, अध्याय ३

१०८. सिद्धसाहित्य : धर्मवीर भारती लिखित, पृ० ४३२

१०९. गोरखनाथ और उनका युग : श्री रांगेय राघव, पृ० १४१

११०. वही, पृ० १३३

१११. वही, पृ० १८३

११२. महादेव गोरख गुष्टि : अ० २, ग्यान पटल।

११३. सिद्धसाहित्य : धर्मवीर भारती, पृ० १८७

११४. गोरखनाथ और उनका युग : रांगेय राघव, पृ० १८३

११५. वही, पृ० १७२
११६. वही
११७. 'इस्लाम के सूफी साधक' की भूमिका, पृ० १३-१४ (निकल्सन लिखित हिन्दी अनुवाद)।
११८. इस्लाम के सूफी साधक : निकल्सन कृत (हिन्दी अनुवाद), पृ० १३
११६. वही
१२०. "ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधः न अभावावसानः"।
—ब्रह्मसूत्र, शां० भा० ३-२-२२
१२१. इस्लाम के सूफी साधक, पृ० १४
१२२. वही
१२३. दर्शन दिग्दर्शन : राहुल सां० कृत, पृ० ३७
or "Outlines of Islamic culture" by A. M. A. Shastry, Banglore Press 1938, Vol. II, p. 38
१२४. 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत' : चन्द्रबली पाण्डेय कृत, पृ० २३२
१२५. Studies in Islamic Mysticism, p. 81
१२६. जिस ब्रह्म से हमारे जन्म, स्थिति, लय होते हैं। — ब्रह्मसूत्र १-१-२
१२७. सूफीमत साधना और साहित्य, पृ० ३८०
१२८. य एकोऽवर्णो बहुधा शक्ति-योगाद्
वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति। —श्वेताश्वतर उ०, अ० ४, मंत्र १
१२६. सोऽकामयत बहुस्यां प्रजाययेति, —तैत्तिरीय उ०, अनुवाक् ६
१३०. कुन्तो कनज़न् मख़फीयन फ़ाहबबतो अन ओरिफो फ़ख़ल क़तुल ख़ल्क।
—सूफी साधना और साहित्य, पृ० ३८३
१३१. घुमक्कड़ जिज्ञासा (निबन्ध)।
१३२. निर्गुणसाहित्य : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि —डॉ० मोतीसिंह, पृ० १७३
१३३. 'मध्यकालीन हिन्दी सन्त : विचार और साधना', पृ० ३८, सम्पादित हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद लिखित डॉ० केशनीप्रसाद चौरसिया।
१३४. वही, पृ० ३६
१३५. सुदर्शनसिंह मजीठिया का शोधप्रबन्ध : 'सन्तसाहित्य'।
१३६. डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत लिखित : 'हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि', पृ० १४७
१३६. डॉ० रामखेलावन पाण्डेय : 'मध्यकालीन सन्तसाहित्य', पृ० ४०३ (हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी प्रकाशन)।
१३८ कबीर-साहित्य की परख, पृ० ८८
१३६ काव्यमीमांसा, अ० ११, पृ० १५१, बिहार राष्ट्रभाषा प्रकाशन, १९५४ ई०

१४०. "छाया मनुहरति कवि: कुकवि: अर्थं पदादिकं चौरः ।
सर्वप्रबन्ध हर्त्रे नमस्तु तस्मै कवि चौराय ।।"
—(कविरहस्य, पृ० ७६ से उद्धृत) सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ६०, संस्करण संवत् २०१७

१४१. तैत्तिरीय उ०, ब्रह्मानन्द वल्ली : अनुवादक ७, "रसो वै सः । रस ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।" तथा वही भृगुवल्ली अनुवाक ६, "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् ।" इसी प्रसंग में बृहदारण्यक उ० में अध्याय २ : ब्राह्मण ५ में मधुविद्या को भी देखना चाहिए ।"

१४२. शंकराचार्य कृत षट्पदी, सौन्दर्य लहरी आदि स्तोत्र ।

१४३. "मथुरा जावै द्वारिका, भावै जावै जगनाथ ।
साधसंगति हरिभगति बिन, कछू न आवै हाथ ।।
—सन्तसुधासार, पृ० १४६, तथा वही, पृ० १५०

१४४. भागवतपुराण १-१-१

५

ब्रह्म-आत्मा

ब्रह्मपद का विचार करते हुए सन्त निश्चलदास कहते हैं—

अन्तर बाहिर एकरस जो चेतन भरपूर।
विभु नभ-सम सो ब्रह्म है, नहिं नेरे नहिं दूर ॥[1]

उक्त परिभाषा देते हुए निश्चय ही निश्चलदास के मन में ईशउपनिषद् का गहरा प्रभाव था, जहाँ ब्रह्म या आत्मा के वर्णन में 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत:', 'तद्दूरे तद्वन्तिके' की परिभाषा को काम में लाया गया है।[2] उस ब्रह्म को 'भरपूर होना', 'एकरस होना', 'विभुता', आकाशतुल्यता[3] आदि कितने ही उपनिषत्प्रतिपाद्य विधेयों द्वारा व्याख्यात किया गया है। ब्रह्म के इस लक्षण के प्रति सभी सन्त एकमत प्रतीत होते हैं। अद्वैतवेदान्ती ब्रह्म के स्वरूप-कथन के विषय में उपनिषद् को सर्वोच्च प्रमाण मानते हैं। उपनिषद् उनके श्रुति-प्रस्थान हैं, जिनके अनुसार वे अपरिभाषेय ब्रह्म को दो रूपों में परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म का स्वरूपलक्षण[4] है—'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म'[5] अथवा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'।[6] इस स्वरूपलक्षण से ही ब्रह्म का त्रिकालाबाध्य सत्यत्व सिद्ध होता है। विश्वातीत होने से यह ब्रह्म शंकर के मतानुसार सजातीय, विजातीय, और स्वगत इन तीनों भेदों से रहित है। निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते हैं कि सत्यता, ज्ञान, आनन्दमयता, अनन्तता, ब्रह्म के ये गुण उसके विशेषण या विधेय नहीं जो उसे परिमित बना दें, किन्तु सत्य, ज्ञान, आनन्द, अनन्तता उसका रूप हैं।

ब्रह्म का दूसरा तटस्थ लक्षण है।[7] जिसके अनुसार अस्थायी तौर से ब्रह्म में कुछ गुणों का समावेश होता है। ब्रह्म को विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, लय का कारण मानना उसका तटस्थ लक्षण है। यह ब्रह्म का मायावच्छिन्न सगुण लक्षण है। पारमार्थिकी दशा में 'नेति', 'नेति' या 'अवर्ण्य' आदि पदों द्वारा उसके निरु-पाधिक स्वरूप का ही कथन होता है। अतः निरपेक्षता, स्वप्रकाशता, अद्वितीयता उसके अनिवार्य लक्षण माने गए हैं, छान्दोग्य में ब्रह्म का ही भूमा के रूप में कथन

किया गया है। "जहाँ न कोई सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, वही भूमा है, अमृत है, महान् है, सुख स्वरूप है। जो 'अल्पम्' है वह नाना है अतः मरणशील है।"[८] ऐसे ब्रह्म के अस्तित्व को शंकर सिद्ध करना चाहते थे। उन्होंने ब्रह्म को 'प्रत्यगात्मा', अर्थात् सबके अनुभव में आने वाले अपने आत्मा के रूप में ब्रह्म का होना सिद्ध किया। कोई भी ऐसा आदमी नहीं जिसे अपने अस्तित्व का प्रत्यक्ष बोध नहीं होता। अतः सर्वात्म के रूप में ही ब्रह्म है।[९]

दूसरा तर्क है कि जगत् की वस्तुओं में एक क्रम-संघटन तथा अन्विति है जिसका कारण कोई चेतना ही हो सकती है। जड़ता नहीं। यह चेतना ही ब्रह्म है।[१०] तीसरे शंकर कहते हैं कि शून्यवादियों की धारणा के अनुसार जगत् का स्वप्न होना संगत नहीं। जगत् का यथार्थबोध तो हमें बराबर होता है। जगत् की इस यथार्थता का कारण शून्य नहीं हो सकता। सत् ही हो सकता है। अतः ब्रह्म सत्स्वरूप है।[११]

ब्रह्म शब्द को लेकर पाश्चात्य विद्वानों ने कुछ अटकलें लगाई हैं। हौग और ड्यूसन का विश्वास है कि ब्रह्म शब्द का मूल अर्थ ऐसी प्रार्थना था जो हमारी चेतना को ऊर्ध्वगामिनी करती थी। 'बृह्' धातु से इसकी निष्पत्ति ऐसी प्रार्थना के अर्थ में है जो निरन्तर संवर्धनशील है। कालान्तर में सत्य के अर्थ में इस शब्द का उत्कर्ष हो गया।[१२] रॉय का कहना है कि ब्रह्म शब्द के अर्थ के विकास में तीन परिवर्तन हुए हैं। पहले यह देवों के प्रति प्रेरित इच्छाशक्ति के रूप में, फिर पवित्र नैतिक नियम के रूप में, फिर परमसत्ता के अर्थ में बदल गया। ओल्डन-वर्ग भी एक तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक की तरह इसके परमसत्ता के अर्थ में रूढ़ हो जाने के विकास की दो मंजिलें मानता है। एक तो वैदिक बहुदेववाद के युग में ब्रह्मशब्द जादू वशीकरण अथवा मायावी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ। दूसरी अवस्था में ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ में प्रयुक्त पवित्र मन्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ। धीरे-धीरे यह शब्द उस प्रकृति-शक्ति के अर्थ में चल पड़ा जो विश्व का मूल कारण है।

मैक्समूलर बृहस्पति और वाचस्पति जैसे समानार्थक शब्दों से ब्रह्म शब्द की तुलना करते हुए कहते हैं कि इसका मूल अर्थ 'वाक्' रहा होगा।[१३] मैक्डानल ने विद्वतापूर्ण ढंग से ब्रह्म शब्द के विभिन्न अर्थों की ओर संकेत किया है। उन्होंने अपने कोश में ब्रह्म का अर्थ पवित्र विस्तार, व्यापक पूर्णता, समर्पण, पवित्र-प्रवचन, आप्तवाक्य आदि अर्थ दिए हैं।[१४] किन्तु इधर भारतीय दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए डॉ० राधाकृष्णन् का कहना है कि भारतीय व्याख्याकार ब्रह्म का अर्थ बृंहण करते हैं। जिसका अर्थ है—वह यथार्थ सत्ता जो बढ़ती है, उच्छ्वास लेती है या उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करती है।[१५] उपनिषदों में पग-पग पर यथास्थान ब्रह्म की चर्चा की गई है। तैत्तिरीय उपनिषद् की तीसरी वल्ली में वरुणपुत्र भृगु अपने पिता से ब्रह्म के विषय में प्रश्न करता है। पिता उसे ब्रह्म के

सामान्य लक्षण बताकर उसे यहीं कहीं खोजने के लिए प्रेरित करता है। लक्ष्य की खोज में वह कभी उन लक्षणों की सामान्यता के आधार पर कभी प्राण को, कभी मन को, कभी विज्ञान को ब्रह्म समझ बैठता है। किन्तु अन्त में उसे अनुभव होता है कि ये मन, प्राण और बुद्धि सर्वथा अपूर्ण है। अतः इनसे ऊपर उठकर ही अपनी खोज समाप्त की जा सकती है। यहीं उसे अभेदानुभूति होती है। केनोपनिषद् में विधिनिषेधपरक उक्ति से उसे समझाया गया है कि मन को जो मनन शक्ति देता है, प्राण को प्राणनशक्ति देता है, मन-प्राण जिसे कुछ नहीं दे पाते वही ब्रह्म है।[१६] इसलिए शंकर के अनुसार यह ब्रह्म स्वरूपतः गुणातीत निरुपाधिक होने से अव्याख्येय यथार्थ सत्ता है। किन्तु यह ब्रह्म स्वेच्छा से मायावच्छिन्न होकर सगुण, अपर, विश्वग, ईश्वर, नामों से सम्बोधित होता है। इस प्रकार शंकर की परिभाषा में हमें रामानुज के चिदचिद्-विशिष्ट ब्रह्म का अन्तर्भाव भी मिल सकता है। शंकर को यह निश्चय ही मान्य है कि वह सर्वोच्च ब्रह्म-विज्ञान के स्तर पर अथवा सोपाधिक आत्मचैतन्य के स्तर पर व्यक्ति भी बन जाता है।

शांकरवेदान्त उपनिषदों के आधार पर आत्मा और ब्रह्म को एक ही मानता है।[१७] इस आत्मा की सत्ता स्वतः प्रमाणित है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि प्रमाण उसे सिद्ध नहीं कर सकते। क्योंकि आत्मा का अस्तित्व तो प्रमाणादिकों के प्रयोग से पहले ही रहता है। विवेच्य पदार्थों में ही परिणाम या विकार होते हैं। ज्ञाता का अस्तित्व तो त्रिकाल में सिद्ध है।[१८] 'जाना था', 'जानता हूँ', 'या जानूंगा' इन तीनों क्रियाओं में ज्ञेय वस्तु भले ही इधर-उधर हो जाए पर ज्ञान तीनों में विद्यमान है। आचार्य के शिष्य सुरेश्वर का कहना यथार्थ है कि प्रमाण जिससे प्रमाणित होते हैं उसे प्रमाणों से कैसे सिद्ध किया जा सकता है।[१९] इसलिए अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार यह आत्मा स्व-प्रकाश है। उसका प्रकाश किसी अन्य पर आश्रित नहीं। विद्यारण्यस्वामी ने प्राभाकर, नैयायिक, भाट्ट, सांख्य मतों के अनुसार प्रतिपादित आत्मा के परप्रकाश्य रूप का खण्डन करके[२०] आत्मा के स्वयं-प्रकाश रूप की स्थापना को वेदान्त की स्थापना कहा है। अतः स्व-प्रकाशता के कारण आत्मा स्वरूपतः अखण्ड है और सबका प्रकाशक है। अंतः उपनिषदों के इस कथन को कि "उस आत्मा के प्रकाश से सब प्रकाशित हो रहा है" परवर्ती वेदान्ताचार्यों ने श्री टी० एम० पी० महादेवन के शब्दों में यूँ व्यक्त किया है—

"Being self luminous, it illumines all other things without depending on any external aid."[२१]

स्वप्रकाश होने से ही आत्मा को साक्षी कहा गया है। इस आपत्ति, "कि कोई भी वस्तु अपनी गति का स्वयं लक्ष्य नहीं होती, इसी तरह आत्मा या बोध भी स्वयं को नहीं जान सकते हैं। अतः आत्मा पर-प्रकाय होकर ही पदार्थों को प्रकाशित करता है" के उत्तर में पूछा जा सकता है कि 'यह घड़ा है' इस प्रकार

का निश्चितज्ञान हमें कैसे हो सकता है। आत्मा के दूसरे पदार्थों के संसर्ग से प्रकाशित होने की स्थिति में हमेशा यह सन्देह रहेगा कि वस्तुतः 'घड़ा' जाना भी गया है या नहीं। अतः आत्मा की स्वयंप्रकाश साक्षिता में अविश्वास नहीं किया जा सकता। अतः यह आत्मा साक्षी भी है और बोधरूप भी।[२२] श्री शंकर के शिष्य सुरेश्वर बड़े ही मार्मिक ढंग से कहते है कि यदि आत्मा को दुःखी मान लें तो उस दुःखी होने वाले का साक्षी कौन है। जो दुःखी है वह साक्षी नहीं हो सकता और जो साक्षी है वह दुःखी नहीं हो सकता। अतः दुखादि धर्म साक्षी आत्मा के न होकर बुद्धिवृत्ति के हैं।[२३] आत्मा शुद्ध बुद्ध गुण-धर्म रहित है। गुण-धर्म उसमें निरपेक्ष होने पर भी कल्पित किए जाते हैं। वह बौद्धिक ज्ञान से अतीत है। केवल अनुभव की दशा में अनुभाव्य है। सुख-दुःख या विषयानुभूति ये बद्ध-आत्मा में ही प्रतीत होते हैं। मुक्त दशा में आत्मा निःस्वभाव है। केवल ज्ञेय जगत् की उपस्थिति के साथ ही उसके ज्ञाता रूप का उदय होता है। जगत् के अभाव में वह ज्ञानरूप हैं।[२४]

शंकराचार्य यहाँ यह स्पष्ट कर देते हैं कि आत्मा के ज्ञानस्वरूप होने में कोई कठिनाई नहीं है। अन्तःकरण से अवच्छिन्न वृत्तिमात्रज्ञान जो विषय की समीपता से होता है वास्तव ज्ञान नहीं। इन्द्रियों पर आश्रित रहने वाले ज्ञान और आत्मा के वास्तव ज्ञान को वे दो अवस्थाओं द्वारा समझाते हैं। जैसे नेत्र की दृष्टि रोगग्रस्त होने पर मिथ्या हो सकती है पर आत्मा की दृष्टि नहीं। अन्धा आदमी भी स्वप्न में 'आज मैंने अपना भाई देखा' कह सकता है।[२५] अतः आत्मा के चित्स्वरूप होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। मेरा विचार है कि ब्रह्म के उपनिषद् प्रतिपादित लक्षण 'सच्चिदानन्द' में अद्वैतवेदान्ती ब्रह्म के चित् या ज्ञान रूप का अधिक उपासक है।

ब्रह्म के सत्स्वरूप को वह सृष्टिक्रम आदि समझाने के लिए प्रकट करता है। श्री टी० एम० पी० महादेवन् कहते हैं—

"Reality is not a bare existence. It is intelligence as well"[२६]

किन्तु कार्यकारणवाद समझाने के लिए तो आत्मा के सत्रूप को ही प्रधानता देनी होगी। शंकर कहते हैं "ये प्रजाएँ केवल सत् से उत्पन्न ही नहीं हुई किन्तु अब भी उसी में स्थित हैं।[२७] इसलिए आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। वही देश, काल, भूत, भविष्यत्, वर्तमान के रूप में है। जब विश्व नामरूप धारण कर व्यक्त होता है तब नाम और रूप आत्मा की सत्ता के अन्दर विभक्त हो होकर खुलते हैं।[२८] भावरूप होने के कारण ही आत्मा आनन्द-रूप है। शून्यता तो निरानन्द स्थिति है। किन्तु आनन्दरूप ब्रह्म अधिक समवेत तत्त्व है। इसी से लीलारूप में विश्व का विकास होता है। वेदान्तियों के अनुसार आत्मा की आनन्दरूपता के

कारण ही विषय के साथ सम्बन्ध होने पर सुख का आभास होता है। क्योंकि विषय में तो आनन्द है नहीं। विषय में अगर आनन्द हो तो एक ही विषय तीनों काल में सभी पुरुषों को समान आनन्द दे। किन्तु इसके विपरीत एक को सुख देने वाला विषय उसके प्रतियोगी को दुःख देता है।[२९]

उपरोक्त समस्त विवेचन के परिणामस्वरूप हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

कि केवलाद्वैतवादी विचारकों ने उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र तीनों को आप्तप्रमाण मानकर ब्रह्म या आत्मा की श्रुतिमूलक इन परिभाषाओं को अपना ध्येय निश्चित किया 'अयमात्मा ब्रह्म', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'एक मवाद्वितीयं ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि', 'पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते', 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति', 'यत्र तु सर्वमात्मैवाभूत् तत्र कं केन पश्येत्'। 'आनन्दं ब्रह्म', 'जन्माद्यस्य यतः', 'सदेव सोम्यासीत्', 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह', 'नित्यः सर्वगतः सूक्ष्मः'।[३०]

उपरोक्त श्रुतिवाक्यों में समस्त ब्रह्मसम्बन्धी धारणाओं का संक्षिप्त समाहार आ गया है। केवलाद्वैती श्रुतिवाक्य से बढ़कर कोई प्रमाण नहीं मानते। शंकर स्वय मोक्षप्राप्ति के लिए वेद-वित् कुल में पैदा होने को यथोचित महत्त्व देते हैं। अतः केवलाद्वैती दर्शन का समस्त ढाँचा बार-बार उपनिषदों में देखना होगा।[३१]

इन्हीं उपर्युक्त अपरिभाषेय आत्मा या ब्रह्म की परिभाषाओं के आधार हम हिन्दी सन्त-साहित्य में ब्रह्माद्वैत के एक पक्ष का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत करेंगे। भारतीय दर्शन-परम्परा का हिन्दी के सन्तों में एक युगव्यापी प्रकाश उतरा है जो अपने आलोक से उतना ही अभिन्न है जितने की अन्य भारतीय दर्शन। पाश्चात्य दर्शन की बुद्धिवादिता को यदि हम अतिरिक्त महत्त्व न दें तो हमें स्पष्ट पता चलेगा कि यहाँ की समस्त दार्शनिकता अनुभूति-जन्य पद्यों में ही हुई है। क्योंकि सत्य की अपने समवेत रूप में अभिव्यक्ति बौद्धिक मतवादों में हो नहीं पाती। फलतः अन्तः-प्रज्ञा, जहाँ दर्शन और अध्यात्म-अनुभूति मिलकर रहते हैं वहीं से उसके आलोक का उदय होता है। फलतः हिन्दी के कई सन्त भी उसी प्रज्ञा के भागी रहे हैं। उन्होंने अपनी पूर्व परम्परा से महनीय ढंग से ग्रहण किया है और उसी तरह दिया भी है। आदित्य के प्रकाश को ब्रह्मज्ञान का प्रतीक मानकर कहने वाले "कि मैंने उस आदित्यवर्ण पुरुष को जान लिया है"[३२]

ऋषि की तरह कबीर भी कह उठते हैं—

अब मैं पाइबो रे पाइबो रे ब्रह्मगियान
अविगत अकल अनूपम देख्या, कहता कहया न जाई
आपे में तब आपा निरख्या, अपन पै आपा सूझ्या।[३३]

उनका अभेद-चिन्तन यहाँ तक पहुँच जाता है कि उन्होंने जबसे आत्मतत्त्व का विचार करना शुरू किया वे 'निरवैर' एवं विषय-रहित हो गए। उन्हें सबमें एक ही आत्मा दिखने लगी—व्यापक ब्रह्म सवन में एके को पण्डित को जोगी।[३४] वह ब्रह्म उन्हें इस विश्व में "आत्म-रति और आत्मक्रीडा करता हुआ लगता है" इनमें आप आप सबहिन में आप आप सूं खेले।[३५]

केवलाद्वैत की यह अनुभूति "कि नाम-रूप का भेद तो मिथ्या है। भिन्न-भिन्न मटकों का आकार चाहे कितना ही भेदमूलक हो पर वस्तुतः मिट्टी ही सत्य है" कबीर के अनुभव में कैसे प्रतिफलित हुई है—

"नाना भाँति घड़े सब भांडे, रूप धरे धरि मेले।"[३६]

ब्रह्म ही वस्तुतः स्व-रति में लीन होकर अपनी माया अपने पर ओढ़ लेता है। यही उपाधि है जिसके कारण वही ब्रह्म जीव बन जाता है। वेदान्तियों के अनुसार यह उपाधि-विलय ही मोक्ष है। कबीर इसी सिद्धान्त को प्रकट करते हुए कहते हैं—

पाणी ही ते हिम भया हिम है गया विलाई,
जो कुछ था सोई भया अब कुछ कह्या न जाई।[३७]

बूंद और समुद्र[३८], कनक और कुंडल आदि अद्वैतवेदान्तियों के प्रसिद्ध दृष्टान्तों को कबीर ने ब्रह्म के रूप-प्रतिपादन के लिए सीधे ग्रहण किया है।

यद्यपि सन्तों ने ब्रह्म और आत्म शब्द का उसी अर्थ में प्रयोग किया है जिसमें अद्वैतवेदान्ती करते हैं तो भी ब्रह्म को अन्य लोक-प्रचलित नामों का भी प्रयोग किया है। जैसे राम, हरि, गोबिन्द, दीन-दयालु, मुरारि, ईश्वर, निरंजन, अल्लाह, परमेश्वर, पुरुष, साहब, ओंकार। किन्तु इन प्रयोगों से ब्रह्म के वास्तव-रूप में कोई अन्तर नहीं आता। गोविन्द के रूप में या राम के रूप में तात्त्विक अन्तर सन्तों ने कहीं नहीं देखा, इसी से उन्होंने कहा कि मूलतः वह एक है, वही सत्य है, निराकार है, निर्गुण है। सन्त रविदास कहते हैं—

निश्चल निराकार अति अनुपम निरभै गति गोविन्दा
अगम अगोचर, अक्षर, अतरक, निर्गुण अति आनन्दा"[३९]
आदि अन्त औसान एक रस एक तार ही भाई
थावर जंगम कीट पतगा, पूरि रह्यो हरि राई
सर्वेश्वर, सर्वांग सब गति, कर्ता हर्ता सोई
सिव न असिव साध अरु सेवक, उने भाव नहि कोई।"[४०]

एक शंका उठाकर उसका समाधान करते हुए कहते हैं—

आदि हु एक, अन्त पुनि सोई मध्य उपाधि जु कैसे ?
है ये एक पै भ्रम सूं दूजो कनक अलंकृत जैसे॥[४१]

स्वामी रामानन्द शास्त्री सन्त रविदास के इस ब्रह्म-वर्णन में उपाधि, भ्रम, कनक और अलंकार की बात से यही मानते हैं कि ब्रह्म और आत्मा के परस्पर सम्बन्ध के विषय में सन्त रविदास शंकर के अद्वैतवाद के अनुयायी थे।[४२] मैं समझता हूँ कि रविदास शंकर के अनुयायी हों या ना हों किन्तु एक महत्त्वपूर्ण बात सामने आती है कि रज्जु में सर्प की भ्रान्ति, कनक-कुण्डलन्याय, 'जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी' या 'सलिल गबन कियो लहर महोदधि जल केवल जल मांहि'[४३] ब्रह्मजीवैक्य सम्बन्धी युक्तियों का पता इन अनपढ़ सन्तों को कहाँ से भला चला। उपनिषदों में इन युक्तियों को उतना नहीं उभारा गया जितना शंकर के मायावाद में। इसलिए उपनिषदों के चिन्तन के समीप सन्तों के मानने वालों को यह सोचना होगा कि उपनिषदों का चिन्तन सन्तों तक किन साधनों से पहुँचा होगा। दूसरे शंकर के वेदान्त का प्रभाव यदि जन-सामान्य से परे ही रहा तो इन अनपढ़ और निम्न श्रेणी से आने वाले सन्तों को इन केवलाद्वैत के प्रमुख न्यायों व सिद्धान्तों का पता कैसे चला? मज़े की बात यह है कि ब्रह्म अथवा आत्मा के स्वरूप-प्रतिपादन के लिए विभिन्न सन्तों ने जो भी युक्तियाँ ली हैं वे सब शांकर वेदान्त द्वारा समर्थित उपनिषदों की व्याख्याएँ हैं। कहीं भी गिनती के कुछ एक पदों को छोड़कर, "जिनमें उन्होंने ब्रह्म को सोपाधिक मायावी, उपास्य, कर्ता या ईश्वर माना है", कहीं भी एकेश्वरवादी या विशिष्टाद्वैतवादी प्रभाव को नहीं ग्रहण किया। सत्य की त्रिकालाबाध्यता की परिभाषा देते हुए कबीर कहते हैं—

"उपजै विनसै सत सोनांहि"

अथवा

"साँच सोई जे थिरह रहाई, उपजै विनसे झूठ ह्वै जाई"[४४]

यह सत्य एक ही नहीं अद्वितीय भी है। छान्दोग्य-भाष्य में शंकर 'एकमेवाद्वितीयम्' की व्याख्या जैसे करते हैं कबीर भी उसी स्वर में बोलते हैं—

"आतम राम अवर नहि दूजा"[४५]

ज्ञानी को अन्दर और बाहिर उसी एक सत्य की अनुभूति होती रहती है। पिंड और ब्रह्माण्ड में वही एकमात्र विद्यमान है।[४६] मैं सबमें हूँ और सब मुझमें हैं का प्रत्यक् ज्ञान ही मुक्ति-कर है।[४७] अतः जब साधक स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है तो फिर वह ब्रह्म को सर्वत्र आसपास, सर्वत्र पूर्ण देखता है।[४८] यह ब्रह्मात्मैक्यानुभूति ही उसका अन्तिम ध्येय है। स्व० डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल अद्वैतवेदान्त के आलोक में सन्त-साहित्य का मनन करते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि "मेरा यह अभिप्राय नहीं कि इन निरक्षर साधु-सन्तों ने पोथियाँ लेकर उपनिषदों का अध्ययन किया था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे उपनिषदों के सिद्धान्तों और उपदेशों से सर्वथा परिचित थे। जान पड़ता है कि मध्ययुग के आचार्यों के कारण

सारा धार्मिक वातावरण वेदान्त से ओत-प्रोत हो गया था, जैसा कि आज भी है।"[४६]

वस्तुत: युगों के बाद उपनिषदों को शंकर जैसा अपूर्व व्याख्याता मिला था। उन्होंने उपनिषदों के सहारे जिस निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन किया। उसके विषय में उन्होंने स्वयं यह बात मान ली थी कि वह 'वाङ्मनसागोचर' है। उस ब्रह्म को निर्विशेष या निर्विकल्प, कहना भी असंगत ही है। क्योंकि वह कहीं 'है' और 'न' के बीच मौन में ही अनुभाव्य है।[५०] सन्तों ने इस तथ्य को एक बार नहीं हज़ारों बार गाया है। कभी वे कहते हैं कि उस ब्रह्म के विषय में मुँह खोलने मात्र से ही तत्त्व नष्ट हो जाता है।[५१] अत: वह अबोल है। उसके विषय में जो कोई कुछ भी कहेगा उसे पछताना पड़ेगा।[५२] क्योंकि वह अपूर्ण ही होगा। वह इन्द्रियातीत तो है ही पर बुद्धि से भी अचिन्त्य है।[५३] इसी से शायद कबीर ने प्रश्नात्मक शैली में कहा कि वहाँ कुछ है भी या नहीं ?[५४] सुन्दरदास तो स्पष्ट ही यहाँ दार्शनिकों के अत्यन्ताभाव को केवल उसकी निर्विशेषता की सिद्धि के लिए ही प्रयुक्त करते है।[५५] अत: वह अतर्क्य पद है। तर्क से वहाँ पहुँचने की इच्छा रखने वाला मूर्ख है। द्वैत को उसमें तर्क द्वारा सिद्ध करने वालों की अकल एकदम मोटी है।[५६] इस प्रकार हम इस तथ्य पर बार-बार पहुँचते हैं कि इन सन्तों का अद्वैतवेदान्तियों की तरह पूरा ब्रह्मतत्त्व की अपरोक्षानुभूति पर ही जोर है। कबीर, दादू, सुन्दरदास, जगजीवनदास, भीखा, मलूकदास आदि सन्तों ने सबसे अधिक मात्रा में अद्वैत-वेदान्त का प्रभाव ग्रहण किया है। नानक में अद्वैतवेदान्त का प्रभाव संकर हो गया है। इसी से कहीं-कहीं वे एकेश्वरवादी 'हुकुम' की चर्चा करते हैं। शिवदयाल दरियासाहिब, बुल्लेशाह, प्राणनाथ आदि सन्त अद्वैतवेदान्त के सोपधिक ब्रह्म के अधिक प्रभाव में हैं। निर्विशेष ब्रह्मानुभूति में वे कम रमते हैं।

हम पीछे आत्मा की व्यापकता या बृंहण-शीलता की बात कह आए हैं। उस आत्म के विस्तार से कुछ भी बाहर नहीं। उसके सर्वव्यापक होने की अनुभूति इन सन्तों को हुई तो उन्होंने भी 'पूर्णमद: पूणमिदं' के लहजे में ही कहा "खालिक खलक खलक महं खालिक सब घर रह्या समाई।"[५७] मन्दिर मस्जिद से निरपेक्ष उस ब्रह्म को दादू ऐसे ही विश्व में व्याप्त मानते हैं जैसे कि दूध में घी व्याप्त रहता है।[५८] इसीलिए सन्त की जहाँ भी दृष्टि जाती है वहीं उसे अपने परमेश्वर के दर्शन होते हैं।[५९] अत: उस परिपूर्ण ब्रह्म को अनुभव कर लेने के बाद ज्ञानी इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि ब्रह्मदृष्टि से तो समस्त आत्माओं में एकता है। काया की दृष्टि से देखें तो सर्वत्र अनेकता है। अत: ब्रह्म-दृष्टि ही सत्य है।[६०]

अद्वैतवेदान्त के अनुसार आत्मा चित्स्वरूप अथवा स्वयं प्रकाश भी है। उपनिषद् एवं शांकर वेदान्त के अनुसार शुरू में ही हमने आत्मा की इस स्व-प्रकाशता का विचार किया है। सन्त आत्मा के इस पक्ष की ओर भी जागरूक हैं।

सन्त सुन्दरदास आत्मा की इस स्व-प्रकाशता का बहुत ही मार्मिक प्रकाशन करते हुए कहते हैं "कि जैसे दीपक अपनी ज्योति से ही प्रकाशित होता है अथवा हीरा अपने ही तेज से दमकता रहता है उसी प्रकार आत्मा भी अपने चित्प्रकाश से प्रकाशित है।"[६१] आत्मा के चैतन्य को लेकर भी सन्तों ने पूर्णतः अद्वैतवेदान्त का अनुगमन किया है। भारतीय दर्शन में आत्मा के चैतन्य को लेकर बीसों झगड़े हैं। नैयायिक चैतन्य को आत्मा में विषय-सम्पर्क से आया हुआ गुणमात्र मानते हैं। इसी से नैयायिकों और वैशेषिकों की आत्मा मूलतः जड़ है। इधर मीमांसक आत्मा में ज्ञान और अज्ञान दोनों को एक साथ मानते हैं। किन्तु शंकर ने इन समस्त मतों का बोध करके आत्मा को चेतनरूप स्वयं-ज्योति प्रमाणित किया है।[६२] सन्तों को भी आत्मा का यही रूप स्वीकार्य हुआ। सुन्दरदास ने आत्मा का लक्षण करते हुए उसे अनुपम, साक्षी एवं चैतन्यरूप कहा है।[६३] यह आत्मा नितान्त अरूप एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म है।[६४] आचार्य शंकर ने आत्मस्वरूप-वर्णन में जहाँ 'दशश्लोकी' एवं 'षट्श्लोकी' आत्मस्तोत्रों द्वारा आत्मा को समस्त भूत-योनियों पाँचभूतों, समस्त गुणधर्मों से पृथक् कर उसे चिद्रूप केवल ब्रह्म कहा है। उसी प्रकार उन्होंने 'मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहम्' अर्थात् मैं मन, बुद्धि, अहंकार एवं चित्त नहीं हूँ कहकर आत्मा को मन प्राण जीव से भी उसे नितान्त भिन्न किया है।[६५] घटाकाशादि के दृष्टान्तों द्वारा वेदान्ताचार्य स्पष्ट करते हैं कि देह के संयोग से ही आत्मा जीवरूप में भासता है।[६६] जैसे छिलके वाला धान या चावल बोया जाकर उगता और कटता है किन्तु छिलके से रहित चावल होकर वह भविष्य में उगने से रहित हो जाता है। ऐसे ही आत्मा जीवत्व उपाधि से मुक्त जन्म-मरण रहित है।[६७] आत्मा की इस गुत्थी को जरा धैर्य और विवेक से सुलझाया जा सकता है। जिस प्रकार वायु द्वारा जल के हिलने से काँपते हुए सूर्य के प्रतिबिम्ब के बहने का भ्रम होता है ऐसे ही देह, मन, प्राण के कर्मों से अपने में कर्तृत्वाकर्तृत्व का भ्रम हो जाता है।[६८] मूलतः आत्मा और ब्रह्म सदैव एक है। इसी से कबीर, सुन्दरदास, गुलाल आदि सन्तों ने आत्मब्रह्मैक्य माना है।[६९] सुन्दरदास की रचनाओं में तो आत्मतत्त्व की चिद्रूपता को बार-बार वर्णित किया है—

तैसेहु सुन्दर आतम जानहु आपु के ज्ञान तें आपु प्रकासै[७०]

दादू भी व्यापक ब्रह्म के स्वप्रकाशरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि बिना किसी बाह्य-प्रकाश की सहायता के ही उस ब्रह्म के प्रकाश में दसों दिशाएँ उद्भासित हैं।[७१]

आत्मा की आनन्दरूपता को सन्तों ने बहुत ही अधिक परिमाण में व्यक्त किया है किन्तु उसमें उन्होंने अपने प्रेम एवं भक्ति-जन्य आह्लाद को मिश्रित कर

दिया है। अनिर्वच आनन्द का ही उपलक्षण रस को माना गया है। यह रस उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म का ही रूप है। यह रस ही है जिसे पाकर जीव आनन्दित हो जाता है और इसी में प्रविष्ट हो जाता है।[७२] वेदों में वर्णित मधु रस का प्राग् रूप है। इसी से आनन्दमयी दशा को अद्वैतवेदान्तियों ने मधुमती भूमिका कहा है जहाँ साधक की प्रज्ञा समस्त को अतिक्रान्त कर आनन्दमयी हो उठती है।[७३] ब्रह्म-सूत्र में शंकर ने 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' सूत्र की व्याख्या में आत्मा की आनन्दमयता को और अधिक स्पष्ट किया है।[७४] आनन्द वस्तुतः निर्विशेष आत्मा का ऐसा रूप है जो उसके सत्-चेतन, रूप की अपेक्षा अधिक समवेत होने के कारण अनुभव किया जा सकता है। इसलिए यह अधिक मूर्त है। रामानुज ने इसी आधार पर विश्व को चेतनब्रह्म के आनन्दरूप की लीला-स्थली मान लिया और उसे सगुण कहा। क्योंकि आनन्दरूप में विकार होना उन्होंने मान लिया।[७५] किन्तु शंकर ने उपरोक्त सूत्र की व्याख्या में ब्रह्म की निर्विशेषता को हर स्थिति में बनाए रखने के लिए आनन्दमय शब्द में संयुक्त विकार-वाचक मयट् प्रत्यय का व्याकरण द्वारा ही प्राचुर्य या सघनता अर्थ सिद्ध किया। और कहा है कि यह ब्रह्म के आनन्दरूप की असीमता का ही परिणाम है, जो यह मानवीय सृष्टि से लेकर देवसृष्टि तक आनन्द ही आनन्द भरपूर है।[७६] निर्गुण काव्यधारा के सन्तों ने भी आत्मा की आनन्द-मयता की यथास्थान चर्चा की है। सन्त चरणदास एक स्थान पर केवल ब्रह्म के आनन्दरूप का चित्रण करते हुए कहते हैं कि यह आनन्द अखण्डानन्द है और अद्वितीय है[७७]—

आदि हुं आनंद, अंत हु आनंद मध्यहुं आनन्द ऐसे हि जानो
बंध हुं आनंद मुक्त हूं आनंद आनंद ज्ञान अज्ञान पिछानो
लेटेहु आनंद बैठे हु आनंद डोलत आनंद आनंद आनौ
चरनदास विचारि सबै कछु, आनंद छांडि कै दुक्ख न ठानौ

अमृत या रस के प्रतीकों से सन्तों ने ब्रह्मानन्द का अधिक वर्णन किया है। सन्त की यह आनन्दोपलब्धि महान् है। नानक ब्रह्म के स्वरूप-वर्णन में कहते हैं कि वह ब्रह्म स्वयं ही रसिक है, स्वयं रसरूप है, स्वयं उस रस का भोक्ता है।[७८] इसी रस को कभी-कभी सन्तों ने 'राम-अमल' अर्थात् राम रूप नशा (आनन्द) भी कहा है कबीर कहते हैं कि इस राम रूप नशे में जो डूब गया वह इन्द्र को भी रंक मानने से बाज नहीं आता।[७९] दादू भी इस रस से नितान्त परिचित हैं। वे कहते हैं कि इस मीठे राम-रस को कोई ज्ञानी साधु ही पी पाता है। जिसने इस प्रेम-रस को पिया वह अमर हो गया। इसी रस को पीकर नामदेव, कबीर, पीपा और रैदास कभी नहीं थके।[८०] इससे भी बढ़कर आगे दादू कहते हैं कि इस मीठे रस को जिसने पिया वह रस में ही डूब गया। मीठा मीठे में मिल गया अब दादू और कहाँ

जाएगा ?[८१] दादू का ब्रह्मानन्दबोध निश्चय ही बहुत गहरा था। कबीर तो इस आनन्दरूप पर इतने मोहित थे कि इस आनन्द के क्षणिक साक्षात्कार के बदले में अपना सर्वस्व अर्थात् जप, तप, साधना, तक देने को तैयार थे।[८२] यह आनन्द ब्रह्म के अन्य स्वरूपों की तरह ही अनिर्वच है अकथ्य है। कबीर इसे 'गूंगे के गुड़' से उपमित करते हैं तो रहीम इसे सीधे अगम्य और कहने-सुनने से बाहिर मानते हैं।[८३] सन्तों ने भी कहीं-कहीं पर वेदान्तियों के ढंग पर आकाश को ब्रह्म का उपलक्षण मानकर उस अगम्यपद का चित्रण किया है। शांकर वेदान्त में आकाश की अलिप्तता, व्यापकता आदि गुणों को देखकर उसे ब्रह्म का प्रतीक माना गया है।[८४] घटाकाश, मठाकाश और महाकाश के उदाहरणों से जीवब्रह्मैक्यवाद समझाने की प्रणाली काफी प्राचीन है। सन्तों में निश्चलदास ने तो विचार-सागर में इसी प्रकार का स्थान स्थान पर आश्रय लिया है किन्तु उपनिषदों की बोली में ही 'खं ब्रह्म' कहने वाले सन्त सुन्दरदास भी हैं—

"देखौ भाई ब्रह्माकाश समान
पर-ब्रह्म चैतन्य व्योम जड़ यह विशेषता जान
दोऊ व्यापक अकल अपरिमित, दोऊ सदा अखंड।
दोऊ लिपैं छिपैं कहुं नाहिं पूरन सब ब्रह्मण्ड।
ब्रह्म मांहि यह जगत् देखियत व्योम मांहि घन योंही"[८५]

सन्तों के परम पद पर भी ब्रह्माद्वैत की छाया है। वेदों ने जिसे परमे-व्योमन् और रजस् से रहित पद कहा है। वह ब्रह्म का ही मायातीत रूप है। समझने के लिए उपनिषत्कारों ने ब्रह्म के जिन चार पादों की कल्पना की है, शंकर ने उनकी वैज्ञानिकता का समर्थन किया है। ब्रह्म के तीन पादों की वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ संज्ञा है। प्राज्ञ सगुणोपाधि ईश्वर की संज्ञा है।[८६] इससे भी परे ब्रह्म का जो तुरीय रूप है जिसमें वह समस्त प्रपंच से परे गुणगणों से रहित होकर विराजता है वही परम पद है। इसे शायद पाद भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यहाँ गुणातीत होने से वह अनिर्वच है। वेद में भी ब्रह्म के गायत्री रूप में वर्णन को पहले एकपाद्, द्विपाद्, त्रिपाद्, चतुष्पाद् कहकर फिर अपाद (पादरहित) कहकर फिर तुरीयपद को नमस्कार कहा है।[८७] सन्तों में ऐसे वर्णन पर्याप्त मात्रा में मिलेंगे जिनमें ब्रह्म के परमपद का बार-बार स्मरण है। चरणदास कहते हैं कि भाई वह ऐसा देश है जहाँ जो पहुँच जाता है वह बिना किसी साधन के अखण्ड भाव से जन्म-मरण रहित होकर विराजता है।[८८] कबीर भी 'परमपद' और 'चउथे पद' को समानान्तर कहकर ब्रह्म के उसी तुरीय पद को पाने को सदा आतुर हैं।[८९] सन्त सुन्दरदास तो तुरीयपद से ऊपर जहाँ उपाधिमात्र का अत्यन्ताभाव है वहाँ उस ब्रह्मपद की कल्पना करते हैं।[९०] इस प्रकार हम यह मानने को बाध्य हो जाते

हैं कि सन्तों को ब्रह्माद्वैत का पर्याप्त मात्रा में शास्त्रीयज्ञान श्रवण और सत्संग आदि द्वारा उपलब्ध हुआ था। उनकी ब्रह्मानुभूति का शास्त्रानुमोदन हमें कई जगह मिलता है। भीखा कहते हैं—

"सतगुर ग्यान वेदांत मता जोई भीखा खोलि लिखा सोई बांचि"[६१]

वेदान्त के दृष्टान्तों के आधार पर ही ब्रह्म की अद्वितीयता का वर्णन वे करते हैं—

नाम एक सोन आस, गहना है द्वैतभास
कहूं खरा खोट रूप हेमहि आधार है
फेन बुदबुद अरु लहरि तरंग बहु
एक जल आनि लीजै मीठा कहुं खार है।[६२]

सन्त चरणदास जहाँ ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय तथा ध्याताध्यान ध्येय की त्रिपुटी से परे उस निर्विशेष ब्रह्म को मानते हैं[६३] वहाँ वेदान्त के परमाचार्य शुकदेव को भी बार-बार स्मरण करते हैं। गुलाल साहेब तो उस निर्विशेष ब्रह्म के वर्णन में केवल अभेद ज्ञान को आधार मानकर चौथे पद से भी परे उस ब्रह्म को पाने की बात कहते हैं।[६४]

ब्रह्म के तटस्थ लक्षण का विचार सन्तों ने बहुत किया है उसे हम आगे ईश्वर प्रकरण में देखेंगे।

संयुक्त विज्ञप्ति एवं सन्तों और वेदान्तियों की ब्रह्म-दृष्टि

यद्यपि 'सत् चित् और आनन्द' ब्रह्म का स्वरूपलक्षण किया गया है, तो भी वेदान्तियों का ब्रह्म के चित्स्वरूप पर अधिक जोर है। चित् और ज्ञान को वे पर्यायवाची मानते हैं। इस चेतनरूपता या ज्ञानरूपता में ही ब्रह्म के सत् और आनन्दरूप को वे समवेत कर लेते हैं। अतएव मोक्ष दशा में वे ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय इन तीनों ज्ञाप्तियों के एकरूप हो जाने की बात कहते हैं। सन्त भी यही कहते हैं कि भ्रम या माया की निवृत्ति ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। बार-बार अपने आपको जानने की ओर ही सबका आग्रह है। कारण यह कि ज्ञान तीनों कालों में ब्रह्मरूप होने से अबाधरूप से स्फुरण हो रहा है। अतः ब्रह्म को ज्ञानरूप मानने में केलाद्वैती कुछ युक्तियाँ देते हैं—

१. ज्ञान आत्मा का स्वरूप है अतः स्वतः-प्रमाण है। क्योंकि विषयों की प्रकाशक इन्द्रियाँ मन प्राणादिकों से वह पूर्ववर्ती होने से सबका प्रमाणकर्ता है। उसका कोई प्रमाणक नहीं।

२. ज्ञान स्वयं-प्रकाश है। किसी भी प्रमाण द्वारा ज्ञान का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। क्योंकि सभी बौद्धिक चेतन व्यापार उससे प्रकाश लेते हैं।

फिर वैसे भी अभाव स्वयं भी तो ज्ञान ही है।

३. ब्रह्म कालातीत है। काल का विश्लेषण करें तो यही पता लगता है कि भूत, भविष्यत् या वर्तमान हमारे कल्पित या ज्ञान-सापेक्ष मानदण्ड हैं। अतः ज्ञान-सापेक्ष या संविन्मात्र कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो संवित् का ही स्वरूपावरण कर सके। अतः चैतन्य कालपरिच्छिन्न भी नहीं कहा जा सकता।

४. इसी प्रकार से दिक्-परिच्छिन्न भी चेतन नहीं हो सकता। क्योंकि पूर्व पश्चिम आदि दिशा भी हमारी ही कल्पनाएँ हैं। उनका भी अस्तित्त्व ज्ञान में ही सिद्ध होता है। अतः चेतना दिक्परिच्छिन्न भी नहीं। योगवासिष्ठ में तो ज्ञाता और ज्ञेय को एकरूप मानकर ज्ञानस्वरूप ही कहा गया है। अगर ज्ञाता और ज्ञेय (दिक् एवं काल आदि) समान जाति के (ज्ञानरूप) न हों तो असमान जाति वालों में सम्बन्ध ही नहीं बनता। अतः समस्त विश्व के ज्ञानरूप होने से कोई भी उसका स्वरूपावरण नहीं कर सकता। ज्ञाता ज्ञेय का भेद सिर्फ औपाधिक है।

५. ज्ञान में यथार्थ और अयथार्थ का भेद भी नहीं हो सकता। व्यवहार-दशा में किए गए ज्ञान के सच्चे और झूठ के भेद भी कल्पित ही हैं। यथार्थ केवल ज्ञान है। अंधेरे में रज्जु में सर्प की प्रतीति (ज्ञान) में सर्प भले ही मिथ्या हो पर प्रतीति या ज्ञान मिथ्या नहीं है। अतः ज्ञान में किसी प्रकार का प्रकार-भेद या वर्गीकरण भी नहीं हो सकता।

६. चिद्रूप ब्रह्म में कार्यकारण की कल्पना भी नहीं की जा सकती। 'चित् हीदं सर्वम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि वाक्यों द्वारा चित् रूप ब्रह्म की एकरूपता ही सिद्ध होती है। जब दूसरा है ही कोई नहीं तो कार्यकारण की कल्पना ही असंगत है। जिज्ञासुओं के क्रमिक बोध-विकास के लिए ही शास्त्रों में ब्रह्म में कार्य-कारण भाव को स्वीकार किया गया है। अपरिच्छिन्न तत्त्व में कार्यता और कारणता कहाँ ?

७. अतः सर्वथा अपरिच्छिन्नरूपता के कारण ब्रह्म, आत्मा, चित्, संवित्, विश्व सभी समानार्थक हैं। फलतः वेदान्त का प्रतिपाद्य भी यही है कि व्यक्ति और विश्व में ब्रह्मरूपता स्थापित कर वस्तु देशकाल आदि से अविभाज्य चैतन्य आत्मा और ब्रह्मचैतन्य का व्यक्ति के अन्दर ही प्रत्यक् बोध करा दिया जाए। सदानन्द के अनुसार ब्रह्म साक्षात् या प्रत्यक्ष रूप में सीधे स्फुरण होने वाला तत्त्व है[६५]— 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (दे० वेदान्तसार की ब्रह्म परिभाषा, पृ० ५८, प्रत्यगभिन्नं परब्रह्ममात्रं भवति।)

सन्दर्भ

१. विचारसागर, दोहा ६०

२. "वही सबके अन्दर और बाहर है। वह दूर भी है, पास भी है।"
—ईशोपनिषद्, मन्त्र ५

३. 'आकाशस्तल्लिंगात्' —ब्रह्मसूत्र १-१-२२

४. "स्वरूपं सद् व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम्।"

५. तैत्तिरीय उ०, २-१-१

६. बृहदारण्यक उ०, ३-९-२८

७. "कदाचित्कत्वे सति व्यावर्तकं तटस्थलक्षणम्।"

८. "यत्र नान्यत् शृणोति", "नान्यत् पश्यति" —छान्दोग्य, ७-२४-१

९. पंचदशी १-६, ७, ८, और "सर्वोहि आत्मास्तित्वं प्रत्येति"
—शां० भा० ब्र० सू०, १-१-१

"नहि कश्चित् संदिग्धे अहं वा नाहं वेति" —भामती

१०. हिन्दी साहित्यकोश (भाग १), पृ० ५६७

११. वही

१२. Six systems of Indian Philosophy by Max Mullar, p. 52

१३. Ibid, p. 52 & 70

१४. "Practical Sanskrit Dictionary" p. 198 published at Oxford University Press in 1924

१५. भारतीयदर्शन (भाग १), पृ० १५०

१६. केन उ० खं० १, मन्त्र ५, ८

१७. "अयमात्मा ब्रह्म" —माडूक्य उ० २

१८. "आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमणादिव्यवहारात् सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं संभवति, आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूम्।" —ब्र० सू० शां० भा०, २-३-७

१९. यतो सिद्धिः प्रमाणानां स कथं तैः प्रसिद्ध्यति।

२०. पंचदशी प्रकरण ६, श्लोक ८८ से ९९ तक।

२१. Philosophy of Advait p. 129 अर्थात् आत्मा स्वप्रकाश होकर ही बिना किसी बाह्य सहायता के समस्त जगत् को प्रकाशित करता है।

२२. "साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च" —श्वेताश्वतर अ० ६, मन्त्र ११

२३. दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत्।
दुःखिनः साक्षिताऽयुक्ता साक्षिणो दुःखिता तथा॥ —नैष्कर्म्यसिद्धि २-७६

२४. चिद्रूपत्वादकर्मत्वात्स्यंज्योतिरिति श्रुतिः।
आत्मनः स्वप्रकाशत्वं को निवारयितुं क्षमः॥
—तत्वप्रदीपिका, पृ० २१ चित्सुखाचार्य लिखित अथवा दे० विवरण प्र० स०, पृ० ५८ पर "आत्मैव विषयोपाधिकोऽनुभव इति व्यपदिश्यते। अविवक्षितोपाधिश्चात्मेति।"

२५. "द्वे दृष्टी चक्षुषो नित्यादृष्टिर्नित्या वात्मनः।·········आत्मादृष्ट्यादीनां प्रसिद्ध मेव लोके। वदति हि उद्धृतचक्षु (अन्धः) स्वप्नेऽद्य भया भ्राता दृष्ट इति।" —ऐतरेय उ० शां० भा०, २-१

२६. आत्मा केवल सत्तामात्र नहीं वह चेतन भी है।
—Philosophy of Advait, p. 129

२७. "प्रजाः न केवलं सन्मूला एव, इदानीमपि स्थितिकाले सदायतनाः सदाश्रयाः एव।" —छान्दोग्य भाष्य, ६-४

२८. न हि आत्मनोऽन्यत्।······तत्प्रविभक्त देशकालं भूतं भवत् भविष्यद्वा वस्तु विद्यते। यदा नामरूपेयाक्रियते, तदा नामरूपे आत्मस्वरूपापरित्यागेनैव।"
—शारीरिक भा०, २-१-६

२९. "सत्‌चित् आनन्द एक तू ब्रह्म अजन्म असंग" की व्याख्या का अन्त भाग।
—विचारसागर, पृ० ४०६ और ४२८ खेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा बम्बई से प्रकाशित सन् १९५३

३०. माडूक्य उ० मन्त्र २, छां० ३-१४-१, ऐतरेय उ० ५, त्रिपाद्विभूति म० ना० उ० ३-३, बृह० उ० १-४-१०, छां० उ० ६-८-७, ईश उ० : शान्तिपाठ, श्वेताश्वतर ६-१७, बृह० उ० ४-५-१५, वही ३-९-२८, ब्र० सू० १-१-२, छां० उ० ६-२-१, तैत्तिरीय २-४-१, गीता २-२४।

३१. "तस्माद् वैदिक धर्म-मार्ग परता" —विवेक चूड़ामणि, श्लोक १

३२. "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्" —ऋग्वेद, पुरुष-सूक्त

३३. 'सन्तकाव्य' —परशुराम चतुर्वेदी सम्पादित, पृ० १८०

३४. सन्तकाव्य, पृ० १७६

३५. वही

३६. वही

३७. वही, पृ० १९९

३८. वही

३९. "सन्त रविदास और उनका काव्य"
—पद ५३, नवभारत प्रेस लखनऊ द्वारा मुद्रित

४०. वही, पद २५

४१. वही, पद ५४

४२. वही, पृ० १८८

४३. वही, पद ५२

४४. "यद्रूपेण यन्निश्चितं, तद्रूपं न व्यभिचरति यत् सत्यम्।"
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २३२

४५. वही, पृ० १३१, १३५

४६. "सोई पिंडे सोई ब्रह्माण्डे" —नानक प्राण संगली, पृ० ३६, पंक्ति १
४७. "हम सब मांहि सकल हम मांहि" —कबीर ग्रन्थावली, पृ० २०१, ३३२
४८. "कथ्यो न जाई निरे अरु दूरी, सकल अतीत रह्या घट पूरि।"
—वही, पृ० २३५
४९. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० २११
५०. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य ३-२-१७ में वास्कलि उपाख्यान
५१. "बोलत बोलत तत्त नसाई" —कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०६
५२. ताकी आगला कथिया न जाई, जे को कहै पिछै पछिताऊ"
—जपुजी साहिब, ३५
५३. "सोचे सोच न होवहि जे सोचे लख बार" —ग्रन्थ साहिब, वही
५४. "तहां किछु आहि कि सून्यं" —कबीर ग्र०, पृ० १४३
५५. "यह अत्यंताभाव है, यहई तुरियातीत, यह अनुभव साक्षात् है, यह निश्चै अद्वैत" 'नाहिं नाहिं' कर कहे 'है है' कहे बखानि। 'नाहिं' 'है' के मध्य में 'सो अनुभव कर जानि' —ज्ञानसमुद्र, ४४
५६. "कहै कबीर तरक दुई साधै, तिनकी मति है मोटी।"
—कबीर ग्रं०, पृ० १०५
५७. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०४
५८. "घी दूध में रमि रह्या व्यापक सब ही ठौर" —बानी भाग १, पृ० ३२
५९. "जहं देखों तहं एक ही साहब का दीदार —सन्त बानी संग्रह १, पृ० ३३
६०. जब पूरण ब्रह्म विचारिये तब सकल आतमा एक।
काया के गुण देखिये, तो नाना वरण अनेक॥
—दादूलाल की बानी, भाग १, लय को अंग—४३, ४५
६१. दीप के तेज से दीपक दीसत हीरे के तेज सो हीरो हि भासै।
तैसें सुन्दर आतम जानहुं आप के ज्ञान आप प्रकासै॥
—सुन्दरविलास, पृ० १४६
६२. ब्रह्मसूत्र शां० भा० १-१-१ तथा वही २-३-७
६३. "आतमा चैतन्यरूप व्यापक साक्षी अनूप" —सुन्दरविलास, पृ० ११२
६४. "आतमा अरूप अति सूछम से सूछम है" —वही, पृ० १०७
६५. निर्वाण षटक शंकर कृत श्लोक १
६६. देह की संजोग पाई इंद्रिन के बस परयो।
आपहि कूं आप भूलि गयो सुख चाह तैं॥ —सुन्दरविलास, पृ० ६४
देह को संजोग जीव ऐसा नाम भयो।
घट के संजोग घटाकास ही कहायो है॥ —वही, पृ० १०६

६७. तुषेण बद्धो व्रीहिः स्यातुषाभावेन तण्डुलः ।
पाशबद्धस्तथा जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः ।।

६८. ज्यों जल हालत है लगि पौन, बहै भ्रमतें प्रतिबिंबहि कांपै ।
देह के प्राण के और मन के कृत, मानत हैं सब मोहि को व्यापै ।।
—सुन्दरविलास, पृ० ६६

६९. आतम राम अखण्डित पूरन ब्रह्मस्वरूप अकार । —भीखा साहेब, पृ० ४६

७०. सुन्दरविलास, पृ० १५९

७१. दह दिसि दीपक तेज के, बिन बाती बिन तेल, बहुं दिसि सूरज देखिये दादू अद्भुत षेल । —सन्तकाव्य : परशुराम च०, पृ० २९६

७२. तैत्तिरीय उ०, २-७-८-९

७३. छान्दोग्य, ७-२४-१

७४. "आनन्दमयाधिकरण" —ब्रह्मसूत्र शां० भा०, १-१-१२

७५. भारतीय दर्शन, भाग १, राधाकृष्णन, पृ० १५३-५४

७६. "एवमानन्दप्रचुरं ब्रह्मानन्दमयमुच्यते । आनन्दप्रचुरत्वं च ब्रह्मणो मनुष्यत्वादाराभ्योत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्स्थाने शतगुण आनन्द इत्युक्त्वा ब्रह्मानन्दस्य निरतिशयत्वावधारणात् । तस्मात्प्राचुयार्थे मयट् ।
—ब्रह्मसूत्र शां० भा०, १-१-१३

७७. सन्तकाव्य, पृ० ४७६

७८. "आपे रसिया आपि रसु, आपे रावणहारु" —वही, पृ० २४०

७९. "राम अमलि माता रहे गिणे इन्द्र को रंक" —वही, पृ० २०४

८०. रामरस मीठा रे कोई पीवे साधु सुजाण ।
सदा रस पीवैं प्रेम सों, सो अविनासी प्राण ।।
यह रस मीठा जिन पिया सो रस ही रहा समाय ।
मीठे मीठा मिलि रहा, दादू अनत न जाइ ।।
—परमार्थ सोपान, पृ० १८८ रा० द० रानडे द्वारा सम्पादित भारतीय विद्या-भवन, बम्बई द्वारा प्रकाशित ।

८१. वही

८२. है कोई सन्त सहज सुख उपजै,
जप तप देऊं दलाली ।
एक बूंद भर देइ राम-रस,
ज्यूं मरि देइ कलाली ।। —वही, पृ० १९०

८३. रहिमन बात अगम्य की कहन सुनन की नांहि ।
जे जानत ते कहत नहिं, कहत ते जानत नांहि ।। —वही, पृ० २८६

८४. 'आकाशस्तल्लिगात्' पर ब्रह्मसूत्र शां० भा०, १-१-२२

८५. सन्तकाव्य, पृ० ३८८
८६. माडूक्योपनिषद् शां० भा०, मन्त्र ४-७
८७. "गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि नहि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परो रजसे सावदो मा प्रापत्" —बृहदारण्यक उ०, ५-१४-७
तथा "गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच वाग्वै गायत्री"
—छान्दोग्य, ३-१२-१
८८. सन्तकाव्य, पृ० ४७५
८९. "चौथे पद कौं जे जन चीन्हें तिनहि परम पद पाया"
—सन्तसुधासार भा० १, पृ० ७४
तथा "दुख सुख से कोई परे परमपद, तेहि पद रहा समाई"
—कबीर (ह० प्र० द्विवेदी), पृ० १५२
९०. "यह अत्यन्ताभाव है यह है तुर्यातीत" —ज्ञानसमुद्र ४४, सुन्दरदास
९१. सन्तकाव्य, पृ० ४९४
९२. वही, पृ० ४९५
९३. "तब को जानी ज्ञान कहाँ है ज्ञेय कहाँ ठहराना" —सन्तकाव्य, पृ० ४७२
९४. अवधू निर्मल ज्ञान विचारो।
ब्रह्मस्वरूप अखंडित पूरन चौथे पद से न्यारो॥ —वही, पृ० ४२४
९५. बृहदारण्यक उ०, ३-४-१

"यन्नादौ यच्च नास्त्यन्ते तन्मध्ये भातमप्यसत्,
अतो मिथ्या जगत्सर्वमिति वेदान्तडिण्डिमः"

६

माया

माया का निरूपण करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि यह माया अव्यक्त नाम वाली परमेश्वरी शक्ति है, जो अनादि है, अविद्यारूपा है, सत्व, रज, तम गुणों से त्रिगुणमयी है। यह सत् भी नहीं, असत् भी नहीं, सदसत् भी नहीं। यह भेदमूला भी नहीं, पर अभेदमूला भी नहीं। भेदाभेदमूलक भी नहीं। यह सावयव या निरवयव भी नहीं, अथवा दोनों से भिन्न है। यह माया केवल एक आश्चर्य है इसीलिए अनिर्वचनीयरूपा है।[1] प्रस्तुत परिभाषा में माया के विषय में उत्पन्न होने वाली समस्त भ्रान्तियों का उन्मूलन है। 'जगन्मिथ्या' की रट पर शांकर माया के आलोचकों को यहाँ परिभाषा की तीन अवस्थाओं की ओर ध्यान देना चाहिए। पहली पंक्ति में माया को भावरूप मानकर शक्ति, अविद्या, त्रिगुणमयी अव्यक्त कहा है। अगली डेढ़ पंक्ति में निषेध शैली में उसे 'न सत् न असत्, न सदसत्' कहा है। अन्त में उसे मानव बुद्धि के लिए महान् आश्चर्य करार देकर भाव और अभाव से भी ऊपर अनिर्वचनीय कहा है।

समस्त वेदान्तों में (वैष्णव शैव शाक्त) माया की जो भी भिन्न-भिन्न धारणाएँ प्रचलित हैं वे उपरोक्त परिभाषा की प्रथम पंक्ति में अर्थात् माया के सगुण भावशक्ति के रूप में आ जाती हैं। दूसरे रूप में बौद्धों की शून्यवादी धारणा जो निषेधमूलक अधिक है, उसे देख सकते हैं। तीसरे रूप में शंकर माया का स्वरूपलक्षण देते हैं। माया का यह जो पररूप है यह शंकर की श्रुतिमार्ग में मौलिक गवेषणा है।

पाश्चात्य विद्वानों ने शांकरमत की माया-सम्बन्धी स्थापना को काफी आश्चर्य से देखा है। उनमें दो दृष्टिकोण पल्लवित हुए। एक पक्ष है जो माया-सिद्धान्त को शंकर की निजी कल्पना मानता है। मैक्समूलर का कहना था कि "मायावाद शंकर की स्वयं कल्पना की गई एक धारणा है।"[2] जिसका अर्थ है कि

मायावाद श्रुतिमूलक नहीं। इसी मत के समर्थन में हम कोलब्रुक के इस कथन को भी ले सकते हैं—"प्रत्येक पदार्थ मिथ्या और कल्पित है, यह वेदान्त का मूल-सिद्धान्त नहीं हो सकता। यह किसी दूसरे मत का प्रभाव रहा है जिसे परवर्ती वेदान्तियों ने मिश्रित कर भ्रान्ति खड़ी कर दी है।"[3]

भारतीय विद्वानों में मायावाद का विरोध करने वालों में वैष्णव आचार्यों का मुख्य स्थान है। उनके अनुसार माया शंकर की अपनी कल्पना भी नहीं है और वैदिक भी नहीं है। बल्कि यह तो बौद्धों की अध्यास की धारणा के शंकर पर पड़े प्रच्छन्न प्रभाव का परिणाम है।[४] 'प्रबोधचन्द्रोदय' के लेखक ने कटाक्ष किया कि यदि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विपरीत जाने वाले वेदान्त ग्रन्थों को शास्त्र माना जाएगा तो फिर बौद्धों ने भला क्या अपराध किया है।[५] नैय्यायिकों में भीमाचार्य और उदयनाचार्य ने शांकर वेदान्त को मायावाद कहकर उसे आड़े हाथों लिया। कहा कि नास्तिक-मत में वेदान्ती का मायावाद पर्यवसित हो जाता है।[६] वैष्णव आचार्यों में मध्व[७] और रामानुज ने केवलाद्वैत पर काफी प्रहार किया है। रामानुज का कहना है कि "हे शंकर के शिष्यों! जैसे तुम्हारे लिए वेद झूठ है, वैसे ही शून्यवादियों के लिए बुद्ध के आगम अनृत है। तुम दोनों के लिए जैसा ज्ञाता जीव अनृत है, उसी तरह बुद्धि और उसका फल भी अनृत है। फलतः तुम और बौद्ध एक ही थैली के चट्टे हो।"[८]

किन्तु मैक्समूलर[९] और कोलब्रुक के कथनों की परीक्षा करते समय हमें गफ के इस कथन को अधिक यथार्थ के समीप मानना पड़ता है "कि मायावाद या जीव और जागतिक प्रपंचों की मिथ्यता का सिद्धान्त प्राचीन भारतीय दर्शन की जान है।"[१०] विद्वानों ने विभिन्न युक्तियों द्वारा मायावाद की श्रुतिमूलकता सिद्ध की है। क्योंकि वेदों से लेकर अब तक माया शब्द के विभिन्न प्रयोग हुए हैं। स्वयं शंकराचार्य ने ही एक ही माया शब्द का अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग प्रयोग किया है। अतः केवल श्रुतियों में आकस्मिक रूप से आए माया शब्द को नोचकर कोई मायावाद के पक्ष में निष्कर्ष नहीं निकाल जा सकता। हमें क्रमशः माया के स्वरूप में होने वाले उस ऐतिहासिक विकास को देखना चाहिए जो मूलतः श्रुतियों में बोया जाकर शांकर दर्शन में विराट् वृक्ष के रूप में पल्लवित हुआ है। अतः हमें वेद या उपनिषदों में माया शब्द का प्रकरणार्थ भी देखना चाहिए।

ऋग्वेद में विभिन्न अर्थों में माया का प्रयोग है। इन्द्र की स्तुति में कहा गया है कि "हे इन्द्र तुमने मायावादी वृत्र को निहत कर दिया है।"[११] मायावी दानव की मायाओं का ध्वंस कर दिया है।[१२] "हे इन्द्र तूने अपनी मायाओं से मायावी शुष्ण (असुर) का बध कर दिया।"[१३] अथवा "हे इन्द्र तुमने मायावी लोगों की माया को नष्ट कर दिया है।"[१४] यहाँ पहले मंत्र की व्याख्या में वृत्र को मायावी कहा है। सायण वृत्र का अर्थ आवरण करने वाली (वृणोत्याकाशमिति)

शक्ति कहा है। वृत्र निर्मल आकाश को आवृत कर लेने वाला बादलों का आसुरी रूप है। अद्वैतवेदान्त मूलतः माया की आवरण-शक्ति को मानकर ही आगे चला है। दूसरे मंत्र में सायण ने माया का अर्थ 'वंचनानि' यानी छलना किया है। माया के द्वारा मनुष्य छला या भ्रमित किया जाता है। तीसरे मंत्र में माया इन्द्र की अपनी ही विमूढ़ कर देने वाली वह महाशक्ति है जिसके द्वारा जनशोषक क्षुद्र आसुरी कपटमाया का वाध किया जाता है। यहाँ इन्द्र की महामायावी के रूप में स्तुति है। चौथे मंत्र में फिर माया शब्द का प्रयोग प्रकाश के आवरण अन्धकार के अर्थ में है। ऋग्वेद के इन मत्रों के आधार पर यह कैसे कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में माया का प्रयोग केवल अतिप्राकृत (Supernatural power) या आश्चर्यकर जादू के अर्थ में ही हुआ है।[१५] एक ही ब्रह्म का अपनी माया के बल पर विभिन्न रूपों में चले जाना ऋग्वेद में वर्णित है।[१६] जिसके आधार पर अद्वैत-वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद, आभासवाद, अवच्छेवाद आदि सिद्धान्तों का स्फुरण वेदान्ती मानते हैं। यह माया जो सब कुछ माप लेती है।[१७] इसके तन्तुओं का सृष्टि के अध-ऊर्ध्व में सर्वत्र प्रसार दिखाई देता है। नासदीय सूक्त में इस शक्ति का संकेत है।[१८] आगे चलकर माया की इस वैदिक धारणा का बौद्धों एवं वेदान्तियों द्वारा समय-समय पर समझने का प्रयत्न होता रहा है।

उपनिषदों में माया की चर्चा कुछ अधिक स्फुट है। यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए कि वेद या उपनिषद् कोई दर्शनग्रन्थ नहीं। बुद्धिवादिता पर आश्रित दार्शनिक मान्यताओं से वैदिक ज्ञान ऊपर है। अतः दार्शनिक तरीके से माया का तत्त्व विवेचन उनमें खोजना भूल है। हाँ कोई भी दार्शनिक दृष्टि उस प्रातिभज्ञान में से अपने लिए मसाला ढूँढ सकती है। श्रुति को आचार्य कामधेनु मानते थे। अतः कामना के अनुसार ही श्रुति फलदायिनी है।[१६] अस्तु, आचार्य शंकर को श्रुति में मायावाद के लिए प्रचुर मसाला मिल गया था। उन्होंने श्रुति का विधिवत् दोहन किया। उपनिषदों में माया के विषय में बहुत कुछ कहा गया है। प्रो० रानाडे ने उपनिषदों में पन्द्रह मायावाद के समर्थक उद्धरण देकर कहा कि "उपनिषदों में माया शब्द यद्यपि बहुत बार प्रयुक्त नहीं हुआ तो भी माया शब्द का अन्तर्निहित भाव उनमें है।[२०] श्री रानाडे ने ईशोपनिषद् में अन्ध शब्द के प्रयोग में, छान्दोग्य में कथित आवरण शब्द में, प्रश्नोपनिषद् में 'अनृत' और 'जिह्म' की कल्पना में माया के सिद्धान्त को स्फुरित होते देखा है।[२१] उपनिषदों में असत् शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। शंकर ने असत् का अर्थ नामरूपात्मक प्रपंच के अर्थ में ही माना है।[२२] प्रश्नोपनिषद् में माया और अनृत शब्द की व्याख्या में शंकर ने अविद्या तथा आचार-गत कुटिलता अर्थ किया है।[२३] जगन्मिथ्यात्व के अर्थ पर वहाँ ज्यादा बल नहीं। "माया नाम बहिरन्यथात्मानं प्रकाश्यान्यथैव कार्यं करोति सा मिथ्याचार रूपा।"[२४] माया के विपरीतार्थक सत्य की परिभाषा में वे कहते हैं—'सत्यमिति

अमायिता अकौटिल्यं वाङ्मनःकायानाम्' अर्थात् सत्य माने मायारहितता, वाणी, मन, काय की निश्छलता है।[२५] गफ ने शकर की व्याख्या का अनुसरण किया है। अपनी पुस्तक 'फिलासफी ऑफ उपनिषद्स' की प्रस्तावना में उसने कहा है "उपनिषदों के दार्शनिक तत्त्व का सबसे बड़ा भाष्यकार शकर अर्थात् शंकराचार्य हैं। शंकर का अपना उपदेश भी स्वाभाविक और उपनिषदों के अनुसार है।" वस्तुतः पश्चिमी के अधिकांश मेधावी विद्वानों ने शकर के मायावाद को उपनिषन्मूलक ही माना है। ड्यूसन और मैक्समूलर तो इस बात पर एक दम सहमत हैं कि "वेदान्त का सनातन मत वह नहीं है जिसे हम विकास कहते हैं बल्कि 'माया' है। ब्रह्म का विकास अथवा परिणाम प्राचीन विचार से भिन्न है। माया अथवा विवर्त ही सनातन वेदान्त है—

जिस प्रकार सूर्य की किरणों से 'मृगमरीचिका' की प्रतीति होती है उसी प्रकार ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति भी भ्रान्तिवश प्रतीत होती है।"[२६]

निष्कर्ष के तौर पर हमें मान लेना चाहिए कि पहले उपनिषदों में मायावाद के स्पष्ट बीज हैं। श्वेताश्वतर में तो वे और भी स्पष्ट रूप से मिलते हैं।[२७] माया को इनमें कहीं-कहीं इन्द्रजाल के अर्थ में प्रयुक्त किया है।[२८] उपनिषदों पर शंकर कृत भाष्य में माया शब्द के प्रयोगों को श्री रामानन्द तिवारी ने गिनकर बताया है कि ईश में शून्य, केन-भाष्य में तीन बार, कठ-भाष्य में चार बार, मुण्डक-भाष्य में चार बार, प्रश्न-भा० में चार बार, ऐतरेय-भाष्य में तीन बार, तैत्तिरीय-भाष्य में दो बार, छान्दोग्य-भा० में दो बार, बृहदारण्यक में तीन बार, गौडपादीय माण्डूक्यकारिका मूल में यद्यपि पच्चीस बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है तो उनके शंकर कृत भाष्य में साठ बार के लगभग प्रयोग हुआ है।[२९] किन्तु सर्वत्र 'माया' पद एक सुनिश्चितार्थ में ही रूढ़ नहीं है। कहीं पर माया ईश्वर की शक्ति है तो कहीं 'अविद्या होने से वह संसार का बीज है।"[३०]

ब्रह्मसूत्र की स्थिति जरा भिन्न है। उपनिषदों की तरह ब्रह्मसूत्र माया के दृष्टिकोण का उतना समर्थक नहीं लगता। थिबोट को कहना है कि ब्रह्मसूत्र मूल-रूप में शायद विशिष्टाद्वैत के अधिक समीप है। किन्तु उपनिषदों पर शकर की मायावादी व्याख्या ही सर्वथा संगत है।[३१] ब्रह्मसूत्र-भाष्य में शकर एक बार अपने माया सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं कि "जैसे अपने द्वारा ही फैलाई माया से जादूगर तीनों कालों में भी संस्पृष्ट नहीं होता ऐसे ही ब्रह्म अपनी माया से बाधित नहीं होता।"[३२] सन्तों ने इस रूपक का बहुत प्रयोग किया है। कबीर कहते हैं—

बाजीगर डंक बजाई सब खलक तमासे आई।
बाजीगर स्वांग सकेला अपने रंग रवै अकेला।।[३३]

वेदान्त के प्रस्थानत्रय में गीता महत्त्वपूर्ण स्मृति-प्रस्थान है। गीता में भी

माया शब्द के प्रयोग हैं।[३४] यद्यपि आचार्य ने गीता का स्वमतानुसारी भाष्य किया है। किन्तु मायावाद के विवेचन में प्रामाणिक तौर पर उनके उपनिषद्भाष्य को ही हम ले सकते हैं या फिर उनके छोटे-छोटे उपदेश ग्रन्थों को जिनके आधार पर ही आचार्य के बाद माया की धारणा अद्वैतवेदान्त में अधिक से अधिक दार्शनिक होती गई। किन्तु शंकर ने जिन उपनिषद् सम्बन्धी स्त्रोतों से अपना दर्शन लिया है, मोटे तौर पर उसे दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक उपनिषदों के वे कथन हैं जिनमें अद्वैत या एक ही सत्ता के प्रतिपादन की बार-बार चर्चा की गई है।[३५] दूसरे वे कथन, जिनमें नानात्व का निषेध किया गया है। क्योंकि अद्वैततत्त्व में द्वैत का आभास ही माया है। द्वैत से ही समस्त भय और दुख पैदा होते हैं।[३६] अतः अनेकतापूर्ण, भयकारक भेद-दृष्टि निन्दनीय है। बस नानात्व का निषेध ही शंकर के मायावाद की दृढ़ भित्ति है। बृहदारण्यक श्रुति का भाष्य करते हुए शंकर कहते हैं कि "परमार्थ-दृष्टि से जो अद्वैत ब्रह्म है उसमें आत्मा भिन्न रूप से कोई दूसरी वस्तु सी लगने लगता है।[३७]

अधिक स्पष्टीकरण के लिए हम माया का ऐतिहासिक पर्यवेक्षण कर सकते हैं। जिससे यह भी स्पष्ट हो सकता है कि माया अपने मूल अर्थ से जुड़ी रहकर भी किस प्रकार कभी अर्थोत्कर्ष और कभी अर्थापकर्ष का शिकार हुई है। उपनिषदों के बाद बौद्ध युग में माया का प्रयोग असत्, भ्रम, स्वप्न, मिथ्या के अर्थ में हुआ। बाद के महायानी शून्यवादियों ने असार और अतात्त्विक के अर्थ में ही उसका प्रयोग किया।[३८] आचार्यशंकर को शून्यवादियों की माया की यह परिभषा नितान्त असंगत लगी। जिससे उन्होंने फिर से नये सिरे से उपनिषदों के अनुसार माया की सही व्याख्या प्रस्थापित की। बौद्धों ने माया को 'सांवृतिक सत्य' कहा था।[३९] जिसका अर्थ था कि माया की सत्ता केवल प्रातिभासिक है। वह स्वप्न की तरह किसी भी व्यक्ति की परिवर्तित मानस वस्थामात्र है। सीपी में चाँदी के भ्रम की तरह वह एकदम असत्य है। शंकर ने माया की प्रतिभासिक सत्ता मात्र से निकालकर उसकी व्यावहारिक सत्ता को स्वीकृत किया। प्रतिभास और व्यवहार का एक स्तर नहीं। शंकर कहते हैं कि भाई ! जागरित(व्यवहार दशा) और स्वप्न का बहुत बड़ा अन्तर है। स्वप्न के लड्डुओं से जागरित में पेट की आग नहीं बुझती।[४०] जगत् के रूप में माया की व्यवहारिक सत्ता स्पष्ट है। व्यवहार रूप में माया विश्वव्यापक है। समष्टिगत है। बौद्धों की सांवृतिक माया की तरह केवल व्यक्ति के अज्ञान या भ्रमदृष्टि के परिणामस्वरूप व्यष्टिगत नहीं। शंकर कहते हैं माया न सत् है न असत्। वह तो दोनों से 'अनिर्वचनीया' है।[४१] जगत् एक ओर तो माया का परिणाम है तो साथ ही वह ब्रह्म का भी विवर्त है। क्योंकि माया का भी अधिष्ठान तो ब्रह्म ही है। इस प्रकार माया एक ओर अद्वैतवेदान्त में ब्रह्म की शक्ति है तो दूसरी ओर वही माया ब्रह्म की उपाधि बनकर उसका स्वरूपावरण

करती है। वेदान्त में ये दोनों दृष्टियाँ मान्य हैं। आचार्य ने ब्रह्म, माया और जगत् के सर्जन के प्रसंग में एक ही दृष्टान्त से तीनों के आपसी सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार उर्णनाभ (मकड़ी) बिना किसी दूसरे कारण की सहायता के स्वयं ही अपने से अभिन्न तन्तुओं का रचना करता है "ऐसे ही ब्रह्म माया द्वारा सृष्टि-रचना करता है।[४२] इस प्रकार शांकर वेदान्त में जगन्मिथ्या का अर्थ जगत् या माया की अव्यावहारिक या काल्पनिक सत्ता मात्र न होकर दोनों का ब्रह्म से त्रिकाल में अभेद सिद्ध होता है। वे तो स्पष्ट कहते हैं कि श्रुति में असत् शब्द का अर्थ असत्ता नहीं वरन् व्याकृत नामरूप प्रपंच से विपरीत अव्याकृत रूप से (जगत् की) ब्रह्म में स्थिति है। अथवा प्रपंचात्मक जगत् की ब्रह्म से पृथक् सत्ता का निराकरण है।[४३] ब्रह्म से पृथक् जब वह कभी नहीं है तो उसे ब्रह्म से भिन्न देखना ही भ्रान्त दृष्टि है।

गौडपाद भी यही कहते हैं कि जगत् के प्रति द्वैत दृष्टि माया का परिणाम है। कि परमार्थ दृष्टि से अद्वैत ही सत्य है।[४४] माया को मिथ्या कहने का यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि जगत् के यथार्थ परिवर्तनों को ही अस्वीकार कर दिया जाए। किन्तु जगदुत्पत्ति के प्रथम परिवर्तन यानी ब्रह्म के जगत् के रूप में परिवर्तन को वह केवल एक प्रतीति मानकर छोड़ देते हैं। क्योंकि यह जगत् मनुष्यों की दृष्टि से यथार्थ ब्रह्म को छिपाता है इसलिए मिथ्या या भ्रान्ति रूप हैं। गीताकार का माया के विषय में यही कहना है कि अपनी योगमाया से आवृत होने के कारण ही मैं किसी को नहीं स्पष्ट होता। इसी आवरण के पीछे छिपे मुझ अज और अव्यय को यह लोक नहीं जान पाता।* इस माया को पार करना बड़ा कठिन है।[४५] प्रो० हिरियन्ना का माया के विषय में यह कथन नितान्त युक्ति-सम्पन्न है "कि माया का अर्थ अनिवर्चनीय या मिथ्या किया गया है। किन्तु जगत् के पदार्थ अवास्तविक नहीं हैं, जैसा कि आलोचक प्रायः मान लेते हैं, बल्कि केवल अन्तिम नहीं हैं। दूसरे शब्दों में उनकी वास्तविकता सापेक्ष है। और ब्रह्म की उच्च श्रेणी की वास्तविकता की तुलना में उन्हें प्रतिभास कहा जा सकता है।"[४६]

माया और अविद्या

डॉ० थीबो[४७] कहते हैं कि अद्वैतवेदान्त में "ब्रह्म को माया या अविद्या नामक शक्ति से सम्बद्ध किया गया है जिसके कारण ही सारे भासमान विश्व की इयत्ता है। यह शक्ति सत् नहीं है, क्योंकि सत् तो केवल ब्रह्म है। फिर यह ऐसा प्रतीत होता है कि माया और अविद्या एक ही है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में कई जगह माया को दृश्य माना है। किन्तु अयथार्थ या अवस्तु रूप भी कहा है। शंकर कहते हैं कि जिस प्रकार अपनी फैलायी माया से मायावी अछूता रहता है। ऐसे ही माया के अवस्तु होने से तीन काल में भी उससे नहीं बँधता इसी प्रकार परमात्मा भी

संसार-माया से नहीं बँधता।[४८] यहाँ माया शब्द दृश्यमान, किन्तु अयथार्थ पदार्थों के लिए आया है। उसी प्रसंग में आगे शंकर फिर कहते हैं कि "सोये हुए मनुष्य की स्वप्न में पाई वस्तु जागरित में नष्ट हो जाती है। जागा हुआ मनुष्य कहता है कि मेरा स्वप्न में किसी महाजन से मिलना एकदम झूठा था। निद्रा की ग्लानि के कारण मेरा मन भ्रम में पड़ गया था। इसी प्रकार माया आदि का भी ज्ञान होने पर बाध हो जाता है।"[४९] यहाँ भी माया की परिभाषा ऐसी ही सामने आती है, कि माया उन दृश्य पदार्थों की संज्ञा है जो पदार्थ ज्ञान के आलोक में वास्तविक सत्ता से रहित हो जाते हैं।

शंकर के उत्तरवर्ती आचार्यों में से विद्यारण्य ने माया को शुद्ध-सत्त्व-सम्पन्न कहा है। ईश्वर को इसी शुद्ध-सत्त्वसंपन्न माया में पड़ा हुआ चित् का बिंब माना है।[५०] सत्त्वविवेककार ने भी माया को शुद्धसत्त्वमयी तथा स्फुट कहा है।[५१]

शंकर-सम्प्रदाय के परवर्ती आचार्यों ने माया और अविद्या को अलग माना है। शंकर ने अविद्या के विषय में कुछ स्थानों पर कुछ एक बातें कहीं हैं। वे कहते हैं "कि परमेश्वर के आत्मस्वरूप में ही अविद्या से उद्भूत नामरूपात्मक जगत् की उत्पत्ति का कारण मायारूपा प्रकृति है। यह श्रुतिवचन है। अविद्या से जनित नामरूपात्मक उपाधि का आधारभूत ईश्वर उसी प्रकार है जैसे घड़े, करवे आदि की उपाधि का आकाश आधार है।"[५२] यहाँ शंकर ने ईश्वरोपाधि अविद्या को माया की जननी कहा है। एक जगह अन्यत्र भी उन्होंने अविद्या को दृश्य माया का कारण भी कहा है।[५३] इस अविद्या को ही परमेश्वराश्रया बीज-शक्ति कहा है जिसमें ज्ञानरहित जीव मायामयी महासुप्ति में सोते रहते हैं।[५४] एक दो जगह ब्रह्मसूत्र-भाष्य में माया और अविद्या को समान अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है "कि एक ही परमेश्वर कूटस्थ, नित्य, विज्ञानरूप, अविद्या माया से युक्त होकर अनेक रूपों में दिखाई देता है।"[५५] इस प्रकार माया के भिन्नार्थ प्रयोगों से आचार्य के अपने ही शिष्यों ने माया और अविद्या की अलग-अलग व्याख्याएँ दीं। विद्यारण्य ने माया को ईश्वरोपाधि और अविद्या को जीवोपाधि सिद्ध किया, और अविद्या को मलिनसत्वा तथा व्यक्तिगत होने से जीवों में विचित्रता या वैयक्तिकता (Individuality) पैदा करने वाली शक्ति माना है।[५६]

अद्वैतवेदान्त में जब हम शक्ति शब्द का प्रयोग करते हैं, तो यह भ्रम हो सकता है कि यह शैवाद्वैत या शाक्ताद्वैत न बन जाए। किन्तु मैंने जैसे कहा है कि भारतीय चिंतन मूलतः समन्वयवादी रहा है। अतः अंशतः उसमें विभिन्न समन्वित दृष्टिकोणों की सुव्यवस्था है दूसरे मतों का कठोर संहार नहीं। अद्वैतवेदान्त समन्वित तत्त्वों को सुव्यवस्था देने में सबसे आगे है। सत्ता के तीन रूप परमार्थ व्यवहार एवं प्रतिभास को मानकर वह समस्त विरोधी दृष्टिकोणों को अपने में समेट लेता है। अतः माया को शक्ति मानकर कहीं पर उसने जगत् की व्यवहार

दशा का काम भी चलाया है। किन्तु मायाशक्ति मिथ्या है। पंचदशी के ब्रह्मानन्दग अद्वैत प्रकरण में मिट्टी की शक्ति के समान ही ब्रह्मशक्ति को क्रमशः घड़ा, प्याला, जीव, जगत् आदि की कर्त्री माना है। अर्थात् जैसे घड़े के बनने में मिट्टी की चिकनाहट अनिवार्य कारण है ऐसे ही विश्व की रचना में माया भी ब्रह्मशक्ति के रूप में अनिवार्य कारण है। अतः कहा गया है कि निद्राशक्ति जैसे जीव में दुर्घट स्वप्नों के पैदा करने का कारण है ऐसे ही ब्रह्मस्थित माया भी सृष्टि, स्थिति, संहार का कारण है। तथा निर्विकार ब्रह्म में विकारों की कल्पना करती है।[५७]

अतः माया और अविद्या एक नहीं हो सकती। क्योंकि माया अपने आश्रय ईश्वर को मुग्ध नहीं करती और स्वामी की इच्छानुसार काम करती है। पर अविद्या अपने आश्रय जीव को मोहित करती है तथा जीव की इच्छा के विरुद्ध प्रवृत होती है।

शंकर के परवर्ती वेदान्तियों ने यहाँ ऊहापोह काफी किया है। किन्तु निष्कर्षतः आचार्य का मूल दृष्टिकोण यही लगता है कि माया और अविद्या का तात्त्विक अन्तर कोई नहीं। क्योंकि माया का आश्रय चाहे द्रष्टा माना जाए चाहे कर्ता, मुग्ध तो उसे होना ही पड़ेगा। अतः श्रुति भी माया और अविद्या में कोई अन्तर न मानकर दोनों को एक ही मानने के पक्ष में लगती है।

जैसे— "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः[५८] तथा
तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते
योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः"[५९]

इन श्रुतिवाक्यों में माया और अविद्या का समानाधिकरण्य ही सिद्ध होता है। आचार्य ने तो दोनों में भेद माना ही नहीं। अतः अविद्या या माया को एक मानकर यह लक्षण किया जा सकता है कि जो अनिर्वचनीय होकर यथार्थवस्तु के परिज्ञान में प्रतिबन्ध करती है तथा विपरीत वस्तु का भान कराती है वह माया अथवा अविद्या है।[६०] यह माया ब्रह्म में ऐसे ही है जैसे स्वप्न देखने वाले जीव के अपने स्वरूप में बिना किसी परिवर्तन के विविध रथ आदि सृष्टि का आविर्भाव होता है वैसे[६१] ब्रह्म में उसके निर्विकार रूप के बिना ही कोई परिणाम या विकार हुए विश्वमाया का प्रादुर्भाव होता है। यही शंकर का विवर्तवाद या मायावाद है, जो योगवासिष्ठ आदि लोकप्रिय ग्रन्थों में भी व्यक्त हुआ है।

योगवासिष्ठ में, जो कि अद्वैतवेदान्त का अनुपम ग्रन्थ है, तथा मुमुक्षुओं का अतिप्रिय ग्रन्थ है, उसमें भी माया और अविद्या का कोई अन्तर नहीं है। बल्कि सर्वमान्य माया का स्वरूप देखिए—

"एषा ह्यविद्या कथिता मायेषा सा निगद्यते" ५-१३-८९
"संसार बीजकणिका यैषा विद्या रघूद्वह

एषाह्यविद्यमानेव सतीव स्फारतां गता" ३-११३-११
इति मायेव दुष्भारा चिच्छक्तिः परिजृम्भते
इत्थमाद्यन्तरहिता ब्राह्मीशक्तिरनामया" ६-७०-१८
"विवेकमाच्छादयति जगन्ति जनयत्यलम्
न च विज्ञायते कैषा पश्याश्चर्यमिदं जगत् ४-४१-१६

अध्यास

माया की इस दार्शनिक पृष्ठभूमि में अध्यास शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। वेदान्त में अध्यास का अर्थ भ्रमज्ञान ही किया जाता है। आचार्यपाद ने अध्यास का अर्थ अविद्या ही किया है। अर्थात् जो अहंकार और कर्तृत्व बुद्धि के रूप में जीव को बाँध लेती है।[६२] यह अध्यास यथार्थ और अयथार्थ के मिश्रण का फल है।[६३] चेतन और अचेतन की ग्रन्थि ही इसका रूप है।[६४] आचार्य की दशश्लोकी की व्याख्या करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने इसके स्वरूप का बड़ा ही निर्मल विवेचन किया है। अविद्या के कार्य का परिचय देते हुए उन्होंने कहा है कि यह अविद्या दृश्य, जड, विनाशी, विचार को न सहन करने वाली, सीमित होने पर भी अनिर्वचनीय होकर अपनी आवरण और विक्षेप दो शक्तियों के बल पर चिदात्मा को ऐसे ही ढंग में ढाँप लेती है, जैसे आँख के आगे रखी अंगुलि सूर्यमण्डल को।[६५] किन्तु शंकर की माया की व्यावहारिक सत्ता को मानते हुए उन्होंने कहा है कि अपारमार्थिक पदार्थ दो तरह के हैं एक शुक्ति-रजत आदि मायिक पदार्थ, जिनकी व्यावहारिक सत्ता माननी पड़ती है। दूसरे तुच्छपदार्थ जो असत् हैं जैसे शश-विषाण आदि। अर्थात् मायिक पदार्थ असत् नहीं हैं।[६६] अतः हमारा जो कोरा मानस भ्रम या स्वप्रकल्पित पदार्थ है, वह व्यवहार के जान लेने पर बाधित हो जाता है, तथा व्यवहार का जगत् परमार्थ सत्ता के जान लेने पर बाधित हो जाता है। अतः प्रतिभास और व्यवहार (जिन्हें क्रमशः तूला और मूला अविद्या भी कहा जाता है) दोनों ही माता या अविद्या के ही रूप हैं, और यह माया मूलतः अध्यास-रूपा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकराचार्य ने परम्परा-प्राप्त माया की धारणा को व्यवहारिकता का रूप देकर उसके अर्थों में एक नवीनतम दिशा प्रदान की थी। पता नहीं किस दृष्टिकोण से परखकर डॉ० रामनारायण पाण्डेय ने लिख डाला है कि "शंकराचार्य ने सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिए माया को कोई विशेष स्वरूप नहीं प्रदान किया है।"[६७]

प्रस्तुत समस्त विवेचन के परिणामस्वरूप हम तो इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१. माया का अधिष्ठान ब्रह्म है। अतः उसकी स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं।

ब्रह्म के आश्रय में रहकर ही वह विश्व-रचना में सक्षम है। विश्वमाया की व्यावहारिक सत्ता है।

२. अविद्या या भ्रम होने के कारण वह समस्त प्राणिमात्र के त्रिविध दुखों का कारण है, अर्थात् वह समस्त दुखों का मूल है।

३. अविद्या होने से वह हमें ब्रह्मोन्मुखी नहीं होने देती। हमारे समस्त अनैतिक कर्म उसी के प्रभाव के कारण हैं। व्यक्ति की उपाधि होने के कारण वह हमारे हृदयों में काम-क्रोधादि को बसाए हुए हैं। वह जीवाविद्या के रूप में अत्यन्त गर्हित हैं।

४. व्यक्ति के मन में 'कामना' इसका सबसे बड़ा बीज है। यही वासना है।

५. विचार से भागती है।

अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम्
यत् प्रमाणासहिष्णुत्व मन्यथा वस्तु सा भवेत्

—बृहदारण्यक भा० वार्तिक १८१

६. यह सत् और असत् से विलक्षण अनिवर्चनीय है।

७. यह एक महान् आश्चर्य है जो बिना किसी जड़ के अपनी आवरण और विक्षेप शक्ति द्वारा प्राणिमात्र को स्तम्भित किए हैं। आवरण-शक्ति जीव को स्वरूपज्ञान नहीं होने देती और विक्षेप-शक्ति आवृत्त वस्तु में जगत् की कल्पना करती है।

८. इसे हम दो भागों में बाँट सकते हैं—जीवमाया, ईश्वरमाया।

९. अपने समन्वयवादी चिन्तन में अद्वैतवेदान्ती द्वैतवादी जिज्ञासु की सुविधा के लिए भूमिका के तौर पर माया को ईश्वर सापेक्ष भावशक्ति भी मान लेते हैं।[६८] पर वह अर्थवाद मात्र ही है। वास्तव अद्वैतचिन्तन में तो माया का पूर्णनिषेध यानी अनस्तित्त्व ही उन्हें अभिप्रेत है।

१०. क्योंकि माया ब्रह्म का विवर्त ही है। विवर्त का जल से भिन्न अपना कोई रूप नहीं। वह तो जलमात्र ही है।

सन्तों में माया

मायावाद ने हिन्दु-साहित्य को बहुत प्रभावित किया है। मध्यकालीन निर्गुणिया, सगुणियाँ सन्तों एवं भक्तों पर शांकर मायावाद का काफी प्रभाव है। निर्गुणिया सन्तों ने ज्ञानमार्ग को अपनाकर माया के शांकर अद्वैत के निषेधात्मक रूप को मुख्य रूप से लिया है। भक्तकवियों में गोस्वामी तुलसीदास ने पूर्ण समन्वय के साथ शांकर मायावाद को अधिकांशतः लिया था। मंगलाचरण में ही राम की वन्दना करते हुए उन्होंने रज्जु में सर्पभ्रान्ति वाले न्याय का आश्रय लिया[६९]

श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने ऐसे ही आधारों पर रामचरितमानस का मन्थन कर निष्कर्ष दिया है—"इमसे बढ़कर भला अद्वैतवाद का सिद्धान्त गोस्वामी जी क्या लिख सकते थे। × × × लक्ष्मण के प्रश्न पर स्वयं भगवान् रामचन्द्र ने जीव, ईश्वर, माया आदि का स्वरूप खोलकर समझाया है। कहने की आवश्यकता न होगी कि यह प्रकरण अक्षरश: शांकर सिद्धान्त के अनुकूल है।"[७०] सूरदास आदि कृष्ण भक्त कवियों ने माया के नैतिकता विरोधी स्वरूप तथा विषयलम्पटता की बार-बार भर्त्सना की है। माया का यह निम्नतम रूप जो मानव-मन की सहजात-वृत्तियों में निहित है, सगुण भक्तों या ज्ञानी सन्तों में समान रूप से पाया जाता है। किन्तु माया का अध्यास या भ्रान्ति-रूप, जो ज्ञान के आलोक में ध्वस्त हो जाता है वह केवल सन्तों में ही है। संत निश्चलदास कहते हैं कि "मैं ब्रह्म को नहीं जानता' इस उक्ति का आधार अज्ञान है। किन्तु ब्रह्म के अस्तित्व को ही नकार देना यह आवरण है।

"नहिं जानूं मैं ब्रह्म कूं याकूं कहत अज्ञान
ब्रह्म है न नहिं भान ह्वै यह आवरन सुजान"[७१]

इनमें से एक अज्ञान की अभानापादकशक्ति है जो "ब्रह्म का भान नहीं होता, ऐसा अज्ञान पैदा करती है। दूसरी अज्ञान की असत्वापादक शक्ति है जो ब्रह्म का अस्तित्व ही नहीं मानने देती, इमे आवरण कहा गया है।"[७२] 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जो अपरोक्ष ज्ञान, सो सकल अविद्याजाल का विरोधी है। भ्रान्ति का लक्षण करते हुए निश्चलदास कहते हैं "मैं ब्रह्म नहीं हूँ किन्तु पुण्य-पाप का कर्ता और सुख-दुख का भोक्ता जीव हूँ यह भ्रान्ति है।"[७३] इसी की व्याख्या करते हुए श्री पीताम्बर कहते हैं "देह, प्राण, इन्द्रिय जो अन्तःकरण सहित चिदाभास, इनके जन्मादिक सम्बन्ध विशिष्ट केवल धर्मरूप सम्बन्धित की, वा सम्बन्ध विशिष्ट धर्मीसहित धर्मरूप सम्बन्धि की, आत्मा में अपने विषय सहित प्रतीति, और आत्मा के तादात्म्य सम्बन्ध की, वा सत्यत्वादिक धर्मन के सम्बन्ध की अनात्मा में अपने विषयसहित प्रतीति, सो अध्यास कहिए है। याही कूं भ्रान्ति, विक्षेप और शोक बी कहते हैं।"[७४]

यह जो आभासरूप माया है, ब्रह्म से भिन्न है—

"है आभास ब्रह्म तें न्यारा"[७५]

सभी सन्तों को इस बात का बराबर बोध है कि ब्रह्म और है माया और है। दोनों का परस्पर अन्योन्याध्यास ही सब भयों का मूल है। इस अध्यास को स्पष्ट करने के लिए अध्यास के दो प्रकार माने गए हैं। स्वरूपाध्यास तथा संसर्गाध्यास। सीपी में चांदी का, और आत्मा में अहंकार आदि की भ्रांति, स्वरूपाध्यास है। इसी प्रकार जिस पदार्थ का स्वरूप तो व्यावहारिक या परमार्थिक पहले सिद्ध

होवे फिर अनिर्वचनीय सम्बन्ध पैदा हो जाए, उसे संसर्गाध्यास कहते हैं। जैसे मुख और दर्पण दोनों की व्यावहारिक सत्ता है। किन्तु प्रतिबिम्ब दोनों के संसर्ग का फल है।[७६]

सन्तों में हमें माया के दोनों रूप मिलते हैं। माया ब्रह्म की अनिर्वाच्य शक्ति है। त्रिगुणमयी प्रकृति यही है। माया का यह पहलू सन्तों में पर्याप्त मात्रा में है। माया और मायावी के ढंग पर ही सन्त रविदास कहते हैं—

"बाजीगर की बाजी कारण, सब को कौतुक भावै।
जो देखै सो भूलि रहै बांका चेला भरम न पावै।।"[७७]

यह माया अत्यन्त विकट है तथा दुर्लंध्य है। इसी से अपने इष्ट से प्रार्थना करते हुए वे कहते हैं—

"कैशवे। विकट माया तोर ताथे निकट गति मति मोर"[७८]

इस माया की गति भी विचित्र है। सन्तों में इस प्रकार के माया सम्बन्धी विचार बहुत से मिलते हैं जिनमें माया के विलक्षण होने की ओर संकेत हैं। अद्वैतवेदान्तियों की तरह वे भी मानते थे कि यदि माया सत् हो तो नष्ट नहीं हो सकती। यदि असत् हो तो प्रतीत नहीं हो सकती।[७९] कबीर कहते हैं कि यह गुणवंती (त्रिगुणमयी) वेल भी विलक्षण कितनी है। अगर इसे काटो तो लहलहाने लगती है। सोचें तो कुम्हलाने लगती है। इस गुणवंती वेल के बारे में कुछ भी तो गुण नहीं कहा जा सकता।[८०] इसीलिए वेदान्ती लोग माया को समस्त असंभवताओं की जननी कहते हैं।[८१] अतः इस माया-प्रसार को सन्तों ने समस्त विश्व में ही देखा है। कबीर कहते हैं—

माया तजुं तजी नहिं जाई, फिर फिर माया मोंहि लपटाई
माया आदर माया मान, माया नहिं तहं ब्रह्म गिआन

× × ×

माया जप तप माया जोग, माया बांधे सब ही लोग
माया जल थलि माया अकासि, माया व्यापित रहि चहूं पासि।[८२]

दादू तो इस सारी माया को अकथ ही मानते थे। उनका अपने ध्येय से प्रश्न है कि आखिर इस मायामय विश्व की रचना का प्रयोजन क्या है। लीला के लिए या आत्माभिव्यक्ति के लिए तुमने इस मायामय विश्व को रचा? अन्त में उन्हें यही लगता है कि यह कहानी बिल्कुल अकथ है।[८३] रैदास के साहित्य के अध्ययन से लगता है कि उनका अद्वैतज्ञान शांकर वेदान्त के अधिक समीप था। वे तो बिल्कुल उसी शैली में विवर्तवादी या मायावादी दृष्टि से माया का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं कि वही माया ब्रह्म और जीव में भेद प्रतिपादक है—

कनक-कुंडल सूत-पट जुदा, रजु भुजंग भ्रम जैसा।
जल-तरंग पाहन-प्रतिभाज्यों ब्रह्मजीव इति ऐसा ।।[८४]

मायावी और माया के सम्बन्ध को लेकर भी रैदास ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' की बात को स्पष्टत: स्वीकार किया है—

बाजीगर सो रचि रहा बाजी का मरम न जाना।
बाजी झूठ सांच बाजीगर, जाना मन पतिआना ।।[८५]

आगे हम यह भी देखते हैं कि माया सिवाय अपने स्वरूप की विस्मृति के अतिरिक्त कुछ नहीं—

दादू आपा उरझें उरझिया दीसै सब संसार।
आपा सुरझें सुरझिया, यह गुरज्ञान विचार ।।[८६]

इसलिए माया दृष्टि का ही खेल है। अद्वैत दृष्टि हो जाए तो माया नहीं रहती। अनेकत्व-दृष्टि हो जाए तो चारों तरफ माया ही माया है--

जब पूरण ब्रह्म विचारिये तब सकल आतमा एक।
काया के गुण देखिए तो नानावरण अनेक ।।[८७]

वरन् ब्रह्म दृष्टि से तो विश्व तुम में है और तुम विश्व में हो। यह खेल बस समझने की देरी है कि रहस्य पकड़ में आ जाता है—

आलम तोहि, तोहि में आलम, ऐसा अजब तमासा है।[८८]

सन्त पलटू कहते हैं कि माया के इस खेल का पार चौरासी-सिद्ध और नौ-नाथ भी नहीं पा सके।[८९] यह माया कहीं कनक और कहीं कामिनी के रूप में जोगी यतियों को दिन-दहाड़े लूटती नजर आती है। वस्तुत: यहाँ माया शब्द 'कनक-कामिनी' यानी पदार्थों के सम्पर्क से मन में उत्पन्न होने वाले काम-क्रोध का ही पर्याय है—

कहूं कनक कहूं कामिनी, सुन्दर भेष बनावै
ताके जे करि और मजरि से मारि गिरावै
जोगी जती और तपी गुफा से पकरि मंगावै
बचे न कोउ भागि दुपहरे लूटा जावै।[९०]

परमवेदान्ती अष्टावक्र ने जनक को ज्ञान देते हुए कहा था कि मायामय जगत् का उदय समुद्र में उठे बुदबुदों के समान ब्रह्मरूप तुम से ही है। अर्थात् माया का अधिष्ठान तुम्हीं हो। यह विश्व इसीलिए रज्जुसर्पन्याय से भ्रान्ति होने के कारण अवस्तुरूप है।[९१] ब्रह्मरूप वस्तु में अब्रह्मरूप अवस्तु की कल्पना ही अध्यास है। भीखा साहिब कहते हैं—

नाम एक सोन आस, गहना है द्वैत भास
कहूं खरा खोट रूप हेमहि आधार है
फेन बुद बुद अरु लहरि तरंग बहु
एक जल जानि लीजै मीठा कहूं खार है।[९२]

इस प्रकार सन्त इस बात का बराबर परिचय देते हैं कि स्वर्ण ही सत् है। क्योंकि नामरूपात्मक अलंकारों (माया) की अन्तिम सत्ता वही है।

सन्तों ने माया के दो रूपों को माना है—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल रूप में माया विषयरूप है। पदार्थ जगत् उसी का रूप है। बाह्यजगत् को हम हठपूर्वक क्षणिक वैराग्य में आकर छोड़ सकते हैं। किन्तु जो माया हमारे मन में विषयीगत होकर अवस्थित है, हमारी वासनाओं में स्थित है, उससे मुक्ति पानी असम्भव सी है। भगवद्गीता में कृष्ण ने स्पष्ट कहा था, कि हम विषय जगत् को इन्द्रियों से बलपूर्वक परे हटा सकते हैं, पर विषय जगत् के भोग से बनी वासनाओं का त्याग तो केवल परमतत्त्व के बोध होने पर ही सम्भव है।[९३] सन्त दादू दयाल ने इसी आधार पर दो भेद किए हैं—

मोटी माया तजि गये सूषिम लीये जाई।
दादू को छूट नहीं माया बड़ी बलाय॥[९४]

बाह्य माया को छोड़ जाने वाले विश्वामित्र, पराशर आदि मुनियों का दृष्टान्त सन्तों के आगे भी रहा होगा। ये मुनि जो बड़े-बड़े उपवास करने वाले, कठिन-तपी केवल हवा और पत्ते खाकर ही निर्वाह करते हुए भी वासनाभिभूत होकर रह गए, तो साधारण आदमी की तो बिसात ही क्या?[९५] इसलिए जीवोपाधि अविद्या के रूप में यह नितान्त भयंकर है। भागवत-पुराणकार कहते हैं कि यह नानात्व-प्रपंच प्रत्यगात्मा में मिथ्या कल्पित है।[९६] इसी अविद्या के कारण दूसरे के धर्म दूसरे में अवभासित होने लगते हैं।[९७] अतः बिना द्वैत का मिथ्यात्व प्रतिपादित किए अद्वैत की सिद्धि हो नहीं सकती, अतः सर्वप्रथम द्वैतभास का मिथ्यात्व ही वेदान्त प्रतिपाद्य है।[९८] विश्व में जीव की समस्त यातनाओं का मूल-हेतु यह अविद्या ही है। इसी के कारण अमृत-सिन्धु में रहते हुए भी जीव सदैव अपने चारों तरफ अविवेक के कारण अतृप्ति और पीड़ा, दाह ही अनुभव करता है। अपने वास्तव स्वरूप से अपरिचित ही रह जाता है। सन्त पलटू दास जीव की इस अज्ञानता की ओर संकेत करते हैं—

जल में रहे पिये नहीं मूरख, सुन्दर जल है खासा।
अपने घर सन्देस पठावे, करे धोबिन की आसा॥[९९]

बहुत पहले कबीर ने भी यही अनुभव किया था कि देखो कैसा आश्चर्य है

कि जीवरूप मछली पानी में रहकर भी प्यासी की प्यासी ही है, क्योंकि उसे जल (ब्रह्म) में रहते हुए भी जल के स्वरूप का बोध नहीं है। दूसरा दृष्टान्त उन्होंने कस्तूरी मृग का दिया है। सुगन्ध मृग की नाभि में ही है पर वह भ्रमवश बाहिर ही सुगन्ध खोजता फिरता है। आत्मज्ञान ही इसका एकमात्र उपचार है।[१००] क्योंकि मिथ्या का लक्षण ही यह है जो ब्रह्म से भिन्न है तथा ज्ञान से नष्ट हो जाता है वह मिथ्या है।[१०१] इसी को कबीर ने 'आत्मज्ञान बिना सब झूठा' कहा है। अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण ही जगत् ब्रह्म भिन्न माया रूप में भासता है। जीव स्वयं ब्रह्मस्वरूप है। सन्त निश्चलदास अद्वैतवेदान्त की इस शास्त्रीय स्थापना से परिचय देते हुए कहते हैं—

आपने अज्ञान तें जगत् सब तूं ही रचै
सर्व को संहार करै आप अविनासी है
× × ×
जीव गज ईस होय, माया में प्रभासै तूं ही,
जैसे रज्जु सांप सीप रूप ह्वै प्रभासी है।[१०२]

वेदान्त में इस अविद्योपाधि को बार-बार जल-तरंग, या कनक-कुंडल-न्याय से भी समझाया गया है। कबीर ने बिलकुल इसी शैली में कहा है कि जल में कुम्भ है और कुम्भ में जल है। बाहिर और भीतर दोनों ही दशाओं में पानी है।[१०३] कुम्भत्व उपाधि केवल भेदकारिणी है। अद्वैतवेदान्तियों ने भी इसी उपमान से ब्रह्म और जीव के बीच उपाधिभेद की बात कही है—

अन्तः पूर्णः बहिपूर्णः पूर्ण कुम्भ इवाम्बरे,
अन्तः पूर्णः बहिपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे। —कबीर, पृ० ५१

अन्यथा इतना जान लेने पर कि जल में और लहर में स्वरूपतः कोई भेद नहीं, भेद तो आकारगत है और यह आकार माया है जो अन्तिम यथार्थ नहीं।[१०४]

सन्त सुन्दरदास तो कहते हैं कि इस अविद्या का मूल अन्यत्र कहीं नहीं सिर्फ यहीं इसी जीव की मानस कल्पना में है। वैसे उसकी इन अविद्यामूलक कल्पनाओं से यथार्थ ब्रह्म का कुछ भी तो बिगड़ता बनता नहीं—

ख्याली तेरे ख्याल का कोई अन्त न पावै
कब का षेल पसारिया, कुछ कहत न आवै
ज्यों का त्यों ही देखिए पूरन संसारा
सरिता नीर प्रवाह ज्यों नहीं खण्डित धारा
जैसे चक्र कुलाल का फिरता बहु दीसै
ठौर छांडि कतहू न गया यह बिसवा बीसै।[१०५]

किन्तु यह अविद्या बहुत ही सूक्ष्म है। मनुष्य के अन्त:करण पर इसका एकच्छत्र शासन है। योगी इसे जीतने के लिए निकलता है तो यह अरूप छलना उसको अपने पाश में आवद्ध कर लेती है। यह अत्यन्त ही अदृष्ट है। किनाराम उसके इस अरूप प्रभाव को अनुभव करते हुए कहते हैं—

वह अदृष्ट सूझै नहीं तनिको, मन में रहि रिसानी।
अंधहि अंधा डगर बतावत, बहिरहि बहिरा बानी॥[१०६]

आचार्य शंकर ने कहा था कि दृढ़ वासना के रूप में यह माया बलवती आशा के रूप में सभी को घेरे हुए है। अंग गल जाने पर, बाल सफेद हो जाने पर, दाँत निकल आने पर मनुष्य मोहाबद्ध होकर ही जीना चाहता है।[१०७] बड़े-बड़े शारीरिक कष्ट झेलने पर भी उसे इस माया से मुक्ति नहीं मिलती। क्या पण्डित, क्या जोगी और सभी इस अहंकाररूप माया से बुरी तरह घिर जाते हैं।[१०८] सन्त पलटू दास ने माया के इस कुचक्र का पर्दा खोलकर रख दिया है—

माया की चक्की चलै पीसि गया संसार,
पीसि गया संसार बचै न लाख बचावै।
दोऊ पट के बीच कोऊ न साबित जावै।
काम क्रोध मद लोभ चक्की के पीसन हारे,
तिरगुन डारें झोंक पकरि के सबै निकारे॥[१०९]

फिर इस माया-चक्र से कैसे बचा जा सकता है? साधक को आत्मदर्शन कैसे हो सकता है? इसका उत्तर श्रुति ने दिया है कि "यह आत्मा न प्रवचनों से मिलता है, न बहुत बुद्धि-बल से, न केवल बहुत श्रवण से। यह आत्मा तो उसी को प्रकाशित होता है जिसका वरण यह आत्मा स्वयं कर लेता है।"[११०] कबीर को इस बात पर पूरी आस्था थी कि ब्रह्मादिक भी जब माया के बन्ध में है तो कबीर की क्या स्थिति है। कबीर कहते हैं कि तरेगा वही जिसे हे परमेश्वर तुम तारना चाहोगे।[१११] वरन् यह द्वैत का भरम रैदास के शब्दों में कभी न हटेगा। रैदास अपने इष्ट को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

माधो भरम कैसेहु न बिलाई,
ताते द्वैत दरसे आई।[११२]

सन्त अपने ध्येय से और कुछ नहीं माँगते, केवल मुक्ति ही माँगते हैं। उन्हें पता था कि माया का हर रूप नश्वर है। अत: कबीर का मन माया के किसी भी पदार्थ की याचना से विरत हो जाता है। वे कहते हैं—

"का माँगू कछु थिर न रहाई"
"मन का भ्रम मन ही थें भागा, सहज रूप हरि खेलण लागा"[११३]

माया में उलझा मन निकल नहीं पाता। क्योंकि माया जीव से करम करवाती है, और हर कर्म माया के मैल की पर्त को अन्तर में मोटा करता चला जाता है। माया के इस विवर्त से निकलना कितना कठिन है। तेग बहादुर माया के इन रूपों से अच्छी तरह परिचित हैं—

भूलिउ मन माइश्रा उरभाउ।
जो जो करम कीउ लालच लगि तिह तिह श्राप बंधाइउ ॥
सकल जगतु है जैसे सुपना विनसत लगत न बार ॥

× × ×

तैसे हि सुष माइग्रा के उरझियो कहा गंवार ॥[११४]

किन्तु ज्ञानी की माया के इन अत्याचारों के प्रति निरन्तर जागरूकता के कारण उसमें माया के प्रत्येक कण से विद्रोह करने की शक्ति आ जाती है और वह सरे-आम इस माया को गालियाँ देता है। फिर चाहे वह नारी के रूप में है, या मान, मद, अहंकार, लोभ, क्रोध आदि के रूप में हैं, या धन, सम्पदा के रूप में है। वह इसके इन सभी रूपों के प्रति असन्तुष्ट है। यह उसके वैराग्य की दृढ़-भूमि है। वह उसे खूब कोसता है। सन्तों ने अद्वैतवेदान्तानुसार ही इसे ब्रह्मोपासना में बड़ी भारी अड़चन मानकर कभी इसे नागिनी, डाइन, ठगिनी, नटनी, बिल्ली, दरया, बांझ, मालिनी, कूकरी, चूहड़ी आदि भी कहा है। जहाँ मलूकदास माया को गाली के लहजे में मीठी छुरी कहते हैं। बुल्ला साहब उसे डाइन, दादू सांपिन, चरनदास नागिन कहते हैं।[११५] यद्यपि यह माया नये-नये साधक को बींध डालने के लिए खड़ी रहती है तो भी पूर्णज्ञानी सन्त की वह दासी है। दुनिया पर भले ही उसका एक-छत्र शासन है।[११६] आखिर एक दिन माया का जीव पर यह अत्याचार समाप्त हो जाता है। ज्ञानालोक उदय होते ही महामोह की अन्धरात्रि भाग खड़ी होती है। उपनिषद् कहते हैं कि ज्ञानी की "हृदय-ग्रन्थि टूट जाती है। सब संशय विलीन हो जाते हैं। वह उस परात्परब्रह्म तत्त्व के आलोक से एकाकार होकर कृतकृत्य हो जाता है।[११७] कबीर भी एक दिन ऐसे ही कृतकृत्य होकर रहे थे। और मस्ती में उन्होंने भी गाया था—

संतो भाई आई ग्यान की आंधी रे,
भ्रम की टाटी सबै उड़ाणी, माया रहै न बांधी,
दुचिते की द्वै थूंनी गिरांनी, मोह वलींडा टूटा।[११८]

और सन्त रैदास की आत्मा भी परब्रह्म से अभेद की अनुभूति पाकर कहने लगी—

तोहि मोहि मोही तोही अन्तर कैसा, कनक कटिक जल तरंग जैसा[११९]

सन्दर्भ

१. अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा ।
सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिकानो, भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिकानो ।।
सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिकानो, महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा ।।
—विवेक चूड़ामणि, गीता प्रेस प्रकाशन, पृ० ३७-३८

२. Six systems of Philosophy, p. 153

३. Philosophy of Upanishads by Gough, p. 237

४. "महायानिक बौद्ध गाथितं मायावादम्" ।
—भास्करभाष्य (ब्र० सू० पर) १-४-४५ तथा इसी प्रबन्ध का पृ० ४

५. "प्रत्यक्षादिप्रमाण सिद्ध विरुद्धार्थभिधायिन: वेदान्ता: यदि शास्त्राणि बौद्धै: किमपराध्यते ?"

६. "मायावादिवेदान्त्यपि नास्तिक एव पर्यवसाने सम्पद्यते" ।
—भीमाचार्यकृत न्यायकोश

७. ब्र० सू० पर मध्व का अणुभाष्य, २-२-२९

८. "वेदोऽनृतो बुद्धकृतागमोऽनृत: प्रामाण्य मेतस्य च तस्य चानृतम् ।
बौद्धानृतो बुद्धिफले तथाऽनृते यूयं च बौद्धाश्च समानसंसद: ।।"
—दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ८१९ पर उद्धृत

९. "Māyā soon assumed the meaning of illusion, Deception, Fraud, nay it assumed a king of mythological personality. The whole of this development of Vedantic thoughts, however is certainly late."
—Three lectures on the Vedant Philosophy, p. 128

१०. Philosophy of Upnishads by Gough, p. 237

११. "मायाविनं वृत्रमस्फुरन्नि:" —ऋग्वेद मं० २, सू० ११, मन्त्र ९

१२. "मायिनो दानवस्य माया अपादयत्" —वही मं० २, सू० ११, मन्त्र १०

१३. "मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिर:"
—वही मं० १, सू० १२, मन्त्र ७

१४. "मायिनाममिना: प्रोत माया:" —वही मं० १, सूत्र ३२, मन्त्र ४

१५. "The word Māyā was used in the Rgveda in the sense of supernatural power and wonderful skill."
— S. N. Dass Gupta : History of Indian Philosophy, Vol. I, p. 469

१६. "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" —ऋग्वेद ६-४७-१८

१७. "ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमान:" को भी देखिए।

१८. "तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्"
—ऋग्वेद मं० १०, सू० १२९, मन्त्र ५

१९. "उपनिषदों में दार्शनिक संश्लेषण नाम की कोई वस्तु, जैसी कि अरस्तु, कांट अथवा शंकर की पद्धतियों में है, नहीं पाई जाती। तार्किक सादृश्य की अपेक्षा उनमें आभ्यन्तर ज्ञान सम्बन्धी सादृश्य अधिक है।"
—भारतीयदर्शन (राधाकृष्णन्), पृ० १२८

२०. "Constructive Survey of Upnishadic Philosophy" p. 227

२१. वही, पृ० २२५-२८

२२. प्रश्नोपनिषद् शां० भा० १-१६

२३. वही

२४. केनोपनिषद् पदभाष्य ४-८

२५. भारतीय दर्शन (राधाकृष्णन्), भाग १, पृ० १२८

२६. वही

२७. 'विश्वमायानिवृत्तिः' १-१०, 'तस्मिंश्चान्यो माययासंनिरुद्धः' ४-९, 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' ४-१० —श्वेताश्वतर

२८. "इन्द्रजालमिव मायामयम्" —मैत्रायणी उ० ४-२

२९. "शंकराचार्य का आचारदर्शन" पृ० ५८

३०. "अविद्याकामकर्मसंसारबीजम्" —केन उ० पदभाष्य ४-९

३१. ब्रह्मसूत्र पर थिबौट की भूमिका

३२. "यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपिकालेषु न संस्पृश्यते"
—ब्र० सू० भा० २-१-९

३३. आदिग्रन्थ, रागु सोरठि, ४

३४. गीता में 'माया, प्रकृति, योगमाया के विभिन्न प्रयोग हैं' —गीता ७-२५
तथा 'प्रकृतिंस्वामवष्टभ्य सम्भवाम्यात्ममायया' —वही ४-६

३५. 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' —त्रिपाद्विभूति, महा ना० ३-३

३६. 'नेह नानास्ति किंचन' —वही
तथा 'इह ब्रह्मणिनाना नास्ति' —कठ उ० भाष्य २-१-११

३७. "परमार्थतोऽद्वैते ब्रह्मणि द्वैतमिव भिन्नमिववस्त्वन्तरमात्मनः उपलक्ष्यते"
—बृहदारण्यक भा० २-४-१४

३८. हिन्दी साहित्यकोश में माया का विकास।

३९. 'संवृति' का चन्द्रकीर्ति ने अर्थ किया है—"समन्ताद्वरणं संवृतिः। अज्ञानं हि समन्तात् सर्वपदार्थतत्वावच्छादनात् संवृतिरित्युच्यते।"
—माध्यमिक कारिका वृत्ति से उद्धृत बलदेव उ० भारतीय दर्शन, पृ० ५६४

४०. ब्र० सू० शां० भा० २-२-२९

४१. "सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो, महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा"

—विवेक चूड़ामणि, श्लोक १११

४२. "उर्णनाभिः लूताकीटः किंचित्कारणान्तरमनपेक्ष्य स्वयमेव सृजते स्वशरीराव्यतिरिक्तानिव तन्तून्बहिः प्रसारयति" —मुण्डक भा० १-१-७

४३. व्याकृतनामरूपविशेषविपरीतरूपमव्याकृतं ब्रह्मोच्यते। न पुनरत्यन्तमसत्"

—तैत्तिरीय भाष्य २-१

४४. "मायामात्रभिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः"

—माण्डूक्यकारिका, आगम प्र०, श्लोक १७

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ —गीता अ० ७, २५

* नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ —वही

४५. 'मम माया दुरत्यया' —वही अध्याय ७, श्लोक १४

४६. भारतीय दर्शन की रूपरेखा (प्रो० हिरियन्ना लिखित), पृ० ३६३

४७. ब्र० सू० शां० भा० पर थीबो की भूमिका—Brahmn is associated with a certain power called Māyā or Avidyā to which the appearence of the entire world is one. This power cannot be called 'being' (Sat) for being is only Brahm......

४८. "यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते वस्तुत्वात् एवं परमात्मापि संसार मायया न संस्पृश्यते"

—ब्रह्म सू० शां० भा० अ० २, उत्थानिका

४९. "बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य। मिथ्या मया उपलब्धो महाजन समागमो नह्यस्ति मम महाजनसमागमो। निद्राग्लानं तु मे मनोबभूव, तेनेषा भ्रान्ति रुद्भूवेति" —वही

५०. सत्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।
माया बिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः॥

—पंचदशी तत्त्वविवेक प्र०, श्लोक १६

५१. "उक्ता तत्त्वविवेके तु शुद्धसत्वमयी स्फुटा"

—वेदान्त सिद्धान्त सूक्ति मंजरी, श्लोक ३०

५२. ब्र० सू० शां० भा०, अध्याय २, पाद १, सू० १४

५३. "अविद्या प्रत्युपस्थापित नामरूप मायावेशवशेन" —वही २, २, २

५४. "अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्ति र्यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते जीवाः"।

५५. "एक एव परमेश्वरः कूटस्थः नित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविद-नेकधा विभाव्यते" —ब्र० सू० शां० भा० १-३-१६

५६. "अविद्यावशगस्त्वन्य तद् वैचित्र्यादनेकधा" —पंचदशी, तत्व वि० प्र०, श्लोक १७

५७. "निद्राशक्तिर्यथा जीवे दुर्घट स्वप्नकारिणी"
तथा "शयाने पुरुषे निद्रा स्वप्नं बहुविधं सृजेत् ।
ब्रह्मण्येवं निर्विकारे विकारान् कल्पयत्यसौ ।। —वही श्लोक ८६, ६०

५८. श्वेताश्वतर उप० १-१०

५९. सिद्धान्त लेश संग्रह (हिन्दी टीका अच्युत ग्रं० भा० प्रकाशन वाराणसी), पृ० ७०-७१

६०. वही

६१. ब्रह्मसूत्र अ० :, पाद १, सू० २८
"यह जो अविद्या कही जाती है वही माया कही जाती है ।"
"हे राम ! जगत्प्रपंच का बीज यह माया या अविद्या अविद्यमान होते हुए भी सर्वत्र फैली हुई है ।"
"यह माया अपार शक्तिवाली ब्रह्म की आदि और अन्तरहित शक्ति ही है ।"
"यह माया क्योंकि विवेक को ढाँप लेती है । अतः इसके असली रूप का कुछ भी पता न होने से यह माया एक आश्चर्य ही है ।"

६२. "अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः" —ब्र० सू० अध्यास भाष्य
तथा "तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते" —वही
तथा "एवमयमनादि रनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासः मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्व भोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः" —शांकर भाष्य उपोद्घात

६३. "सत्यानृत संभेदावभासत्वादध्यासस्य" —सिद्धान्तबिन्दु (अच्युत ग्रन्थमाला प्रकाशन), पृ० ६२
"तेनान्योन्याध्यासाच्चिदचिद् ग्रन्थिरूपोऽध्यासः" —वही, पृ० ६०

६४. "तेनान्योन्याध्यासाच्चिदचिद् ग्रन्थिरूपोऽध्यासः" —सिद्धान्तबिन्दु (अच्युत गन्थमाला वाराणसी, प्रकाशन), पृ० ६०

६५. "दृश्यत्वाज्जडत्वाद् विनाशित्वाच्च परिच्छिन्नाऽप्यविद्या अनिवचनीयत्वेन विचारासहा आवरणविक्षेपशक्तिद्वयवती सर्वगतं चिदात्मानमावृणोति, अंगुलिरिव नयनपुरःस्थिता सूर्यमण्डलम्" —वही, पृ० ७८

६६. "सर्वं च सृष्टिप्रलयादिकं स्वप्नसृष्टिप्रलयवदपारमार्थिकमपि वासनादार्ढ्याद् व्यवहाराक्षममिति न मायिकत्वेऽपितुच्छत्व प्रसंगः ।" —वही, पृ० १४८-४६

६७. भक्तिकाव्य में रहस्यवाद, पृ० ६४

६८. "यह अज्ञान केवल ज्ञान के अभाव का ही बोधक नहीं है। अपितु शांकर सिद्धान्तों के ग्रन्थों में युक्ति और प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया गया है कि यह भावरूपा है। 'मैं अज्ञ हूँ', 'मैं इस विषय को नहीं जानता' इत्यादि वास्तविक अनुभव सभी को होता है और यही अज्ञान के भावरूप होने में प्रमाण है।"

—दर्शन अनुचिन्तन : गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ० ६६

६९. "यत्सत्वादमृषैव भाति निखिलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः"

—बालकाण्ड, मंगलाचरण, श्लोक ६

"मायावस परिच्छिन्न जड़ जीव कि ईस समान"

— मानसरहस्य, पृ० १५८, गीता प्रेस प्रकाशन

७०. "दर्शन अनुचिन्तन" पृ० ११२

७१. विचारसागर (श्री वृत्तिरत्नावलिसहित) वेंकटेश्वर प्रकाशन, सन् १९५३; पृ० २४३

७२. वही, पृ० २४४

७३. वही

७४. वही

७५. वही, पृ० २४६

७६. वही, पृ० ६३६

७७. सन्त रविदास और उनका काव्य, स्वामी रामानन्दशास्त्री सम्पादित, पृ० १११, पद-संख्या ३३

७८. वही, पृ० ११०, पद-संख्या ३२

७९. "सत् चेत् न स बाध्येत असच्चेन्न प्रतीयेत"। अतः मिथ्या तत्व का यही लक्षण किया जाता है 'सदसद्‌विलक्षणत्वं मिथ्यात्वम्'।

८०. कबीरग्रन्थावली, पृ० ८६

८१. 'अघटितघटनापटीयसी'

८२. सन्तकाव्य (श्री परशुराम सम्पादित), पृ० १६३

८३. कै तुम्ह आया परगट करना कै यहु रचिलै जीव उघरना।

× × ×

ये सब दादू अकथ कहानी, कहि समझावौ सारंगपानी।। —वही पृ० २८८

८४. वही, पृ० २१३

८५. वही, पृ० २१४

८६. वही, पृ० २९१

८७. वही, पृ० २९६

८८. वही, पृ० ५१८

८९. "सिध चौरासी नाथ नौ बीचैं सबै भुलान" —वही, पृ० ५५२

९०. पलटू की बानी (वेल्वेडियर प्रेस प्रयाग), पृ० ७२

९१. उदेति भवतो विश्वं वारिधे रिव बुदबुदः ।
इति ज्ञात्वैकमात्मानभेवमेव लयं व्रज ।।
प्रत्यक्षमप्यवस्तुत्वाद् विश्वं नास्त्यमले त्वयि ।
रज्जुसर्प इवाव्यक्त-मेव मेवलयं व्रज ।।
—अष्टावक्र संहिता, अ० ५; श्लोक २-३

९२. सन्तकाव्य, पृ० ४९५

९३. विषया: विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।। —अ० २, श्लोक

९४. दादूबानी भाग १, पृ० १८१

९५. विश्वामित्र पराशर प्रभृतयो वाताम्बपर्णाशना ।
स्तेऽपि स्त्रीमुख पंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः ।।

९६. "मायामात्रभिदं राजन् नानात्वं प्रत्यगात्मनि"
—भागवतपुराण १२-४-२५

९७. 'अन्यत्राऽन्यधर्मावभासः'
—ब्र० सू० पर शंकरकृत अध्यास भाष्य, उपोद्‌घात

९८. 'अद्वैतसिद्धेः द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वाद् द्वैतमिथ्यात्वमेव प्रथममुपादनीयम्"
—अद्वैतसिद्धि, पृ० ८

९९. सन्तकाव्य, पृ० ५२०

१००. पानी विच मीन पियासी, मोहिं सुन सुन आवत हासी ।
आतम ज्ञान बिना सब झूठा, क्या मथुरा क्या कासी ।।
—कबीर (ह० प्र० द्वि०), पृ० २९३, पद ४३

१०१. 'अतोऽन्यदार्तम्' —बृहदारण्यक ३-४-२
तथा 'ज्ञानबाध्यत्वं मिथ्यात्वम्'
— ब्रह्मसूत्र भूमिका (स्वामी सत्यानन्दकृत हिन्दी टीका)

१०२ सन्तकाव्य, पृ० ५४६

१०३. जल में कुम्भ कुम्भ में ज़ल है बाहिर भीतर पानी ।
फूटा कुम्भ जल जल हि समाना यह तथ कह्यो गिआनी ।।
—कबीरग्रन्थावली, पृ० १०३

१०४. दरियाव की लहर दरियाव है जी, दरियाव और लहर में भिन्न कोयम् ।
उठे तो नीर बैठे तो नीर है कहो किस तरह दूसरो होयम् ।।
—कबीर, पृ० २४१, पद १४

१०५. सन्तकाव्य, पृ० ३८७

१०६. वही, पृ० ४३९
१०७. 'शंकरकृत चर्पटपंजरिका स्तोत्रम्'
१०८. "देव। संसै गांठि न छूटै
काम क्रोध माइआ मद मत्सर इह पंचहु मिलि लूटै
हम बड़ कवि कुलीन हम पण्डित हम जोगी संनियासी"
—सन्तकाव्य, पृ० २१३
१०९. 'पलटू की बानी' (वेलवेडियर प्रेस), पृ० ७२
११०. यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥ —मुण्डक उ० ३-२-३
१११. ब्रह्मादिक सुर नर सनकादिक में बपुरौ धूंका में का कर।
जिहि तुम तारो सोई पै तिरई, कहै नां तर बांध्यौ मरई ॥
—सन्तकाव्य, पृ० १९०
११२. वही, पृ० २१३
११३. वही, पृ० १७७
११४. सन्तकाव्य, पृ० ३४३, ३४७
११५. "माया मिसरी की छुरी मत कोई पतियाय" —मलूक की बानी, पृ० ३६
"यह माया जस डाइनि हरहि लेत है प्रान" —बुल्ला साहिब, पृ० २९
"सांपिन इक सब जीव कों आगे पीछे खाई" —दादूबानी भा० १, पृ० १२३
"चिन्ता घर में नागिनी, ताके मुख हैं दोय, निसि दिन खाये जात है, जान सकत नहीं कोय" —चरनदास की बानी, पृ० २२
११६. "माया चेरी सन्त की दासी उस दरबार, ठकुराणी सब जगत् की तीन्यूं लोकमंझार" —दादू की बानी, भाग १, पृ० १२६
११७. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ —मुण्डक उ० २-२८
११८. सन्तकाव्य, पृ० १७८-७९
११९. वही, पृ० २१७

७

ईश्वर

अद्वैतवेदान्त में यद्यपि मुख्यरूप से निर्गुण, निराकार, निर्विकार ब्रह्मचेतना का अन्वेषण ही मूलभूत प्रश्न है तो भी उसमें आस्तिक पद्धतियों की चिन्तनगत समस्त सगुणब्रह्मपरक मान्यताओं को भी समन्वित कर लिया गया है। व्यवहार रूप में कर्म एवं उपासना की स्वीकृति शांकरवेदान्त में बहुत पहले मान ली गई थी। इसी व्यावहारिकता के बीच ही ब्रह्म के उपास्य और उपासक रूप की कल्पना को तर्क-सम्मत मान लिया था। शंकर मानते थे कि निरुपाधिक निर्विकल्प ब्रह्म को मन्दबुद्धि लोग उसकी तर्कातीतता के कारण नहीं ग्रहण कर सकते।[१] अतः उपास्य ईश्वर के रूप में वर्णित सोपाधिक ब्रह्म मन्दबुद्धि लोगों के लिए भी ग्राह्य हो सकेगा।[२] साधारणबुद्धि जिज्ञासुओं के प्रति शंकर उदासीन नहीं थे। वरन् वे पंचदेवोपासना को हिन्दू मन्दिरों में प्रतिष्ठित न होने देते। आत्माद्वैत हमें बताता है कि ब्रह्म हमारे अस्तित्व का परमसत्य है। इस परमसत्ता के बाहिर जीव, ईश्वर, जगत् की कल्पना का प्रश्न ही नहीं उठता है। क्योंकि परमार्थ रूप में ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य स्वीकार कर लेने से पूज्य-पूजक भाव से उत्पन्न होने वाला द्वैत मूलरूप में ही बाधित हो जाता है। केनोपनिषद् में ब्रह्म के उपास्य-उपासक भाव वाले द्वैत का कई कारिकाओं द्वारा 'नेदं यदिदमुपास्ते' अर्थात् यह जो उपासना किया जाता है वह ब्रह्म नहीं है कहकर निषेध किया गया है।[3] किन्तु व्यवहार दशा में इसी निर्विशेष ब्रह्म की सविशेष रूप में कल्पना केवलाद्वैत में मान्य हुई। आचार्य शंकर ने मूर्त और अमूर्त ब्रह्म के दोनों रूपों को मान्य ठहराया, और उसे उपनिषद्-सम्मत भी कहा।[४] क्योंकि वे जानते थे कि अमूर्तब्रह्म की उपासना सरल नहीं। गीता की इस स्वीकृति पर कि "अव्यक्त ब्रह्म में लगे हुए लोगों को अधिक क्लेश का सामना करना होता है"[५], वे समझते थे कि उपास्य-उपासक भाव में साधना का एक पूर्ण अनुशासन ज्ञानी के प्राणों को अधिकाधिक पुष्ट करता चलता है। अतः अद्वैतज्ञान की उपलब्धि भी ईश्वरानुग्रह के बिना नहीं हो सकती। इसी से भगवत्पाद ने कहा 'ईश्वरानुग्रहादेव पुमानद्वैतवासना'।[६] बिना उस प्रभुसत्ता के कृपाकटाक्ष के तत्त्वबोध का भी तो प्रश्न नहीं उठता।[७] अतः वेदान्त-मत में

आत्माद्वैती आचार्यों ने भी भगवदुपासना के मार्ग को स्वीकार किया। स्वयं भगवत्पाद ने ही श्रीकृष्ण, शक्ति, विष्णु आदि के कई उपासनापरक स्तोत्र लिखे। शंकर ने अपने अद्वैत का संरक्षण करते हुए विष्णु से प्रार्थना की "हे नाथ ! मेरा और आपका अभेद हो जाने पर भी मैं आपका हूँ न कि आप मेरे। तरंगें सदैव समुद्र की होती हैं। समुद्र तरंगों का नहीं होता।"[८] इस प्रकार ईश्वर को समस्त विश्व की गतिविधियों के नियामक, शास्ता के रूप में माना। किन्तु ईश्वर की इस कल्पना को आचार्य ने बड़े विवेक के साथ ग्रहण किया है। वे जानते थे कि ब्रह्म का सविशेष रूप (ईश्वर) एक तात्विक सत्य (Mataphysical reality) की अपेक्षा प्रयोजनवादी सत्य (Pragmatic reality) अधिक है। सामान्य जिज्ञासु प्रयोजनमूलक सत्य को ही ग्रहण कर नैतिक-सत्य की ओर पहले बढ़ता है फिर क्रमशः निर्विशेष ब्रह्म को पकड़ता है। सगुण ब्रह्म की उपासना से साधक की भाव-भूमि दृढ़तर होती चलती है। इस भावना के अनुसार ही फिर साधक को यथा-योग्य फलों की उपलब्धि भी होती है।[९] इसलिए सर्वव्यापी ब्रह्म की उपासना के लिए किसी विशेष प्रदेश को ग्रहण कर प्रार्थना करने में कोई अनौचित्य नहीं। यद्यपि ब्रह्म प्रदेश-विहीन है तो भी उपाधि के सम्बन्ध से उसमें प्रदेश-विशेष की कल्पना की जा सकती है।[१०] इसी आधार पर शांकरवेदांत में शंकर की ईश्वर की कल्पना सुसंगत रूप में हमारे सामने आई है। आचार्य मूलतः इस बात को मानकर चले थे कि जहाँ समस्त विशेष सम्बन्धों से रहित निर्विशेष ब्रह्म का उपदेश किया जाता है वहाँ मोक्षरूप फल की प्राप्ति होती है किन्तु जहाँ किसी गुणविशेष से या प्रतीक विशेष से जुड़े हुए सोपाधिक ब्रह्म का उपदेश किया जाता है वहाँ लौकिक छोटे-मोटे फलों की प्राप्ति होती रहती है।[११] अतः दोनों रूपों में ही साधक का ब्रह्म से ही सम्बन्ध बना रहता है। उपनिषदों में तो कई जगह प्रदेशरहित ब्रह्म की उपाधि-विशेष से सम्बन्ध होने पर सूर्य में, नेत्र में, हृदय में प्रतीकों के माध्यम से कल्पना की गई है। इस प्रकार सगुणरूप में भी उपासना किया हुआ ब्रह्म सर्वगत होने से प्रसन्न होता है।[१२] ब्रह्म के तटस्थ लक्षण में जो कहा गया है कि सृष्टि के उद्‌भव, स्थिति और लय का कारण एकमात्र ब्रह्म है, वह सगुणब्रह्मपरक वचन ही है। अतः केवलाद्वैत में ईश्वरवाद की ठीक ढंग से स्थापना स्वीकार की गई है। एक शासक में जो सर्वश्रेष्ठ क्षमताएँ हो सकती हैं वे सब ईश्वर में हैं। किन्तु मेरे विचार में शांकरवेदान्त ईश्वर को कर्तृत्व से दूर ही रखना चाहता है। वह ईश्वर को जगत्-स्रष्टा, अधिष्ठाता सब प्रकार से शासक मानते हुए भी उसे तात्विकदृष्टि से कर्ता मानने के पक्ष में नहीं प्रेरक जरूर मानते हैं। यहाँ हिन्दी सन्तों और अद्वैतियों में थोड़ा भेद है। सन्त ईश्वर को कहीं-कही इस्लामी ढंग से कर्ता मान लेते हैं जो एक दार्शनिक त्रुटि है।[१३] दार्शनिक दृष्टि से ईश्वर का कर्तृत्व मान लेने पर सैंकड़ों शंकाएँ दलबल सहित हमारी ईश्वर-सम्बन्धी धारणा को निर्मूल कर

देंगी। अतः जगत्-रचना के क्षेत्र में आचार्य ने ईश्वर को कर्तृत्व से मुक्त रखते हुए उसे लीलारत मान लिया है। उसकी आत्मरति ही जगत् का मूल कारण है। उसकी आत्म-क्रीडा जिसे सन्तों ने 'आप आप सूं खेले' कहा है, वही विश्व की त्रिविध अवस्थाओं का कारण है। अतः यह सृष्टि-रचना ईश्वर का कर्म नहीं है। क्योंकि कर्तृत्व का सदा ही कोई न कोई प्रयोजन होता है। किन्तु ईश्वर का कोई प्रयोजन नहीं। अतः यह उसकी लीलारूपा प्रवृत्ति ही मानी जा सकती है।[१४] शंकर कहते हैं कि "यद्यपि सीमित बुद्धि वाले हमारे लिए यह विश्वरचना एक महान् प्रारम्भ वाली क्रिया ही हो सकती है किन्तु है यह अपरिमित शक्ति ईश्वर की एकमात्र लीला।"[१५]

अतः वेदान्त में ईश्वर को ही जगत् का उपादान-कारण मान लिया गया है। 'उसने ईक्षण किया', उसने प्राण का सृजन किया, उसने कामना की, मकड़े की उपमा-परक जैसे सभी उपनिषदों के कथन सविशेष ब्रह्म को ही सृष्टि का निमित्त व उपादान दोनों कारण प्रतिपादन करते हैं।[१६] किन्तु परवर्ती शांकरवेदान्त में इस विषय में ऐकमत्य नहीं कि ईश्वर ही एकमात्र जगत् का रचयिता है। शंकर-दर्शन के व्याख्याता संक्षेप-शारीरककार शुद्ध ब्रह्म को ही जगत् का उपादान-कारण मानते हैं। दृष्टि-सृष्टिवादी मत के लोग ईश्वर, जीव, जगत् सबको जीव की ही मानसिक रचना मानते हैं। किन्तु विवरण-मत में मायाविशिष्ट ईश्वर ही सृष्टि का उपादान-कारण है।[१७]

अद्वैतवेदान्त के मान्य ग्रन्थ पंचदशी में भारतीतीर्थ ने ईश्वर को चैतन्य के प्रतिबिम्ब के रूप में माना है। वे कहते हैं कि इस रूपक से हमें ईश्वर को समझना चाहिए कि "माया मेघ के समान है। बुद्धिस्थित वासनाएँ मेघस्थित जलकणिकाओं के समान है। उन जलकणिकाओं में आकाश के प्रतिबिम्ब की तरह स्थित चिदाभास ही ईश्वर है।"[१८] इस प्रकार ईश्वर वह महान् चैतन्य-प्रतिबिम्ब है जो सभी बुद्धियों में समानरूप से झलकता है। इसी स्थिति में ही ईश्वर समस्त प्राणियों की बुद्धियों का नियामक हो सकता है जो सब प्राणियों को यन्त्रारूढ़ की तरह अपनी लीला के लिए घुमाए जा रहा है।[१९] इस प्रकार माया के अधीन चिदाभास ही पंचदशीकार के मत में मायावी महेश्वर बनकर जगत् का मूलकारण बनता है।[२०] मायारत होने से ही वह लीलारत है। वरन् निर्विशेष ब्रह्म में तो लीला भी सम्भव नहीं। यह विश्व उसकी मात्र लीला है।[२१]

यह मायारत ईश्वर अद्वैतवेदान्त में अमित शक्ति वाला शासक है।[२२] उसकी इच्छा से तिनका भी वज्र हो सकता है। अतः इस महती शक्ति-सम्पन्नता के कारण ही वह समस्त प्राणिजगत् को दण्ड देने और कृपानुदान करने में सर्वथा स्वतन्त्र है। क्योंकि वह सर्वेश्वर है।[२३] सर्वान्तर्यामी है। आचार्य स्वयं उसे मायावी के समान स्वेच्छा से समस्त शक्ति स्रोतों का उद्घाटन करने वाला महायोगी कहते

हैं।[२४] दूसरी ओर सन्त निश्चलदास ने माया को ईश्वर का शरीर मानकर समस्त ब्रह्माण्ड का उसी के अन्दर होना स्वीकार किया है।[२५]

यद्यपि वेदान्त ज्ञान-प्रधान है तो भी प्रासंगिक रूप से कर्म-सिद्धान्त का भी उचित व्याख्यान केवलाद्वैत में है। आचार्य ने ईश्वर को जीवों के कर्मों के फलों का दाता भी माना है। वह ईश्वर सर्वज्ञ होने से सभी जन्तुओं की बुद्धियों के कर्म-फलों का साक्षी होने से सर्वभूतान्तरात्मा है।[२६] तथा कर्तृत्वाभिमान और फल-संग से सर्वथा मुक्त होने से वह असंग है।[२७] वह कर्ता नहीं है किन्तु उसकी सत्ता के प्रभुत्वमात्र से ही समस्त कर्मों का होना है। अत: वह एकेश्वरवादी खुदा की तरह नहीं है जो एक हुक्काम अधिक है, जो जीवों के लम्बे-लम्बे रिकार्ड रखता है और किसी को अपने स्वेच्छाचार से स्वर्ग और किसी को नरक देता है। आत्मा-द्वैतियों का ईश्वर सबकी बुद्धि में स्थित होने से बिना किसी प्रयत्न के जीवों को कर्म-फल प्रदान करने में निमित्त कारण है।[२८] वह ईश्वर समस्त कल्याणों का भण्डार है।[२९] उसमें पाप का लेश भी नहीं।[३०] वह समस्त प्राणियों का मित्र है।[३१] अत: अपने जीवन में समस्त सद्गुणों की वृद्धि उसी के स्वरूप का क्रमश: ग्रहण है। यह सविशेष ब्रह्म ही एक दिन हमारे कर्मों से प्रसन्न होकर हमें निर्मल बनाकर निर्विशेष परमपद की ओर अग्रसर कर देता है। अन्यथा दिशा, देश, गुण, गति, फल आदि सभी भेदों से शून्य निर्विकार ब्रह्म तो बुद्धि का अविषय होने से शून्य ही भासने लगता है।[३२] अत: अलक्ष्यपद की ओर बढ़ते हुए रास्ते में पड़ने वाले नास्तिकता या शून्यता के पड़ाव पर भटक जाने के खतरे से केवल मात्र शांकर ईश्वर ही बचाता है। वह प्रारम्भिक कोटि के जिज्ञासुओं का ध्येय है अतएव रक्षक भी है। तर्क-दृष्टि से ईश्वर का दार्शनिक महत्त्व शंकर को उतना अभिप्रेत नहीं जितना कि श्रुति के ईश्वर के सत्तामूलक कथनों की मर्यादा की रक्षा के निमित्त तथा उपासना की व्यावहारिकता एवं नैतिकता की रक्षा के लिए अभि-प्रेत है। अत: श्रुति-कथन की प्रामाणिकता के लिए आचार्य ने एक अपने ढंग से सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी ईश्वर का निर्विशेष ब्रह्म से अभिन्न रूप में अस्तित्व माना है।[३३] सन्तों में भक्तिमिश्रित ज्ञान का जो रूप दिखाई देता है शांकरवेदान्त में उसके लिए पर्याप्त स्थान रहा है। निर्गुण और निर्विशेष ब्रह्म की उपासना सन्त भी कैसे कर सकते थे। किन्तु भावना की पुष्टि के लिए उन्होंने भी उपास्य-उपासक भाव को पूर्णत: स्वीकार किया है। किन्तु वैष्णवों की तरह मूर्ति-पूजा को कभी नहीं स्वीकार किया। उनकी दृष्टि में भी ईश्वर कोई एक पक्षपाती या फल देने में स्वेच्छाचारी सत्ता नहीं, अपितु साधक को कृपा द्वारा माया मोह से मुक्त कर मोक्ष-मार्ग की ओर अग्रसर करता है। गीता में चार प्रकार के 'आर्त्तो जिज्ञासु: अर्थार्थी ज्ञानी च' ईश्वर-भक्तों की जो कल्पना की गई है, सन्त उसमें जिज्ञासु और ज्ञानी भक्तों की कोटि में ही आते हैं। ज्ञानी भक्त को श्रीकृष्ण भी

सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।[३४] सन्त ऐसे ही ज्ञानी भक्त हैं जो यथार्थ सत्ता के स्वरूप से परिचय पाने के लिए ही मात्र स्वयं को आध्यात्मिक विरहाग्नि में तपाते रहे। ईश्वर से उनकी प्रार्थना भी कुछ यही थी कि हे प्रकाश के देवता ! तू अपने सच्चे स्वरूप का मेरे सम्मुख निरावरण कर—

कै विरहिन कूं मीच दै कै आपा दिखराई,
आठ पहर का दाझणां, मो से सहा न जाई।[३५]

ब्रह्म के ऐसे रूप को मान लेने के बाद कि "वह परमतत्त्व ऐसा अनुपम है कि उसका न मुंह है न माथा, न वह कुरूप है न सुरूप। वह तो पुष्पगन्ध से भी कहीं अधिक सूक्ष्म है"[३६] फिर भला उसके विषय में यह कहने की गुंजाइश कहाँ रहती है कि "रामगुण न्यारो न्यारो न्यारो।"[३७] निर्गुण के गुण गाने की बात सुनकर लोग सन्तों के अशिक्षित होने की बात पर जोर देकर कहते हैं कि इन्हीं दार्शनिक विरोधों के कारण सन्तों का दार्शनिक ज्ञान अधकचरा है। किन्तु जब मधुसूदन सरस्वती सरीखा अद्वैताचार्य यह कहता है कि योगी लोग ध्यान के अभ्यास से समाधिस्थ मन द्वारा भले ही किसी निर्गुण निष्क्रिय ज्योति को देखा करें किन्तु मैं तो यमुना तट पर खेलती हुई उस नीलिमा की ही क्रीड़ा देखा करूँ[३८] तब क्या विरोध नहीं दीखता। वस्तुतः शंकर ने एक व्यावहारिक दर्शन का भी सूत्रपात किया था, जिसमें ज्ञान, भक्ति, कर्म सब अंगागी-भाव से मिलकर अपने दार्शनिक विरोध भूल बैठे थे। सामान्य लोगों में उनके इसी दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। किन्तु शंकरोत्तर वेदान्त में तार्किकता पर अधिक जोर देते रहने से वेदान्त पारिभाषिकता की ओर अधिक झुकता चला गया। किन्तु कुछ एक सन्तों ने इस पारिभाषिकता के वज्रपाश को भी तोड़कर बहुत कुछ सीखा है। सुन्दरदास और निश्चलदास इनमें अग्रणी हैं। निश्चलदास ने ईश्वर की एक उपयुक्त परिभाषा दी है। उपाधि के भेद से जैसे एक ही आकाश के चार भेद हो जाते हैं जैसे घटाकाश, जलकाश, मेघाकाश, महाकाश।[३९] इसी प्रकार एक चेतन के भी चार उपाधि भेद माने गए हैं - (१) जैसे व्यष्टि अज्ञान का अधिष्ठान चेतन कूटस्थ है। (२) जैसे घटाकाश सहित आकाश का प्रतिबिम्ब जलाकाश कहा जाता है, वैसे ही कूटस्थ सहित चिदाभास को जीव कहा जाता है। (३) माया में चेतन का आभास और माया का अधिष्ठान चेतन ये दोनों मिलकर ईश्वर हैं। ईश्वर मेघाकाश के समान अन्तर्यामी और मुक्त है।[४०] (४) चौथा ब्रह्माण्ड के अन्दर और बाहर महाकाश की भांति भरपूर चेतन ब्रह्म कहा जाता है। ईश्वर सर्वान्तर्यामी है, सदा मुक्त है। उसमें वह स्वरूपावरण नहीं, जो जीव में है। क्योंकि प्रकाश-रूप शुद्ध-सत्वगुणवाली माया में चैतन्य का आभास ही ईश्वर है। उसकी माया में आवरण करने वाले रजोगुण और तमोगुण सत्वगुण से दबे रहते हैं। इसी आधार पर कुछ

अद्वैताचार्य शास्त्र के इस कथन का कि "ईश्वर ही विश्व की सर्जन, पालन, संहार क्रियाएँ करता है"[४१] का अर्थ इस ढंग से करते हैं कि शुद्धसत्वसम्पन्न माया में चेतन अंश तो सदैव आकाश की तरह असंग है किन्तु आभास अंश में ये सब क्रियाएँ हैं ही। आभास अंश में ही वह ईश्वर सर्वज्ञता एवं दुष्टों के निग्रह तथा भक्तों पर अनुग्रह करने का अधिकार रखता है।[४२]

माना जा सकता है कि निश्चलदास के पूर्ववर्ती सन्तों को इन पारिभाषिकताओं का ज्ञान भले न रहा हो। किन्तु ज्ञानी सन्तों की ईश्वरोपासना वैष्णवों की सगुणोपासना से भिन्न ही नहीं अपितु खण्डन-परक होने से बिल्कुल अलग किस्म की है। वेदों और उपनिषदों में जो ब्रह्म का विधि-परक वर्णन है, उसमें उस ब्रह्म को पुरुष, कर्ता, संसार के मोक्ष, बन्ध स्थिति का कारण संहर्ता आदि रूपों में दिखाया गया है।[४३] ऐसे लगता है कि मूलतः वैदिक मनीषियों की तरह ही सन्त भी बोधस्थिति में तो परब्रह्म को अज्ञेय अनिर्वचनीय ही मानते थे, किन्तु प्रेम का आवेश उन्हें चुप रहने नहीं देता था फलतः इस विह्वलता की दशा में वे निर्गुण को ही अपनी तृप्ति के लिए सगुण की तरह कहने लगते थे। वस्तुतः भाषा कोई भी हो द्वैतहीन नहीं हो सकती। और जो तथ्य कथन में आ जाता है वह अद्वैत एवं चरमसत्य नहीं हो सकता। हाँ चरमसत्य के साक्षात्कार के अनन्तर हमारे ही किसी उच्च मनश्चैतन्य का कोई गुणात्मक प्रत्यक्ष वह हो सकता है। वही व्यावहारिक सत्य (Pragmatic reality) के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। कबीर ने एक सधे हुए ब्रह्मचेता की तरह निर्गुण और सगुण की ज्ञानात्मक और प्रेमात्मक उपयोगिता को स्वीकारते हुए दोनों से ऊपर की ओर संकेत दिया—

सरगुण की सेवा करो निरगुण का करु ज्ञान,
निर्गुण सरगुण के परे तहं हमारा ध्यान।[४४]

कुछ भी कहें सन्त अच्छी तरह जानते थे कि सगुणब्रह्म तो मायी है। मायी के ही सब अवतार हैं। अवतारी ब्रह्म ठोस सत्य नहीं हो सकता है। कबीर कहते हैं—

सन्तो आवै जाय सो माया
है प्रतिपाल काल नहिं वाके ना कहुं गया न आया।

× × ×

दस अवतार ईश्वर की माया, कर्ता के जिन पूजा
कहै कबीर सुनो हो सन्तो, उपजे खपै सो दूजा॥[४५]

सन्त गुलाबसाहब का कहना है कि वह परमतत्त्व न पैदा होता है न मरता है, न योनियाँ भोगता है। वह एकाकी ही अपने अमरत्व में निवास करता है।[४६]

सन्तों के इन कथनों में सुसम्बद्धता चाहे न मिलती हो किन्तु भारतीय संस्कृति के एक विराट् दर्शन की परम्परा को उन्होंने कायम रखा है। ईश्वर के विषय में नैयायिकों की तरह ईश्वर की सत्ता के समर्थन में दिए गए वक्तव्य जो ईश्वर को ही एकमात्र चरमसत्ता मानते हैं,[४७] सन्तों को भी स्वीकार्य नहीं थे। क्योंकि ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं हो सकता। उसके व्यक्ति होने मे बीसों दोष खड़े हो जाते हैं। आचार्य रजनीश इस विषय में कहते हैं कि दरअसल "ईश्वर व्यक्ति नहीं है, अनुभूति है। अहं केन्द्र के विसर्जन पर जो विश्व का दर्शन होता है, उस दर्शन—उस अनुभव को ही मैं ईश्वर कहता हूँ। ईश्वर की कोई अनुभूति नहीं होती है वरन् सर्व-पूर्ण प्रेम की उस अनुभूति का नाम ही ईश्वर है।" लगता है कि वेदान्त के अनुसार यह अनुभूति ही रूढ़ि बनकर ईश्वरत्व का बाना पहन लेती है, जिसकी व्यावहारिक उपासनात्मक उपयोगिता को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। अतः जहाँ-जहाँ सन्तों ने किसी तरह भक्ति के आवेश में ब्रह्म को कर्ता, स्वयंभू, सर्वज्ञ आदि कहा है[४८] वहाँ उनकी सत्व-सम्पन्न अधिमानस अनुभूतियों ने ही विभिन्न रंगों में सत्य को देखा है। अपनी अनुभूतियों के साथ मिलाते हुए सन्त कभी उस ईश्वर के भजन में परायण होकर उसे जोलाहा, पिता, पिया, खसम, पुरुष, सांई, राम, बाजीगर, हरि, नारायण, गोविन्द, पुरुषोत्तम, अल्लाह, ईश्वर, निरंजन जाने क्या-क्या कहते हैं। कबीर के इस कथन को आप एक अनुभूति के अतिरिक्त क्या कहेंगे—

अस ओलहा का मरम न जाना, जिन जग आय पसारिन्ह ताना।[४९]

दूसरे क्षण कबीर उसी अकल्पनीय-तत्त्व की पिता-माता के रूप में कल्पना करते हैं।[५०] गरीबदास उसे पुरुष कहते हैं।[५१] मलूक कहते हैं, कि उसके समान कोई दाता नहीं।[५२] दादू उसे बाजीगर बना देते हैं।[५३] यारी साहब उसे ओंकार के पार कहते हैं।[५४] गुलाल साहब उसे अपरम्पार पुरुषोत्तम[५५] और सुन्दरदास उस सर्व-समर्थ को अपना साहिब कहते हैं।[५६] यानी वह कोई ठोस रूपात्मक सत्ता नहीं। हर कोई उसे अपनी दृष्टि से मनचाहे ढंग से देख सकता है। तुलसीदास ने मानस में राम के ईश्वरत्व को इसी लहजे में कहा है कि सीतास्वयंवर के समय नगरवासियों ने राम को सुन्दर बालक, और शत्रु राजाओं ने पर्वत के समान गम्भीर तथा कठोर देखा। किन्तु अन्ततः सभी सन्त इस ईश्वरपरायण समर्पण-योग द्वारा अपने को शुद्ध बनाकर अन्तिम सत्य के रूप में यही कहते हैं कि "परमात्मा अद्वितीय है। उसके जो अनन्तरूप लोक में प्रचलित हैं, वे सब कृत्रिम हैं। एक ही आत्मा का सर्वत्र वास है।" द्वैत-निरास की यह स्थिति भीखा के शब्दों में देखिए—

भीखा केवल एक है किरतिम भया अनन्त।
एकै आतम सकल घट यह गति जानहिं संत॥[५७]

वस्तुतः सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वगुणाश्रय निराश्रयों की शरण, ईश्वर पर विश्वास करने से सत्कर्मों की वृद्धि और लोकमंगल भावना बढ़ती है। किन्तु डॉ० सम्पूर्णानन्द कहते हैं कि इनसे ईश्वर का अस्तित्त्व सिद्ध नहीं होता—"वह (ईश्वर) उन उपयोगी अलीकों में से है जिनकी सृष्टि अपनी सुविधा के लिए चित्त करता है।"[५८]

सन्दर्भ

१. "नहि निरुपाधिकमेव ब्रह्म मन्दबुद्धिभिराकलयितुं शक्यम्"

—केन उ० शां० भा० ४-५

२. "एवमादिश्यमानं ब्रह्म मन्दबुद्धिगम्यं भवति" —वही, ४-४

३. "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" —वही, ३-१

४. मूर्तं चैवामूर्तं द्वे एव ब्रह्मणो रूपे।
इत्युपनिषत् तयोर्वा द्वौ भक्तौ भगवदुपदिष्टौ॥

—प्रबोधसुधाकर, श्लोक १६९-७०

५. "क्लेशोऽधिकतर स्तेषा मव्यक्तासक्तचेतसाम्" —भगवद्गीता, १२।४-५

६. कल्याण (उपनिषद्-अंक), पृ० १५२

७. "कथं त्वत्कटाक्षं बिना तत्त्वबोधः" —वही

८. सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥ —शंकरकृत 'षट्पदी'

९. "भावना-विशेषतः फलविशेषोपपत्तेः" —छान्दोग्य उ० शां० भा० २-२०-२

१०. सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपासनार्थः प्रदेशविशेष-परिग्रहो न विरुध्यते।
ननूक्तम् निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मणः प्रदेशविशेषकल्पना नोपपद्यते इति॥
नायं दोषः निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मण उपाधिविशेष—सम्बन्धात् प्रदेश विशेष कल्पनोपपत्तेः। —ब्र० सू० शां० भा० १-१-२४

११. "यत्र हि निरस्त-सर्वविशेष सम्बन्धं परं-ब्रह्मात्वेन उपदिश्यते तत्रैकरूपमेव फलं मोक्ष इत्यवगम्यते। यत्र तु गुणविशेष सम्बन्धं प्रतीकविशेष सम्बन्धं वा ब्रह्मोपदिश्यते, तत्र संसारगोचराण्येव, उच्चावचानि फलानि दृश्यन्ते।"

—श्री शंकराचार्य, पृ० २९७

१२. "सर्वगतोऽपीश्वरस्तत्रोपास्यमानः प्रसीदति"

—ब्र० सू० शां० भा० १-२-७

१३. नानक द्वारा सिख-सन्तों को दिए गए जपु जी साहिब के प्रथम पद में ही ईश्वर को सत्यनाम के बाद 'कर्त्ता' पुरुष, निर्भय, निर्वैर, अकालमूर्ति, अयोनि, स्वयंभू आदि विशेषणों से सम्बोधित किया है।

१४. ईश्वरस्यापि-अनपेक्ष्य किंचित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्ति र्भविष्यति। —ब्र० सू० शां० भा० २-१-३३
१५. यद्यपि-अस्माकं-इयं जगद्बिम्बरचना गुरुतरसंरम्भेव भाति तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयं अपरिमित शक्तित्वात्। —वही
१६. 'स ईक्षांचक्रे', 'स प्राणमसृजत' —प्रश्न उ० ६-३-४
'सोऽकामयत्' —तैत्तिरीय उ० २-६-१
१७. 'फिलासॉफी ऑफ अद्वैत' (टी० एम० पी० महादेवन् लिखित) पृ० १६१ पर उपरोक्त दोनों मतों का विवेचन।
१८. पंचदशी (चित्रदीप प्रकरण), श्लोक १५६-५७
१९. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
—भगवद्गीता, अ० १८, श्लोक ६१
२०. मायाधीनश्चिदाभासः श्रुतो मायी महेश्वरः।
अन्तर्यामी च सर्वज्ञो जगद्योनिः स एव हि॥ —पंचदशी ६-१५७
२१. 'लोकवत्तु लीला-कैवल्यम्' —ब्र० सू० २-१-३३
२२. 'ब्रह्म सर्वप्रकारेण प्रशास्तृ' —केन पं भा० ३१
२३. 'ईश्वरेच्छया तृणमपि वज्रीभवत्युपद्यते' —केन उ० वा० भा० ३-१
तथा 'महेश्वरस्यापि सर्वेश्वरत्वात् प्रतिनिग्रहानुग्रहेऽपि स्वातन्त्र्यमेव'
—ऐतरेय भा० १-३-१
२४. 'मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया'
—दक्षिणा-मूर्तिस्तोत्र, श्लोक २
२५. विचारसागर, तरंग ७, दो० १०९ की टीका।
२६. "तस्मात् सिद्धः सर्वज्ञः ईश्वरः सर्वजन्तुबुद्धिकर्मफलविभागसाक्षी सर्वभूतान्तरात्मा" —केन उ० वा० भा० ३-१
२७. किंच सर्वज्ञः सर्वेश्वरः कामिनां संसारिणां कर्मानुरूप कामान् कर्मफलानि।
स्वानुग्रहनिमित्तांश्च कामान् य एको बहूनां अनायासेन विदधाति प्रयच्छति॥
—कठ उ० भा० २-१-१४
२८. वही
२९. 'सर्वकल्याणास्पदमीश्वरम्' —केन उ० वा० भा० ३-२
३०. 'न च पाप्मसंसर्ग ईश्वरस्य' —छान्दोग्य भा० २-१४-२
३१. 'यतः ईश्वरः सर्वात्मा सर्वभूतसुहृच्चेति' —गीता भाष्य ११-३६
३२. "दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यं हि परमार्थं सत् अद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धीनां असत् इव प्रतिभाति" —छान्दोग्य भा० ८-१-१
३३. The reality of Ishwra, in Shankara's Philosophy, is not a

self-evident axiom, is not a logical truth, but an empirical postulate which is practically useful. Sruti is the basis for it. Iswara is the supreme spirit, all knowing (sarvajna), and passed of all powers.

—'Indian Philosophy' Vol. II, by Radhakrishnan, p. 545

३४. "तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्ति विशिष्यते" —भगवद्गीता ७-१६, १७

३५. मिलाइये—"सत्यस्यापिहितं मुखम् । तत् त्वं पूषन्नपावृणु, सत्यधर्माय दृष्टये" —ईशोपनिषद्, मं० १५

३६. जाके मुँह माथा नहीं नाहि रूप कुरूप ।
पुहुप वास ते पातरा ऐसा तत्त्व अनूप ॥ —सन्तकाव्य, पृ० २०४

३७. सन्तसुधासार भा० १, पृ० १११

३८ भगवद्गीता, अ० १३ की मधुसूदनी टीका का श्लोक १

३९. घटाकाश इक जलआकासा । मेघाकास महाआकासा ॥
चारि भेद ये नभ के जानहु ; पुनि चेतन के तथा पिछानहु ॥
—विचारसागर, पृ० १४२, प्रकाशित श्री साधुबेला स्वयंसेवक मण्डल, बी० देसाई रोड़, बम्बई-२६

४०. चित्-छाया माया-विषे, अधिष्ठान संयुक्त ।
मेघ-व्योम-सम ईस सो अन्तरयामी मुक्त ॥ —वही, पृ० १५१

४१. "जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरत:"
—श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १, अ० १, श्लोक १

४२. विचारसागर, पृ० १५२, साधुबेला स्वयंसेवक मण्डल प्रकाशन, बम्बई ।

४३. स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनि र्ज्ञ: कालकारी गुणी सर्वविद्य: ।
प्रधान क्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेश: संसारमोक्ष स्थितिबन्धहेतु: ॥
—श्वेताश्वतर, अ० ६, मन्त्र १६

४४. 'सुन्दर दर्शन' पृ० १५४ पर उद्धृत (त्रिलोकी ना० दीक्षित)

४५. वही, पृ० १५२ पर उद्धृत

४६. गुलाब साहब की बानी ३-५

४७. कार्यायोजन धृत्यादे: पदात् प्रत्ययत: श्रुते ।
वाक्यात् सख्या विशेषाच्च साध्यो विश्ववदव्यय: ॥

अर्थात् पृथ्वी आदि के कार्य होने से, आरम्भ में परमाणुओं के आयोजन से, विश्व के धारण आदि करने से, पूर्वजों के कथन से वेद द्वारा, संख्या विशेष से ईश्वर की सिद्धि हो जाती है। —न्यायकुसुमांजलि, पद्मस्तवक

४८. सुन्दर समरथ राम को करत न लागे बार ।
पर्वत सो राई करै राई करै पहार ॥ —सुन्दर ग्रन्थावली, २-७६२

सुन्दर सिरजन हार की सब ही अद्भुत बात ।
गर्भ मांहि पोषत रहे अहंगम्य नहिं मात ॥ —वही, ६-७६२
जाकी आज्ञा में रहे ब्रह्मा विष्णु महेश ।
सुन्दर अवनि अनादि की धारि रहे सिर सेस ॥ —वही, २-७६४

४९. कबीर बीजक, २८

५०. "पूत पिआरो पिता को गौहनि लागा धाई" —क० ग्रं०, पृ० १०

५१. "पुरुष पुरंजन पाकड़ा गढ़ घेरा जाई" —गरीबदास की बानी, पृ० ४४

५२. "हरि समान दाता कोऊ नाहिं" —मलूकदास, पृ० २

५३. "बाजीगर परगासा, यहु बाजी झूठ तमासा"
—दादू दयाल की बानी, भाग २, पृ० १३०

५४. "ओंकार के पार भजु तजि अभिमान कलेस" —यारी साहिब, पृ० ७

५५. "अपरंपार पार पुरुषोत्तम लिया अपनाय गुलाल"
—गुलाल साहिब, पृ० १३३

५६. "रमइया मोरा साहिब हो" —सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ६२०

५७. भीखा सं० बा० सं० भा० १, पृ० २१३

५८. चिद्विलास, पृ० १०६

८

जीव

अद्वैतवेदान्त में जीव के विषय में किया गया ऊहापोह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। परमात्मा का हमारे व्यावहारिक जगत् से सम्बन्ध रखने वाला यही रूप है जिसके कारण हम ब्रह्म के सर्वाधिक समीप क्या अनवच्छिन्न रूप से तत्त्व-रूप ही हैं। आचार्य नृसिंहसरस्वती ने तो आत्माद्वैत का डंका बजाकर घोषणा की कि जीव किसी भी हालत में ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जीव और ब्रह्म में न सत्ता के रूप से कोई भेद है, न चैतन्य के रूप से कोई भेद है, न आनन्द के रूप से। पिण्ड ब्रह्माण्ड की दृष्टि से भी कोई भेद नहीं हो सकता, क्योंकि मूलतः व्यष्टि और समष्टि एक ही हैं। अतः जीव और ब्रह्म को एक ही मानना चाहिए। यह ऐक्यज्ञान ही मुक्ति है।[1]

प्रसिद्धि है कि आचार्य शंकर ने अपने मूलदर्शन को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए जो तीन घोषणाएँ की थीं उनमें से पहली थी 'ब्रह्म सत्यम्', दूसरी थी 'जगन्मिथ्या', तीसरी थी 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' सत्यस्वरूप ब्रह्म और ब्रह्मस्वरूप जीव दोनों के बीच में मिथ्यात्व का या अध्यास का एक कल्पित विक्षेप तथा आवरण है। चैतन्य जो इस अध्यासमयी अविद्या में प्रतिबिम्बित हो रहा है जीव है। अविद्या के संसर्ग से उपाधिग्रस्त चेतन जीव की स्व-स्वरूप-विस्मृति के कारण ही संकल्प-विकल्पमय संसार उसी से निकलकर उसे घेर लेता है। और जाग्रत् से लेकर मोक्ष-पर्यन्त जीव की समस्त धारणाएँ ही उसकी संसाररूप रचना है जिनमें वह उलझा हुआ है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि अपनी कल्पनाओं के बीच आप ही खोया हुआ जो चैतन्य है वही जीव है। कामना की जिस केंचुली ने इसे आबद्ध कर रखा है उसी ने इसकी ब्रह्मरूपता को भी सीमित कर रखा है। एक सन्त का यह कहना कितना मार्मिक है—

चाह चूहड़ी चाह चमारी चाह नीचन की नीच।
तू तो पूरन ब्रह्म था चाह न होती बीच॥[3]

स्पष्ट है कि सन्तों को इस बात की स्पष्ट कल्पना थी कि 'चाह' अर्थात्

कामना यानी मनोमय या विज्ञानमय कोश से घिरने के कारण ही चैतन्य जीव है। वेदान्तियों ने एक बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त से जीव का स्वरूप प्रतिपादन किया है— "जैसे छिलके से आवृत चावल (धान) बोने पर उगता है कटता है छिलका उतरने पर शुद्ध चावल के रूप में वह न उगता है न कटता है ऐसे ही अविद्या में आबद्ध जीव जन्ममरण में हेतु है। पाश मुक्त होने पर वही सदाशिव है।"[४] अद्वैतवेदान्त के प्रक्रिया ग्रंथों में जीव के इस प्रश्न को लेकर जिससे समस्त विश्वव्यापी शंकाओं का जन्म होता है खूब चर्चा हुई है। शंकर-परवर्ती वेदान्त में तो यह पिष्टपेषण चरम सीमा पर पहुँचा है। मानवीय व्यक्तित्व का जब हम विश्लेषण करते हैं तो मानवीय अनुभव को देखते हुए हमें पता चलता है कि इस अनुभव का अनुभवी कोई एक है। यह अनुभव करने वाला अपनी चैतन्यरूपता के कारण द्रष्टा कहा जाता है और जड़ पदार्थ दृश्य कोटि में आते हैं। द्रष्टा और दृश्य में मौलिक अन्तर इस बात का है कि द्रष्टा दृश्य से इस बात में श्रेष्ठतर है कि द्रष्टा में ब्रह्म के सत्ता और चैतन्य दोनों पक्षों का समावेश है जब कि दृश्य में केवलमात्र सत्ता का स्फुरण है। चैतन्य का स्फुरण उसमें नहीं है। अन्तःकरण जो कि दृश्य प्रकृति का अंश होने से जड़ है उसमें प्रतिबिम्बित या सीमित चैतन्य ही जीव है। इस प्रकार जीव-चैतन्य और अन्तःकरण उपाधि की जड़ता का संमिश्रित रूप है। जब बाह्य पदार्थों के साथ भोक्ता जीव का सम्पर्क स्थापित होता है तो अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार उन बाह्य पदार्थों को इन्द्रियों के माध्यम से वृत्ति-रूप से भोक्ता के सम्मुख प्रस्तुत करता है। इस भोक्ता-चैतन्य के साथ ही हमारे अन्दर साक्षि-चैतन्य भी है। यह साक्षि-चैतन्य जो कि सदैव प्रत्येक स्थिति में अनुभवी के प्रत्येक अनुभव को निरपेक्ष रूप से जानता है वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों दशाओं में भी अनुभव की और अनुभवहीनता की हर स्थिति को जानता है। यही कारण है कि कोई भी मनुष्य बाहरी वस्तुओं के अस्तित्व के बारे में सन्देह भले ही कर ले किन्तु अपनी इस सनातन साक्षी-चेतना या आत्मा के अस्तित्व को सन्देह की दृष्टि से नहीं देख सकता।[५] किन्तु अविद्या से मिश्रित जो चिदाभास या मिश्रचैतन्य अनुभवों का भोक्ता है, वही शरीर और इन्द्रियों के पंजर का स्वामी कर्मों के फल से सम्बन्ध रखने वाला है।[६]

अनुभवों के असख्य घेरों में आबद्ध ये जीवात्माएँ एक हैं या अनेक? इस प्रश्न के उत्तर में शांकरवेदान्त के परवर्ती व्याख्याताओं ने अलग-अलग तरीके से अटकलें लगाई हैं। आचार्य का सम्भवतः दृष्टिकोण बड़ा सीधा था कि जीव मूलतः पारमार्थिक रूप से तो एक ही है। क्योंकि ईश्वर या हिरण्यगर्भ ही मूल जीव है। किन्तु आगे चलकर औपाधिक भेद से जीव अनेक हो जाते हैं।[७] आचार्य ने ब्रह्म, जगत् और जीव के भेद-प्रतीतिकाल में व्यवहारदृष्टि से, अविद्या के अभ्युपगम से ब्रह्म के दो ही रूप माने थे। एक व्यावहारिक अपर या सोपाधिक रूप, दूसरा

समस्त उपाधियों से विवर्जित पारमार्थिक रूप।[८] इस दृष्टि से मूलतः सोपाधिक या सगुणब्रह्म ही ईश्वर और जीवरूप है। इसी आधार पर आचार्य मधुसूदन-सरस्वती शंकर के दृष्टिकोण को एक-जीववादी मानते हैं और उसके इसी आधार पर दृष्टिसृष्टिवादी होने का दावा करते हैं।[९] इन एकजीववादियों के अनुसार क्योंकि जीव मूलतः एक ही है, अतः जब तक सृष्टि है तब तक बद्ध या मुक्त जीव में कोई भेद नहीं रहता। शुकदेव आदि ब्रह्मज्ञानियों की मुक्ति की चर्चा केवल अर्थवादमात्र है। क्योंकि हिरण्यगर्भ जो कि शुद्धसत्वगुणवाली माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, वही अपने अज्ञान के कारण जगत् का उपादान और निमित्तकारण है।[१०] शरीर तो उसी के विभिन्न वस्त्र हैं।

दूसरी ओर अनेक जीववादी हैं जो अपने दृष्टिकोण को अधिक विज्ञान-सम्मत मानते हैं। उनका कहना है कि अन्तरिन्द्रिय और अन्तःकरणों की भिन्नता के कारण प्रत्येक अविद्यावच्छिन्न जीव-चैतन्य स्वतन्त्र है।[११] शांकरवेदान्त का विवरण-प्रस्थान इसी मत का पक्षपाती है। इन लोगों का दृढ़विश्वास है कि गौड़-पाद और शंकर का मान्य मत जीवबहुत्ववाद ही है।[१२] ईश्वर और जीव के धर्मों में और गुणों में बहुत बड़ा अन्तर है। अतः दोनों एक हो नहीं सकते।

ये दोनों दृष्टिकोण वस्तुतः शंकर के मूलदर्शन में विरोधी न होकर परस्पर समन्वित होकर पड़े हैं। दोनों में विरोधदर्शन शंकरोत्तर वेदान्त की घटना है। आचार्य ने जीव की स्थिति के स्पष्टीकरण के लिए विभिन्न दृष्टान्तों का आश्रय लिया था। जीव और ब्रह्म की अद्वितीयता के प्रतिपादन के लिए अथवा पारमार्थिक तत्त्व ब्रह्म के साथ अविद्या और उससे प्रत्युपस्थापित जीव को सम्बन्धित करने के लिए तीन प्रकार की युक्तियों का आश्रय लिया गया था। परवर्ती वेदान्त में इन युक्तियों में से एक एक को आधार बनाकर वाचस्पतिमिश्र ने अवच्छेदवाद, संक्षेप शारीरककार ने प्रतिबिम्बवाद और वार्तिककार सुरेश्वर ने आभासवाद की नींव डाली थी।[१३]

अवच्छेदवादी दृष्टान्त

इस दृष्टि के अनुसार अनवच्छिन्न (अपरिसीम) परब्रह्म ही अविद्याजन्य नामरूप उपाधि को धारण करके अवच्छिन्न या सीमित होकर जीवरूप में भासता है। जिस प्रकार एक ही आकाश घड़ा, जल एवं पर्वतगुफा आदि के सम्बन्ध से सीमित या परिच्छिन्न सा प्रतीत होने लगता है[१४] और घट आदि के उठाकर ले जाए जाने पर चलता हुआ सा प्रतीत होने पर भी वस्तुतः न कहीं आता है न जाता है[१५], ऐसे ही परब्रह्म भी देह, इन्द्रिय, मन-बुद्धि, शरीर आदि विभिन्न उपाधियों से सीमित व जीव-भाव को प्राप्त करता हुआ सा मूढ़ों को दीख पड़ता है।[१६] वाचस्पतिमिश्र ने प्रतिबिम्बवाद पर आक्षेप करते हुए कहा कि प्रतिबिम्ब

तो सूर्य आदि किसी मूर्त वस्तु का ही हो सकता है। ब्रह्म अमूर्त है। अतः उसमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की कल्पना नहीं बनती। इसलिए मूलचैतन्य को उपाधि द्वारा परिच्छिन्न की तरह कर दिए जाने की कल्पना को ही सुसंगत मान लेना चाहिए।[१७] किन्तु हम चाहें तो इस अवच्छेदवादी तर्क का खण्डन आचार्य के शब्दों में ही पा सकते हैं।[१८]

प्रतिबिम्ब-मत

इस दृष्टि से आचार्य दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार एक ही सूर्य के बिम्ब का अनेक जलपूरित कुण्डों अथवा प्यालों में पड़ने से सहस्रों प्रतिबिम्बों का उदय होता है ऐसे ही जगत् के समस्त जीव एक ही बिम्बभूत ब्रह्म के माया या अविद्या में पड़ रहे नाना प्रतिबिम्ब हैं।[१९] जिस प्रकार प्रतिबिम्ब की सत्ता बिम्ब से पृथक् नहीं ऐसे ही जीव की भी पृथक् सत्ता नहीं है। किन्तु ईश्वर से अभेद होने पर भी जीव के सुख-दुख ब्रह्म या ईश्वर के सुख-दुख इसलिए नहीं हो जाते क्योंकि जीव की दुखानुभूति उसके अपने अविद्या-जन्य मिथ्याभिमान के कारण पैदा होती है, जबकि विद्यास्वभाव वाले ईश्वर में सर्वज्ञता एवं विद्या के होने से मिथ्याभिमान नहीं रहता।[२०] किन्तु जैसे जल में पड़ा हुआ सूर्य-प्रतिबिम्ब जल के बढ़ने पर बढ़ता है, जल के सूखने पर ह्रसित हो जाता है, तथा जल के चलने पर चलता है और जल के बीच में से टूटने पर टूट जाता है। इस प्रकार वह प्रतिबिम्ब मूलतः सूर्य का होते हुए भी जलधर्म का ही अनुयायी हो जाता है, ऐसे ही परमार्थतः अविकारी ब्रह्म भी देह आदि उपाधि के सम्पर्क से वृद्धि अथवा ह्रास या सुख-दुख का अनुगमन कर रहा सा प्रतीत होता है।[२१]

आभासवाद

आभास यानी प्रकाश। चेतन का आभास यानी चिदाभास ही अविद्या के अन्तर्गत होकर जीवभाव को प्राप्त हुआ है। आचार्य कहते हैं कि यह जीव परपरमात्मा का अविद्या में आभास ऐसे ही है जैसे जल में सूर्य का मिश्रित प्रकाश होता है। वह चिदाभास साक्षात् वही अर्थात् ब्रह्म ही नहीं होता।[२२] यहाँ हम आभास का अर्थ प्रकाश करके भी यह ध्यान में रखें कि जैसे सूर्य का प्रकाश सूर्य ही नहीं होता बल्कि यथार्थ वस्तु का आभास होता है, इसी प्रकार जीव जीवरूप में ब्रह्म न होकर केवल अविद्या में स्थित चिदंशमात्र से ही ब्रह्मरूप होता है। सर्वरूप में नहीं। वाक्यसुधाटीकाकार के मत में आभास में न तो बिम्ब का कोई मूलधर्म होता है न उपाधि का न वह स्वतन्त्र ही होता है।[२३] वह एक मिश्रण है। अतः जीव भी चैतन्य का प्रतिबिम्ब होने की अपेक्षा चिदाभास होने के नाते परमदेवता का आभासमात्र ही है।[२४] आचार्य शंकर के भाष्यों एवम् उपदेशसाहस्री

आदि ग्रन्थों में आभासवाद के परिपुष्ट प्रमाण देखकर हिन्दी के सन्त निश्चलदास ने आभासवाद को ही आचार्य का जीव के प्रति वास्तव दृष्टिकोण माना है, तथा आभासवाद की श्रेष्ठता सिद्ध की है।[२५]

किन्तु बाद में इन दृष्टिकोणों को समन्वित करने का प्रयत्न भी किया गया है। भाषा ग्रन्थों में विचारसागर का इस दृष्टि से पर्याप्त महत्व है। उसमें कहा गया है कि अनेक काम्य कर्मों सहित बुद्धि में जो चेतन का प्रतिबिम्ब है उसे ही विद्वान् जीव कहते हैं। लेकिन केवल प्रतिबिम्ब ही जीव नहीं है। बल्कि जैसे घटाकाश-सहित आकाश के प्रतिबिम्ब को जलाकाश कहते हैं ऐसे ही बिम्बरूप जो कूटस्थ उसके सहित चिदाभास ही जीव है। यूं भी कह सकते हैं कि बुद्धि में जो चिदाभास तथा बुद्धि का अधिष्ठान चेतन दोनों ही 'जीव' इस संज्ञा से बोधित होते हैं।[२६] इसी प्रकार का समन्वय हमें पंचदशी में भी मिलता है।[२७]

हमें अविद्या द्वारा चेतना के अवच्छिन्न होने की बात से आत्मा की एकता बौद्धिक-ज्ञान द्वारा बाधित होती हुई दीखती है। किन्तु बौद्धिक ज्ञान से ऊपर उठकर स्वप्रकाश स्वानुभूति के क्षेत्र में इसका समाधान हो जाता है जहाँ द्रष्टा और दृश्य समान जातीय होने से अपना भेद खो बैठते हैं। इस प्रकार जीव का अस्तित्व भी वेदान्तियों के अनुसार व्यवहारदशा में ही है।

वस्तुतः व्यवहारस्थिति में ही द्रष्टा और दृश्य का भेद आचार्य ने स्वीकार करते हुए दोनों को विरोधी कहा है। उनके प्रसिद्ध अध्यासभाष्य में जीव को अहं-प्रत्ययवाला होने से श्रेष्ठतर तथा दृश्य को युष्पद् प्रत्ययवाला होने से अन्धकार के समान प्रकाशविरोधी कहा है।[२८] किन्तु तो भी इस जीव-चैतन्य की अभिव्यक्ति दृश्यप्रकृति के अंश मन, बुद्धि आदि के माध्यम से ही होती है। क्योंकि अन्धकार की तुलना में ही प्रकाश का उभार सामने आता है। पर इससे यह भी निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि क्योंकि आत्मा सदैव शरीर और इन्द्रिय के संयोग से ही अनुभव में आता है अतः वह भूतों से ही जनित तत्त्व है। आचार्य ने इस शंका को मूल से उखाड़ फेंका है, "क्योंकि यदि चेतना भूतों से उत्पन्न होती तो यह भूत-सृष्टि को कभी प्रकाशित नहीं कर सकती थी।[२९] अतः चेतना की स्वतन्त्र सत्ता है। मलिन अविद्या के सम्पर्क से वह जीवदशा को और शुद्ध-सत्व-वाली माया के संसर्ग से ईश्वरत्व उपाधि को धारण कर लेती है।[३०] वैसे एक स्थिति में जाकर हमें एकजीववादियों की तरह अनुभव जरूर होता है कि वस्तुतः ईश्वर भी महाजीव ही है। ईश्वर और जीव में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं, उपाधि का ही भेद है, जैसे राज्य-उपाधि से राजा, और भट्टता-उपाधि से भट्ट दोनों भिन्न हैं। किन्तु राज्य और भटत्व दोनों से मुक्त दोनों मानव-सामान्य हैं।"[३१] शेष जीव उसी के अंश हैं।

अब हम जीव की उपाधि अविद्या के कार्य स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरों की

रचना पर भी ध्यान दे सकते हैं। जीव का कारण शरीर तो अविद्या है। दस इन्द्रियाँ पाँच प्राण मन और बुद्धि यह सूक्ष्मशरीर है। गुरुत्व आदि से युक्त दृश्यमान भौतिकदेह उसका स्थूल शरीर है। यही उसका विश्वरूप है। जितना जन्म-मरण का उलट-फेर है सब इन शरीरों में है। जीव तो चैतन्यरूप आत्मा होने से नित्य है।

इस जीव-आत्मचैतन्य के स्फुरण की तीन दशाएँ हैं। जाग्रत में जीवचेतना स्थूलशरीर में, स्वप्नदशा में सूक्ष्मशरीर में, सुषुप्ति में कारणशरीर में स्फुरित होती हुई दीख पड़ती है। इन अवस्थाओं में स्फुरणशील जीव स्वयंप्रकाशता और परप्रकाशता नामक वृत्तियों से युक्त रहता है।[३२] ये वृत्तियाँ बहिर्मुख होकर तो विषयजगत् को प्रकाशित करती हैं, अन्तर्मुख होकर उसके अपने रूप को द्योतित करती हैं। जैसे रंगशाला में जलता दीपक सूत्रधार, सामाजिक, नर्तकी को प्रकाशित करता है किन्तु उनके चले जाने पर स्वयंप्रकाशित होता रहता है।[३३] उसे प्रकाशित करने के लिए किसी बाह्यप्रकाश की अपेक्षा नहीं। क्योंकि दीपक को प्रकाशित करने के लिए किसी दूसरे दीपक की अपेक्षा नहीं रहती। यह चेतन प्रकाश ही संविद्-रूप में स्वयं ही जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में भी स्फुरित होता रहता है।[३४] इसी संवित्-स्वरूप की ओर बहिर्मुखता से लौट आना ही ब्रह्मरूप होना है। इसी दशा को प्राप्त कर एक भक्त अपनी अनुभूति का वर्णन करता है "कि मैं ही सकल प्रपंचों से परे अनादिसुखरूप, त्रिकाल में चैतन्य, द्वैतरहित, श्रुतिप्रतिपादित, पूर्ण हरि हूँ।"[३५] यही जीव की ब्रह्मसत्ता में लय होने की अन्तिम दशा है। जीव की इसी उपलब्धि की सम्भावना को देखकर आचार्य शंकर ने कहा कि 'जीवो ब्रह्मैव नापरः'। अर्थात् चेतना के प्रसार में जीव कोई विजातीय तत्त्व नहीं। उसका रूप ही है।

किन्तु जीव को ब्रह्म कोटि में लाने के लिए अद्वैतवेदान्त ने एक सुलझी हुई प्रक्रिया को स्वीकार किया है। 'यह आत्माब्रह्म है', 'वह तू है', 'मैं ब्रह्म हूँ' आदि महावाक्यों द्वारा जीव क्रमशः अपने शुद्ध स्वरूप की ओर लौटता है। इस प्रक्रिया की पूर्ति के लिए तीन अवस्थाओं को स्वीकार किया गया है। 'वह तू है' इस महावाक्य द्वारा ईश्वर और जीव दो भिन्न कोटियों को पहले एक कोटि में समानाधिकरण्यज्ञान द्वारा लाया जाता है। इस अवस्था में जीव और ईश्वर दो विभिन्न कोटि की सत्ताओं को आमने-सामने खड़ा कर दिया जाता है। दूसरी अवस्था में जीव और ईश्वर का गुणगुणीभाव सम्बन्ध या विशेषण-विशेष्य भाव समझाया जाता है। 'वह' पद मायाविशिष्ट परोक्ष चेतना के लिए, और 'तू' पद प्रत्यक्ष जीव चेतना के लिए है। ईश्वर सर्वज्ञ है। जीव अल्पज्ञ है। यहाँ आकर शब्दशक्ति भागत्यागलक्षणा द्वारा हम दोनों चेतनाओं के उपाधिमूलक अर्थों को छोड़ देते हैं। विशेष्य-विशेषणात्मकता का छिलका दोनों चेतनाओं पर से उतार दिया जाता है।

'वह' और 'तू' दोनों पदों के पीछे गुप्त चैतन्यमात्र पहचान लिया जाता है। यह लक्ष्यलक्षण भाव सम्बन्ध है। इसके बाद 'तत् त्वं असि' वाक्य का प्रत्यक्ष बोध या अनुभव होता है। जिसमें आत्मचैतन्य अपने निर्गुण निर्विशेष रूप में साधक को अनुभव होता है।[३६]

हिन्दी सन्त केवलाद्वैतियों के इस चिन्तन से अच्छी तरह परिचित थे। हो सकता है, उन्होंने उतनी दार्शनिक बारीकियों को न पकड़ा हो किन्तु हमें उनकी इन सीमाओं को भी समझ लेना चाहिए कि सन्तों के सामने अभिव्यक्ति के माध्यम की एक कठिन समस्या थी। काव्य-रचना के माध्यम से इस गहन दार्शनिक चिन्तन को वे दार्शनिक पण्डितों की तरह विवेचित नहीं कर सकते थे। किन्तु केवलाद्वैत के दार्शनिक प्रभावों को तो उन्होंने बड़े ही चाव से ग्रहण किया होगा।

जीव के विषय में सन्तों की यह स्पष्ट धारणा रही है कि जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं। जीव ब्रह्म ही है। कबीर कहते हैं—

राम मोहि तारि कहाँ लै जैहों।
जे मेरे जीव दोइ जानत हौ, तौ मोहि मुकुति बताओ
एकमेक रमिरह्या सवनि में तो काहे भरमावौं।[३७]

इस प्रकार कबीर एक क्षण के लिए भी जीव को ब्रह्म से पृथक् मानने के लिए तैयार नहीं। क्योंकि वे जानते थे कि यह अनेकता जो है यह एक दैहिक अनुभव है। किन्तु इसका अधिष्ठाता जीव मूलतः एक ही है।

जीउ एक और सकल सरीरा।
इस मन को रवि रहै कबीरा।।[३८]

हमने पीछा देखा था कि वस्तुतः अविद्याच्छन्न चैतन्य जो स्वरूपतः आत्मा ही है व्यवहार में नामरूप उपाधि से ज्ञाता, कर्त्ता, भोक्ता के रूप में कल्पित कर लिया जाता है। भेद केवल उपाधिकृत है। कबीर कहते हैं कि जैसे मिट्टी के बर्तन पृथक्-पृथक् दीख पड़ते हैं ऐसे ही उपाधिकृत भेद से एक ही चैतन्य विभिन्न जीवों के रूप में भासता है।[३९] अन्यथा मैं और ब्रह्म कोई अलग तत्त्व नहीं हैं। इस तरह जीव को मूलतः सन्तों ने भी ब्रह्मरूप ही माना है। किन्तु माया या अविद्या इसे परिच्छिन्न करती है। इस परिच्छिन्न दशा में आवेष्टित चैतन्य को कबीर एक सुन्दर दृष्टान्त द्वारा व्याख्यात करते हैं। कि जैसे बर्फ पानी का ही संघट्ट रूप है, और ढलने पर वह जल ही रह जाता है। त्रिकाल में भी वह जल से जैसे पृथक् नहीं ऐसे अविद्याच्छन्न चैतन्य जीव भी ब्रह्म से कभी भिन्न नहीं।

पानी ही ते हिम भया हिम है गया बिलाई।
जो कुछ था सोई रह्या अब कछु कह्या न जाई।।[४०]

किन्तु एक कदम और आगे चलकर हम देखते हैं कि पारिभाषिक अर्थों में

भी सन्तों को अद्वैतवेदान्त का पता था। उन्हें पता था कि अन्तःकरण या मन जो अविद्या की ही मात्र प्रसूति है आत्मा को परिच्छिन्न-सा करता लगता है। आत्मा का प्रतिबिम्ब चित्त में पड़ता ही रहता है। इसी से चित्त को चेतना प्राप्त होती है। बिना इस प्रतिबिम्ब को सम्भाले चित्त की मूर्च्छा टूट नहीं सकती है। पर जैसे आत्मा के प्रतिबिम्ब के बिना चित्त की चेतना नहीं हो सकती, ऐसे ही बिना चित्त के आत्मा के कर्तापन, भोक्तापन, ज्ञातापन भी खतरे में पड़ जाते हैं। अतः आत्मा के कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व, उपाधिधर्मों के लिए चित्त ही जिम्मेवार है। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने "इस चित्तयुक्त, चेतन आत्मा को जीव या जीवात्मा कहा है। क्योंकि ज्ञाता होना ज्ञान के साधन, अर्थात् चित्त के साथ योग होने पर निर्भर हैं, इसलिए आत्मा उसी दशा में चेतन हो सकता है जब उसका चित्त के साथ योग होता है।"[४१] चित्तरूप यह सूक्ष्म देह ही जीव के स्थूल देह आदि धारण करने में, जन्म-मरण, पुनर्जन्म आदि के फेर में पड़ने का कारण है। इसीलिए सन्तों ने मन या चित्त को माया और अविद्या का विशेष प्रतीक मानकर कोसा है। दादू अविद्या और मन को बड़े ही लांछित शब्दों में कहते हैं कि मन और माया दोनों की ही मिलीभगत के कारण जीव पीड़ित है—

दादू मन हीं माया उपजै मन ही माया जाइ।[४२]

जीव के ब्रह्म से पार्थक्य की अनुभूति को सन्तों ने बड़े ही गहरे स्तर पर महसूस किया है। विभिन्न प्रतीकों द्वारा उन्होंने इस वेदना को अभिव्यक्त किया है। कबीर जानते थे कि इस जीव-भ्रान्ति का कारण क्या है। प्रतीकात्मक तरीके से उन्होंने जीव को पुत्र और ब्रह्म को पिता और मायिक प्रलोभनों को दोनों में विच्छेद करने वाला कहा है—

पूत पियारौ पिता को गोहन लागा धाइ।
लोभ मिठाइ हाथ दै, आपण गया भुलाई॥[४३]

कबीर, दादू इस अन्तर को प्रिया-प्रियातम के वियोग के जरिए कई जगह व्यक्त करते हैं। दादू जीवात्मा को कहते हैं "कि अरी सुन्दरी! तेरा प्राण-प्रिय तो जाग रहा है तू सो रही है यह कैसी विडम्बना है। उठो, जाकर उसके चरण पकड़ लो।[४४] अरी सखी जा उठ पल पल क्षण घटते जा रहे हैं तू अपने लाल प्रियतम को मना ले।"[४५]

अविद्या द्वारा चित्स्वरूप जीव के स्वरूप को आवृत कर लेना ऐसे ही है जैसे हाथी का कीड़ी द्वारा परास्त हो जाना, तथा शेर का गीदड़ से मार खा जाना। सुन्दरदास इसी तथ्य को एक उलटवांसी के रूप में कहते हैं—

कुंजर कूं कीरी गिलि बैठी, सिंहहि खाय अघानो स्याल।[४६]

जीवात्मा का यह घेराव सन्तों को बहुत ही पीड़ाजनक लगता रहा है। सुन्दरदास हीरे के समान उज्वल इस जीव के प्रकाश के घिर जाने से चारों तरफ अन्धकार ही अन्धकार देखते हैं।[४७] अज्ञानता के साँपों ने जैसे चन्दन-तुल्य जीवात्मा को बन्दी बना रखा है।[४८] किन्तु इससे क्या ? जीव का मूलरूप तो चेतन ही है। यह माया उसे कुछ देर के लिए भले ही आवृत कर रखे, पर वह स्वभावतः प्रकाश की चिंगारी है। वह एक ठोस सत्य है। देह के नष्ट हो जाने पर भी उसका नाश तो नहीं होगा। कबीर कहते हैं—

पुरिया जरै वस्तु निज उबरै।
विकल राम रंग तेरा।।[४९]

केवलाद्वैत वेदान्त में जीव को हंस नाम से भी कहा जाता है। उज्ज्वलता और विवेक आदि के कारण ही शायद जीव और हंस में उन्होंने साम्य देखा है। अतएव मुमुक्षु एवं मुक्त सन्तों को अब भी उनके यहाँ हंस और परमहंस कहने का प्रचलन है। कबीर कहते हैं कि ये हंस 'आलोक की दिशा' पूर्व की ओर ही जाते हैं। इस रहस्य को विरले ही लोक समझते हैं।[५०] दादू[५१], गरीबदास[५२], रज्जब[५३] कई स्थानों पर जीवात्मा के लिए हंस शब्द का प्रयोग करते हैं।

कबीर आदि सन्तों में यद्यपि केवलाद्वैत के विवर्त्तवादी, अध्यासवादी दृष्टियों की खुली स्वीकृतियाँ हैं तो भी जीव की चर्चा में हम केवल प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद की ही चर्चा करेंगे। यद्यपि थोड़ा-सा और यत्न करने पर अद्वैतवेदान्त के जीव-चर्चा सम्बन्धी दृष्टि-सृष्टिवाद, आभासवाद आदि को भी देख सकते हैं।

कबीर जानते थे कि जीव ब्रह्म का अविनश्वर अंश है। यह मर्त्य नहीं।[५४] किन्तु अंश का अर्थ यहाँ भी आचार्य के अनुसार ही है (अर्थात् अंश के समान)। यह जीव अवच्छेदवादी रीति से सीमित कर दिया गया है। कबीर की प्रसिद्ध उक्ति—

जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तत कथो गियानी।।[५५]

में घट उपाधि के द्वारा घड़े के अन्दर के जल के बाहिर के अनन्त जल से विच्छेद की स्पष्ट बात कही गई है। जल से पृथक् हुई बूंद की तरह ही जीव है। जल में जाने से फिर वह तद्रूप ही हो जाता है।[५६]

बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव के कबीर के कथनों में अधिकृत उद्धरण मिल जाते हैं। बिम्ब ब्रह्म है तो जीव अविद्या या अन्तःकरण में पड़ा उसी का प्रतिबिम्ब है। वस्तुतः दोनों में कोई भेद नहीं। दर्पण-रूप उपाधि के हटते ही प्रतिबिम्ब बिम्ब में ही चला जाएगा। यही जीव का मोक्ष है। कबीर कहते हैं—

कासूं हूं कहन कों नाहीं, दूसर और जनां
ज्यूं दरपन प्रतिब्यंब देखिये, आप दवासूं होई
संसौ मिटयौ एक कौ एकै, महाप्रले जब होई ।[५७]

भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में ब्रह्मचेतना के प्रतिबिम्बित होने की बात एक और जगह भी जोरदार शब्दों में कही गई है—

ज्यूं जल में प्रतिब्यंब, त्यूं सकल रामहिं जाणी जै ।

एक अन्य सन्त जीव की इस स्थिति को एक और तरह से स्पष्ट करते हैं । वे कहते हैं जैसे सफेद स्फटिक में पड़ा लाल फूल का प्रतिबिम्ब है इसी प्रकार स्फटिक की तरह शुभ्र सत्वगुणसम्पन्न बुद्धि में निर्विकार कूटस्थ का प्रतिबिम्ब है । यह प्रतिबिम्ब वस्तुतः चिदाभास होने से असंग ही है । पुण्य, पाप, सुख, दुःख ये केवल बुद्धि में हैं आभास में नहीं । या बुद्धि के संयोग से आभास में माने जा सकते हैं ।[५८] किन्तु जैसे ही सद्गुरु की कृपा से जीव की भ्रमनिवृत्ति होती है । सारा खेल समझ में आ जाता है । सन्त कह उठता है—

ज्यों रवि-मद्धे किरन देखिये किरिन-मद्ध परकासा ।
परमातम में जीव-ब्रह्म इमि जीव-मध्य तिमि स्वांसा ।।[५९]

अविद्याकृत सन्देह टूट गिरते हैं । सन्त का प्रत्यक्ष-बोध उभर कर कहता है कि—

हम सब मांहि सकल हम मांहि ।
हम थे और दूसरा नांहि ।।

ऐसे मुक्त जीवों की ओर से निराश माया अपना मोहजाल समेटकर जब चल देती है तब जो एक-दूसरे में ओत-प्रोत-भाव होता है उस मिलन का एक दृश्य कबीर के शब्दों में देखिए—

हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराई
बूंदसमानी समद में, सो कत हेरी जाई
हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराई
समंद समाना बूंद में सो कत हेरया जाई ।[६०]

दादू और सुन्दरदास भी इस चिन्तन में कबीर से पीछे नहीं हैं । उनकी अभेदानुभूति बहुत ही गम्भीर है । दादू की वाणी में जहाँ ऐसे कथनों में हृदय की तरलता है आवेश है[६१] वहाँ सुन्दरदास के वचनों में शास्त्रीय-चिन्तन का जोर है । वे इस बात को अच्छी तरह मानते हैं कि—

एकहि ब्रह्म रह्यौ भरिपूरि तो, दूसर ''ौन बतावनि हारौ।
जो कोऊ जीव करै जु प्रभान तो जीव कहे, कछु ब्रह्म तें न्यारौ।
जो कहै जीव भयो जगदीस तें, तौ रवि मांहि कहां को ग्रंधारौ।
सुन्दर मौन गहौ यह जानि के कौनहूं भांतिन होत निधारौ।।[१२]

सन्दर्भ

१. न जीवब्रह्मणोर्भेदः सत्तारूपेण विद्यते, सत्ताभेदेन मानं स्यादिति वेदान्त-डिण्डिमः।

न जीवब्रह्मणोर्भेदः स्फूर्तिरूपेण विद्यते, स्फूर्तिभेदे न मानं स्यादिति वेदान्त-डिण्डिमः।

न जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रियरूपेण विद्यते, प्रियभेदे न मानं स्यादिति वेदान्त-डिण्डिमः।

जीवो ब्रह्मात्मना ज्ञेयो ज्ञेयं जीवात्मना परं, मुक्तिस्तदैक्यविज्ञानादिति वेदान्त-डिण्डिमः।। —वेदान्त-डिण्डिम

२. "जाग्रदादि विमोक्षान्तः संसारः जीव कल्पितः।" —पंचदशी ६-२१३

३. सन्तकाव्य, पृ० ४४०

४. तुषेण बद्धो व्रीहिः स्यात् तुषाभावेन तण्डुलः।
पाशबद्धस्तथाजीवः पाशमुक्तः सदाशिवः।।

५. "A man may doubt of many things, of anything else, but he can never doubt of his own being."

६. "अस्ति आत्मा जीवास्थः शरीरेन्द्रियपंजराध्यक्षः कर्मफलसम्बन्धी।"
—ब्र० सू० शां० भा० २-३-१७

७. "एवमेकत्वं नानात्वं च हिरण्यगर्भस्य, तथा सर्वजीवानाम्।"
—बृ० उ० भा० १-४-६

८. "द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्।" —ब्र० सू० शां० भा० १-१-१२

९. अज्ञानानुपहितं शुद्धचैतन्यमीश्वरः अज्ञानोपहितं जीव इतिवा मुख्योवेदान्त-सिद्धान्त एकजीववादाख्यः। इममेव च दृष्टिसृष्टिवादमाचक्षते।
—सिद्धान्तबिन्दु, पृ० ७२, अच्युत ग्रन्थमाला प्रकाशन १९५६

१०. वही

११. 'Philosohpy of Advait', T. M. P. Mahadevan, p. 211

१२. "Both Gaud Pād and Shankara believe in a pluralcty of empirical selvs."
—Advait Vedant, by M. K. Venkata Ram Iyer, p. 118

१३. वाचस्पतेरवच्छेद आभासौ वार्त्तिकस्य च।
संक्षेपशारीरककृतां प्रतिबिम्बमिहेष्यते ।।
१४. "घटकरकगिरिगुहाद्युपाधिसम्बन्ध इव व्योम्नः"
—ब्र० सू० शां० भा० १-१-५
१५. वही २-३-४६
१६. "पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्धयुपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शरीर इत्युपचर्यंते ।" - वही १-२-६
१७. Advait Vedant, M. K. Iyer, p. 118
१८. ब्र० सू० शां० भा० ३-२-२०
१९. प्रतिफलति भानुरेकोऽनेकशरावोदकेषु यथा।
तद्वदसौ परमात्मा ह्येकोऽनेकेषु देहेषु ।। —प्रबोधसुधाकर, अद्वैतप्रकरण
२०. "मिथ्याभिमान-भ्रमनिमित्त एव दुखानुभवः।"
—ब्र० सू० शां० भा० २-३-४६
२१. "जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते, जलह्रासे ह्रसति······इत्येवं जलधर्मानुयायी भवति न तु सूर्यस्थ तथात्वमस्ति।"
—वही, पृ० २२, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, १९६४
२२. "आभास एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः न स एव साक्षात्।" —ब्र० सू० शां० भा० २-३-५०
२३. "आभासश्च न बिम्बधर्मो नाऽप्युपाधिधर्मो नाऽपि स्वतन्त्रः।" —श्लोक ३६
२४. "जीवो हि नाम देवताया आभासमात्रः।" —छां० उ० शां० भा० ६-३-२
२५. "भाष्यकार ने आभासवाद अंगीकार किया है।"
—विचारसागर, पृ० २६४, तरंग ४, गद्यांश २०३,
वेंकटेश्वर प्रेस प्रकाशन, १९५३
"इस रीति से आभासवाद ही उत्तम है, अवच्छेदवाद नहीं।"
—वही, पृ० २६६, गद्यांश २०४
२६. काम-कर्मयुत बुद्धि में, जो चेतन प्रतिबिम्ब।
जीव कहै विद्वान् तिहिं जल नभ तुल्य सबिंब ।। —विचारसागर, दोहा ८४
२७. The Jiva is a reflection of Intelligence (चिदाभास) in the impure Sattva predominent Avidyā. More correctly, the Jiva is the substrate intelligence plus the subtle body plus the reflection of the intelligence therein. - Panchdashi 1-7, 4-11
२८. "युष्मदस्मत् प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोः तमः प्रकाशवत् विरुद्धस्वभावयोः इतरेतरभावोनुपपत्तौ।" —ब्र० सू० शां० भा० अ० १, भूमिका
२९. "भूतभौतिकधर्मेण सत्ता चैतन्येन भूतभौतिकानि विषयीक्रियेरन्।"
—'Advait Vedant' by M. K. V. Iyer, p. 120

३०. मायाख्यायाः कामधेनो वंत्सौ जीवेश्वरावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्वं त्वद्वैतमेव हि॥ —पंचदशी ६-२३६
मायारूपिणी कामधेनु के जीव और ईश्वर दो बछड़े हैं जो द्वैतभाव रूपी दूध पीते रहते हैं।

३१. "राज्यं नरेन्द्रस्य, भटस्य खेटकः, तयोरपोहे न भटो न राजा।"
—'Advait Vedant' by M. K. V. Iyer, p. 120

३२. शंकराचार्य (बलदेव उपाध्याय लिखित), नया संस्करण, पृ० २९८

३३. नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्चनर्तकीम्।
.....................तदभावे पि दीप्यते॥ —पंचदशी १०-११

३४. "जाग्रत्स्वप्न सुषुप्तिपु स्फुटतरा या संविदुज्जृम्भते।"
—शंकराचार्यकृतः मनीषापंचक

३५. अनादिसुखरूपता निखिलदृश्यनिर्मुक्तता, निरन्तरमनन्तता स्फुरणरूपता च स्वतः।
त्रिकालपरमार्थता त्रिविधभेदशून्यात्मता, मम श्रुतिशतार्पिता तदहमस्मि पूर्णो हरिः॥

३६. 'Advait Vedant' by M. K. V. Iyer, p. 125-26

३७. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०५

३८. वही, पृ० ३२८

३९. "नाना भांति घड़े सब भांडे रूप धरे धरि मेले।" —वही, पृ० १५१

४०. सन्तकाव्य, पृ० १९९

४१. चिद्विलास, पृ० १५४

४२. दादूदयाल की बानी, प्रथम भाग, मन को अंग ३५, ५१, ५४

४३. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०

४४. दादूदयाल की बानी, भाग-२, पृ० २८

४५. वही, पृ० ५८

४६. सुन्दरविलास, पृ० ८०

४७. "चेतनि हीरा चलि गयौ भयो अन्धेरा कूप।"
--सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ७११

४८. "चन्दन सर्प लपेटिया चन्दन काह कराय।" —कबीर बीजक, पृ० ४२०

४९. 'सन्तसाहित्य', डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल, पृ० १०८

५०. वही, पृ० १०६

५१. वही

५२. वही

५३. वही

५४. "कहू कबीर इह राम को अंसु, जस कागद पर मिटै न मंसु ।"
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३०१

५५. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०३

५६. "कहै कबीर व्यंदहु नरा, ज्यूं जल पण्या सकल रस ।" —वही, पृ० ५६

५७. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०५

५८. विचारसागर, दोहा ८५, ८८

५९. कबीर (आ० ह० प्र० द्वि०), पृ० २३६

६०. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १७

६१. दादूदयाल की बानी, भाग-१, लय को अंग ४३, ४५

६२. सन्तकाव्य, पृ० ३६१



१

जगत्

जीव की ही लीलाभूमि यह जगत् है जिसकी रचना ईश्वर के द्वारा हुई। वेदान्तसूत्र की 'ब्रह्मजिज्ञासा' का प्रारम्भ इस जगत् के जन्म, स्थिति, संहार के स्रोत ईश्वर को लेकर हुई।[1] वस्तुतः न तो परमाणु न प्रकृति ही तब तक वेदान्तियों के अनुसार जगदाकार रूप में परिणत हो सकते थे जब तक कोई चेतनामय योजना उनकी पीठ पर न होती। इस तथ्य का समर्थन श्रुति द्वारा प्रतिपादित है[2], इसके लिए वेदान्त में श्रुति के काफी उद्धरण भी दिए गए हैं। किन्तु क्योंकि अद्वैत-वेदान्त में मुख्य समस्या जीवब्रह्मैक्य की थी, और इस ऐक्य में द्वैतकारक तत्त्व था जगत्। फलतः 'जगन्मिथ्या' की धारणा का उदय हुआ। लेकिन वस्तुतः यह एक दृष्टि ही तो थी कि जगत् मिथ्या है, और यह भी अद्वैतवेदान्त की ही दृष्टि थी—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब ब्रह्म है। हम जगत् के प्रति इन दोनों अद्वैती-दृष्टियों के बीच-बीच ही रहकर विवेचन करेंगे।

'जगन्मिथ्या' वाली वेदान्ती उक्ति को लेकर एक भ्रम कई बार खड़ा होता है कि सत्य के जिज्ञासु को क्योंकि मिथ्या से परे हटना चाहिए। अतः 'परे हटना चाहिए' से यह परे हटना या संन्यास अथवा जगत् से पलायन ही वेदान्त की प्रेरणा है ऐसा कई पाश्चात्य विद्वानों को भ्रम हुआ।[3]

मुमुक्षु को जगत् से भागना ही कर्मबन्ध से मुक्ति दिला सकता है। अतः यह संन्यासियों का दर्शन हो सकता है। पदार्थ सत्ता के रूप में जगत् की अस्वीकृति ने इस दृष्टिकोण को और भी दीप्त किया। लोगों ने प्रचार शुरू किया कि अद्वैत-वेदान्त जगत् को माया, मिथ्या, विवर्त, भ्रान्ति, अध्यास, कहता है, अतः यह जीवन का, जगत् का दर्शन न होकर जगत् से पलायन का दर्शन है। इस बात की ओर कम ही मनीषियों का ध्यान गया कि अद्वैतवेदान्त जगत् के प्रति जीव की भ्रान्तदृष्टि का मार्जन करने की बात कहता है न कि जगत् के व्यावहारिक अस्तित्व का निषेध। क्योंकि आचार्य द्वारा बौद्ध विज्ञानवाद का खण्डन ही इस बात को सिद्ध करता है कि विषयी से बाहर विषय जगत् की सत्ता है। अध्यास-भाष्य में अन्धकार और प्रकाश की तरह विरुद्ध धर्म वाले विषय और विषयी को

मूलतः स्वीकार किया है।[४] और थोड़े से गहरे अध्ययन से ही पता चलता है कि आचार्य की दृष्टि में जगत् असत्य भले ही रहा हो पर प्रतिभासमात्र कभी नहीं रहा।[५] प्राचीन वेदान्ती भी इस बात को मानते थे कि ईश्वरकृत होने से जगत् जिसका ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष हम प्रतिक्षण करते हैं उसकी व्यावहारिक सत्ता है। किन्तु इस जगत् में रहकर जीव जो एक अपनी स्वतन्त्र मानसिक दुनिया बना लेता है वह एक उसकी मनोमयी भ्रान्ति होने से प्रतिभासमात्र है। स्वप्न के मोदकों से किसका पेट भरा है। किन्तु स्वप्न-मोदक हैं बाह्य-मोदकों के ही मनःकल्पित रूप। अतः ईश्वर की कृति होने से जगत् की व्यावहारिक सत्ता तो है ही। संसार केवल जीवकल्पित होने से अतत्त्व है।[६] अतः वेदान्त इस भ्रान्ति का परिशोधन करके हमें जगत् को उसके मूलरूप में यथार्थरूप में दिखाना चाहता है, न कि हमारी कल्पनाओं के परिप्रेक्ष्य में। वस्तुओं के अन्तिम रूप तक ले चलने में ही वेदान्त की सार्थकता है न कि जगत् की सत्ता का ध्वंस मानने में। अगर मोक्ष का अर्थ जगत् का वास्तव ध्वंस होता, तो एक ज्ञानी के मुक्त होते ही जगत् नष्ट हो जाता। शायद इसी से अद्वैतब्रह्मसिद्धिकार ने विषय और विषयी को पृथक् करते हुए स्पष्टतः अपने को बौद्ध विज्ञानवाद से अलग कर लिया।[७]

जगत् शब्द का निर्वचन-अर्थ लें तो हम देखेंगे कि यह एक विशेषण शब्द जो संस्कृत के गम् धातु से क्विप् प्रत्यय आकर द्वित्व होकर बना है अपने में एक गहरा अर्थ दबाए है।[८] जगत् का अर्थ होगा गतिशील। ऋग्वेद में सूर्य को चराचर की आत्मा कहा है। चर के लिए जगत् शब्द का प्रयोग किया है।[९] आचार्य का इस अर्थ से कोई विरोध कहीं दृष्टिगत नहीं होता। किन्तु इस अर्थ को लेकर जो जो विभिन्न दर्शनों में चर्चाएँ हुई हैं उन्हें अद्वैतवेदान्त की परिधि में कुछ देखा जा सकता है। न्यायवैशेषिकमत वालों ने जगत् को अचेतन परमाणुओं का संघात माना था। इस संघात को गतिशील रखने के लिए जिस प्रकार से ईश्वर की कल्पना की गई वह काफी अर्थ खो चुकी है। सांख्यों ने इस जगत् को त्रिगुणमयी मूलाप्रकृति की विकृति या परिणाम माना। द्वैतमूलक रहने से यह परिणामवाद अपनी कुछ असंगतियों के कारण अद्वैतवेदान्त के आगे नहीं ठहर पाता। हाँ बौद्ध विज्ञानवादी इस विषय में टक्कर लेते हैं। विज्ञानवादियों ने कहा कि जगत् स्वप्नसदृश है। मृगमरीचिका है। जगत् का विषयगत या बाह्य अस्तित्व ही कोई नहीं। जगत् सत्ताशून्य होकर ही प्रतीत हो रहा है। आचार्य ने जगत् के प्रति इस दृष्टिकोण को खूब लताड़ा है। "प्रतिक्षण प्राप्त हो रही वस्तु का अभाव कैसे हो सकता है। भूखे को भोजन करने के उपरान्त जो तृप्ति होती है। उस तृप्ति को आप कैसे नकार सकते हैं। उसी प्रकार स्वयं इन्द्रियसंन्निकर्ष से वस्तुओं को प्राप्त कर रहा मनुष्य कैसे कह सकता है कि मैं बाह्यपदार्थों को नहीं देख रहा।"[१०]

शंकर जगत् को चैतन्यसत्ता से ही आविर्भूत मानते हैं। जीवप्रकरण में

हमने दिखाया है कि आत्मा का चित्त के साथ सम्बन्ध ही आत्मा को चेत्य या ज्ञेय बनाता है अन्यथा वह ज्ञेय नहीं। दूसरे चित्त आत्मा के सम्पर्क के बिना रह ही नहीं सकता।[११] अत: यहाँ चित्त-विशिष्ट उपाधिवाला ब्रह्म ही जगत् का उपादान और निमित्त कारण है। यह मायावी ईश्वर एक ऐन्द्रजालिक की तरह है जो अपनी माया-शक्ति से जगत् का निर्माण करता है। आचार्य ने अपनी एक शिव-स्तुति में कहा है कि जैसे बीज में अंकुर पहले गुप्त रहता है ऐसे ही निर्विकल्प ब्रह्म में यह जगत् रहता है। अपनी मायाशक्ति से वह दिक् और काल से युक्त सृष्टि को एक ऐन्द्रजालिक की तरह अपने भीतर से ही खोलकर रख देता है।[१२] ज्ञानी सन्त भी लगभग इसी प्रकार के सृष्टिक्रम को मानते हैं। ईश्वर को मायावी और जादूगर की उपाधि उन्होंने भी बराबर दी हैं।[१३]

जगत् का विवेचन करते समय एक बात का हमें बराबर ध्यान रखना होगा कि जगत् की उत्पत्ति आदि क्रम का वर्णन वेदान्त का कोई ऐसा दार्शनिक पक्ष नहीं है जो कि उनका मूलप्रतिपाद्य हो। केवलाद्वैत का मूलप्रतिपाद्य है—कि ब्रह्म के बिना जगत् की सत्ता सम्भव न होने से दोनों का अभेद ही ग्रहण करने योग्य है। अत: वे सीधे ही यह मानकर चलते हैं कि परब्रह्म से ही समस्त भूतों की तथा प्राणादिक जगत् की उत्पत्ति मानना वेदान्त की मर्यादा है, या एक रूढ़ि है।[१४] किन्तु फिर भी आचार्य ने उसे उचित महत्त्व देकर सृष्टिक्रम का उपयुक्त विवेचन किया है। किन्तु उनके मन में मूलत: यही बात रही कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय की कल्पना सृष्टिप्रलयक्रम-निरूपण करने के लिए नहीं बल्कि ब्रह्म और जगत् की एकरूपता को अधिक दृढ़ता से सिद्ध करने के लिए है।[१५] यह जो श्रुति-कथन है कि 'उसने सृष्टि की' और उसमें ही स्वयं प्रविष्ट हो गया।[१६] इससे आचार्य यही अर्थ लगाते हैं कि जगत् उस ब्रह्म में तीनों काल में स्थित होता हुआ ही उपचार से उत्पन्न या लीन होता है।[१७] अत: 'जगन्मिथ्या' का अर्थ यही प्रतीत होता है कि जगत् की कोई ब्रह्म से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता नहीं। जो मानते हैं वे भ्रम में हैं।

आचार्य के परवर्ती केवलाद्वैत में सृष्टयुत्पत्तिक्रम को अन्य सांख्यादि दर्शनों की तुलना में प्रस्तुत करने के लिए अधिक सूक्ष्मता से विवेचित किया गया। गीता, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तीनों में ईश्वर को जगत् का कारण माना गया। उपनिषदों में जहाँ मकड़ी की उपमा द्वारा जगत् को ईश्वर से आविर्भूत माना गया है[१८], वहाँ गीता में ईश्वर की अध्यक्षता में प्रकृति का जगदुत्पत्ति कार्य होना कहा है[१९] वैसे सृष्टिप्रक्रिया के वर्णन में अद्वैतवेदान्त ने सांख्य की प्रणाली को काफी हद तक स्वीकार भी किया है। केवल भेद है तो सिर्फ यही कि अद्वैत मत में जगत्कारण सगुणब्रह्म है और सांख्य में प्रकृति। परवर्ती वेदान्त में जगत् का कारण ब्रह्म को मानने में कई तरह की दार्शनिक चर्चा हुई है। संक्षेपशारीरककार के दृष्टिकोण से शुद्ध ब्रह्म को ही जगत् का कारण माना गया है। विवरणकार ने मायाशबलित

ब्रह्म (सगुणब्रह्म) को इस जगत् का उपादानकारण माना है। सिद्धान्तमुक्तावलीकार ने केवल मायाशक्ति को जगत् का उपादानकारण माना है। जैसे मिट्टी की चिकनाहट घट के बनने में द्वारकारण होती है ऐसे ही शुद्धब्रह्म के जगत् के उपादानकारण होने में माया भी द्वारकारण है। वाचस्पति तो सीधे ही जीव की भ्रान्ति को ही जगत् का बीज मानते हैं।[२०] किन्तु कल्पतरु में आचार्य शंकर के मूलभूत को उद्धृत करते हुए कहा है कि "शंकर तो एक नट की तरह ब्रह्म को अपनी ही शक्ति से जगत् का स्रष्टा कहते हैं।"[२१] यह नट अपनी नृत्यशक्ति से अपृथक् होते हुए ही कला-सर्जन करता है। नृत्य त्रिकाल में ही नट से अपृथक् है। आचार्य का मत ही सर्वश्रेष्ठ है इसमें सन्देह नहीं। इसी दृष्टिकोण को आधार बनाकर केवलाद्वैत में सदानन्द ने संसार का ब्रह्म को कारण अपने ढंग से कहा है-- "आवरण और विक्षेप शक्तियों से उपहित चैतन्य ही अपनी प्रधानता से निमित्तकारण बनता है, तथा अपनी उपाधि की प्रधानता से उपादानकारण बनता है जैसे मकड़ी तन्तुकार्य के प्रति अपनी प्रधानता से निमित्त और अपने शरीर की प्रधानता से उपादान होती है।[२२] ब्रह्म को इस प्रकार जगत् का कारण मानने से यह प्रपंचात्मक जगत् अपारमार्थिक होने पर भी माया-परिणाम होने पर भी तुच्छ नहीं है। मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि यह सब सृष्टि प्रलय आदि अपारमार्थिक होते हुए भी वासना की दृढ़ता के कारण निश्चय ही व्यवहारयोग्य तो है ही। अतः मायिक होने पर भी यह जगत् शांकरमत में तुच्छ नहीं।[२३]

जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करके ही अद्वैतवेदान्ती आगे की सृष्टिप्रक्रिया को स्पष्ट करते हैं। तमोगुणप्रधान विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान-उपाधि वाले चैतन्य से आकाश प्रकट हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल जल से पृथिवी उत्पन्न हुई।[२४] इस तरह आत्मचैतन्य से स्थूल सूक्ष्म प्रपंच जगत् का आविर्भाव माना गया। कुछ वेदान्ती पहले अव्यक्त दशा में से महान् आत्मा हिरण्यगर्भ को, उससे बुद्धि, बुद्धि से मन, मन से तन्मात्रा को मानते हैं तन्मात्रा पंचीकृत होकर पंचभूतों को जन्म देती हैं। 'भूतों से इन्द्रियों की उत्पत्ति', यह सांख्य से भारी भेद है। यदि सांख्य-पद्धति से अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति मानी जाए तो प्रत्येक इन्द्रिय का उपकरण एक ही होने से विषयों का ग्रहण भी सबका समान होना चाहिए। किन्तु अद्वैतानुसार पृथक्-पृथक् भूत से पृथक्-पृथक् इन्द्रिय पैदा होने से रूपरस आदि विषयों के ग्रहण में उनकी स्वतन्त्रता ठीक है।

जगत् के सत्य या मिथ्या रूप के बारे में अद्वैतवेदान्तियों ने एक सुन्दर युक्ति यह दी है कि जगत् के पाँच धर्म हैं—सत्ता, बोध, प्रियता, नाम तथा रूप।[२५] इन पाँचों में से जगत् का होना उसका ज्ञान, उसका प्रिय लगना ये तो ब्रह्म-चेतना के अंश हैं। नाम और रूप माया के धर्म हैं। अतः यदि नामरूप के भेद को निकाल

कर हम सृष्टि को देखेंगे तो वह ब्रह्मरूप ही होगी। अतः नाम और रूप के अतिरिक्त जगत् ब्रह्मरूप ही है। यही एक रहस्य है जिसे पाने के बाद ज्ञानी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की घोषणा तो करता है पर सर्वं 'खल्विदं मिथ्या' नहीं कहता। अतः यह स्पष्ट है कि शांकरमत में जगत् असत्य तो है पर प्रतिभासमात्र शायद नहीं। यदि ब्रह्म से पृथक् जगत् की सत्ता की कल्पना की जाए तो वह मिथ्या है। किन्तु ब्रह्म से पृथक् जगत् की सत्ता ही कल्पनामात्र है। माया वस्तु स्वरूप के विषय में भ्रान्ति और अज्ञान है। भ्रान्ति का मूल तर्कगत तथा मनोगत है, तात्त्विक नहीं। × × × भ्रान्ति का परिशोध ही विचार का परिवर्तन मात्र है।[२६] इसी कारण अद्वैती जब विश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा अन्तिम सत्य तक पहुँचना चाहता है तो वह प्रविलापन-पद्धति को स्वीकार करता है। एक भूत को दूसरे में लय करते हुए अन्त में सबको प्रकृति में लय करके प्रकृति को ब्रह्म में लय कर देता है।

वस्तुतः जैसा कि हम पहले मान आये हैं कि ब्रह्माण्डमीमांसा कोई अद्वैत की मूल विचारणा नहीं। वह तो अद्वैतब्रह्म के आलोक में ही जगत् की व्याख्या करता है। द्वैतवादियों की तरह सगुणब्रह्म (ईश्वर) और जगत् का सम्बन्ध, नानात्व पर एकत्व का शासन, उसके लिए चरम सत्य नहीं। क्योंकि उस स्थिति में एक और अनेक दोनों परस्पर सापेक्ष सत्ताएँ हैं—जो सत्ता का अन्तिमरूप नहीं हो सकती। अतः "यह ध्यान देने की बात है कि परमार्थ (ब्रह्म) जगत् के नानात्व के नीचे रहने वाला एकत्व-मात्र नहीं है, क्योंकि एकत्व और नानात्व एक दूसरे के सापेक्ष हैं, और इनमें से एक को सत्य मानकर अपना लेना तथा दूसरे को प्रतिभास मानकर त्याग देना असम्भव है। असल में दोनों ही प्रतिभास हैं, और अद्वैत का परमार्थ वह है जो इन दोनों से परे - उनका निष्प्रातिभासिक आधार (निर्विशेष) वस्तु है।[२७] इसी से शंकर ने अपने सिद्धान्त को एकत्व की अपेक्षा अद्वैत कहना श्रेष्ठ समझा है। इसे ही पूरे तौर पर स्पष्ट करने के लिए उन्होंने विवर्त के सिद्धांत को श्रेष्ठतम प्रतिपादित किया। जिसके अनुसार कारण को कार्य की उत्पत्ति के लिए स्वयं को किसी तरह विकृत या परिणमित नहीं करना पड़ता, वरन् बिना किसी परिवर्तन के वह कार्य को उत्पन्न कर लेता है।" यह विवर्तवाद अर्थात् प्रातिभासिक परिवर्तन का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म जगत् के रूप में दिखाई मात्र देता है। वह मूल है और जगत् को 'दिक् काल के स्तर पर उसका अनुवाद' कहा जा सकता है। जिस प्रकार किसी मूलग्रन्थ का अस्तित्व उसके अनुवाद पर आश्रित नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म का अस्तित्व जगत् पर आश्रित नहीं है। यही सिद्धान्त प्रकारान्तर से मायावाद के नाम से प्रसिद्ध है।[२८] जिसके अनुसार अद्वैती केवल ब्रह्म और जगत् के भेद का निषेध करता है, भिद्यमान का नहीं। भेदबुद्धि का निराकरण तभी होगा जब हम नामरूपात्मकता को छोड़कर उसी के अन्दर खेल रहे तत्त्व को स्वीकार कर लेंगे।[२९]

अब निष्कर्ष के तौर पर यह जान लेना होगा कि अद्वैती की जगत् के प्रति दो दृष्टियाँ रही हैं। 'जगत् हमें प्रतीत होता है'—इस प्रतीति के कारण अधिष्ठान ब्रह्म की सत्ता का हमें बोध होता है। यह जो जगत् का हमें निर्विकल्पज्ञान है यह सत् है। अपनी-अपनी वासना और संस्कारों के आधार पर हमें उसका जो सविकल्प नामरूपात्मक बोध होता है वह अनित्य होने से असत् है। इन्हीं सत् और असत् दो कोटियों के बीच में जो एक ग्रन्थि पड़ जाती है वह एक ऐसा विलक्षण मिश्रण बन जाता है कि उसे न झूठ कहते बनता है न सच। पर तत्वज्ञानी लोग खोज-खोजकर जब आत्मशोधन करते हैं तो उनका असत् अविद्यांश असत् में और सत् अंश सत् चैतन्य में समा जाता है। गाँठ खुल जाती है।[३०] कबीर के शब्दों में जो कुछ था वही रह जाता है।* गाँठ खुलने पर पता चलता है कि वस्तुत: जगत् का अपना कोई मौलिक रूप तो न था, न है, न होगा।[३१] इसी से वह विलक्षण, अनिवर्चनीय मायामय है। आचार्य कहते हैं कि वह उस स्वप्न की तरह है जो स्वप्न दशा में तो शतशः सत्य लगता है और जाग्रत में शतशः झूठ।[३२] अतः वह एक प्रतीतिमात्र है।

इस विषय में वेदान्ती सर्वथा एक मत हैं कि "जड़ होने के कारण जगत् की अपनी महिमा से तो प्रसिद्धि हो नहीं सकती। चेतन के द्वारा ही उसकी प्रसिद्धि हो सकती है। किन्तु चेतन संगमुक्त, निर्विशेष है अतः वह इसकी प्रसिद्धि भला क्यों करने लगा। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी उसकी सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि जगत् की प्रकाशरूप में प्रतीति आत्मचैतन्यरूप ही है। अतः प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अपने ही प्रकाशक चैतन्य को कैसे प्रकाशित करेंगे। अतः मायामय रूप में जगत् की जो प्रतीति है वह भ्रान्त है।"[३३]

इस समस्त पेषण से कुछ एक तथ्य हमारे सामने उद्भासित होते हैं। जगत् ईश्वर की सहज लीला है, जिसके द्वारा उसका आनन्दातिरेक अभिव्यक्त होता है। इसी से सृष्टिकर्म उसके लिए श्वास-निश्वास लेने की तरह सहज प्रयत्नहीन कर्म है।[३४]

सृष्टि-कर्म लीला होने के साथ निष्प्रयोजन नहीं है। वह सृष्टि की बार-बार रचना और संहार इसलिए करता है[३५] ताकि नैतिक सन्तुलन कायम रह सके, और जीव अपने कर्मों के भोग के लिए उपयुक्त परिस्थिति प्राप्त कर सकें। इसी दृष्टि से वह शाश्वत धर्मगोप्ता है।

वह जीवों के कर्मों का अध्यक्ष है। उन्हीं के अनुसार वह विश्व-रचना करता है। इसी दृष्टि से वह जीवों के फल देने में हेतु है।[३६] फल देने में वह एकदम निष्पक्ष है। ईश्वर तो उस वर्षा के समान है जो जीवों के कर्मों के बोये बीजों को केवल फलने-फूलने की अनुकूल परिस्थितियाँ देता है। किन्तु फल का मीठापन या कड़वापन तो उनके अपने बीजों पर निर्भर है उसमें ईश्वर का कोई हाथ

नहीं ।[37] उसकी अहैतुकी कृपा सर्वत्र सब पर है ।

जैसे जीव अनादि है ऐसे ही उनके कर्म भी । इन्हीं कर्मों के अनुसार प्रजापति रूप में वह यथाप्राप्त रूप में ही हर कल्प में सृष्टिरचना करता है । यह जो प्रश्न उठाया जाता है कि क्या बुराई का रचयिता भी ईश्वर है ? इसके उत्तर में आचार्य का कहना है कि बुराई जीवों के बहिर्मुख कर्मों का परिणाम है । क्योंकि कर्म सभी अविद्या की उपज है । इन्द्रियाँ बहिर्मुख होकर अर्थात् चैतन्य आत्मा से विमुख होकर ही प्रवृत्त होती है अतः उनकी प्रवृत्ति आत्मप्रकाश-विरोधिनी है ।[38] बहिर्मुखता के कारण हमारी दृष्टि संकीर्ण स्वार्थान्ध हो जाती है । यही बुराई की जन्मभूमि है । जब तक यह बुराई व्यक्ति सीमित है, यह व्यक्ति को पीड़ित करती है जब जीव-समष्टि स्वार्थान्ध हो जाती है तो समष्टि-बुराई ही शैतान का रूप धारण कर लेती है । जीव यदि अपने अहं का परित्याग कर विषयगत दृष्टि से जगत् को देख सके तो बुराई कहाँ ? इसलिए दुःख शैतान जीव की सृष्टि है ।[39] इसी को जगत् से भिन्न 'जीव-कल्पना संसार' कहा है—'संसारः जीव-कल्पितः ।'

यह जगत् कोई आकस्मिक रचना नहीं है ।[40] इसमें एक क्रम है । वह क्रम या मर्यादा वैदिक ऋत या धर्म के अतिरिक्त कुछ नहीं । ब्रह्मा पहले से ही वेदों में निहित इसी ऋत और धर्म के अनुसार रचना करता है । इस दृष्टि से अद्वैतवेदान्त में धर्मानुसरण अथवा नैतिकता के लिए पर्याप्त स्थान बन जाता है । यह नैतिकता व्यवहार जगत् से बाहिर जाने के लिए तब एक रास्ता-भर रह जाती है । इस दृष्टि से ज्ञानी की मोक्ष-दशा में जगत् की सत्ता का नाश तो नहीं होता पर उच्चकोटि के अनुभव से निम्नकोटि के अनुभव का बाध हो जाता है । किन्तु यह व्यवहारों का बाध कोई अवस्थाविशेष नहीं ।[41] समस्त सत्ता की पूर्णता का अनुभव है ।

सृष्टि के बारे में विचार करते हुए सन्तों का मत भी कोई ठोस भौतिक सृष्टि-प्रक्रिया को स्पष्ट करना न था । फिर उनकी कुछ सीमाएँ भी थीं । एक दार्शनिक की तरह उनको शिक्षा-सम्बन्धी वे सब सुविधाएँ कभी प्राप्त नहीं हुई जो व्यक्ति के पाण्डित्यपूर्ण चिन्तन को सहारा देती हैं । किन्तु उन्होंने जितना कुछ सुना और गुरुमुख से पाया उसमें उन्होंने स्वानुभूति का पालिश देकर खूब चमकाया है । फलतः हम उनकी वाणियों में सृष्टि-सम्बन्धी सिद्धान्तों का अद्वैतवेदान्तनिष्ठ विवेचन प्राप्त करते हैं । श्रुति ने सृष्टिपूर्व की अवस्था की ओर संकेत दिया था कि "तब न सत् था, न असत्, न आकाश, न जल, न मौत, न जीवन, न दिन, न रात, बस केवल एक परमसत्ता ही उस समय श्वास ले रही थी ।"[42] कबीर को इसका पूरी तरह पता था । देखिए—

जब नहि होते पवन और पानी, तब नहीं होती सृष्टि उपानी ।
जब नहीं होते प्यंड न बासा, तब नहि होते धरनि आकासा ।

जब नहीं होते गरभ न मूला, तब नहीं होते कली न फूला।
जब नहीं होते सबद न स्वाद, तब नहीं होते विद्या न वाद।
जब नहीं होते गुरु न चेला, गम-अग में पंथ अकेला ॥[४३]

सन्त जानते थे कि इस जगत् के मूल की खोज में हमें व्यर्थ समय इसलिए नहीं खराब करना चाहिए, क्योंकि इसके अनादिप्रवाह को कोई मनुष्य तो क्या, देवता भी जो जगदुत्पत्ति के बाद पैदा हुआ कैसे बता सकता है। इसकी उत्पत्ति का वर्णन अकथ है—

आदि उत्पत्ति सुनहु धर्मनि, कोई न जानत ताहि हो।
सबहि भो बिस्तार पाछे, साख देऊं मैं काहि हो।
वेद चारों नाहिं जानत, सत्यपुरुष कहानियाँ।
वेद को तब मूल नाहिं, अकथ कथा बखानियाँ।[४४]

सभी अद्वैती इस बात को मानते रहे हैं कि इस अनादिप्रवाह का मूल खोजना व्यर्थ का सिर खपाना है। इस जगत् रूपी वृक्ष को अद्वैतवेदान्ती और सन्त दोनों एक पेड़ के रूप में लेते हैं। यह पेड़ ऐसा है जिसकी पत्तियाँ जगत् के रूप में फैली हुई हैं। जड़ ऊपर है। और वह मूल और कोई नहीं, वही अक्षयपुरुष ब्रह्म ही है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश उसकी तीन मुख्य शाखाएँ हैं। निरंजनता उसका तना है।[४५] सन्त सुन्दरदास कहते हैं कि जीव जैसे बहिर्मुख होकर अवर्णनीय का वर्णन करने लगता है वैसे ही वेद ने स्वयं ही वर्णन द्वारा इस जगत्रूपी वृक्ष को खड़ा कर दिया है, और वेदान्त के ज्ञान के द्वारा यह उखड़ेगा।[४६] इस जगत् को जगत् के रूप में देखना ही सबसे महान् अनर्थ का कारण है। क्योंकि ब्रह्माभिन्न जगत् को ब्रह्मरूप में कोई नहीं देखता। अतः यह जगत् माया और अविद्या की रचना बन जाता है—

जैसे एक व्योम पुनि बादर सो छाइ रह्यो
व्योम नहिं देषत, देषत वहु वृष्टि कौं
तैसे एक ब्रह्म ई विराजमान सुन्दर है
ब्रह्म कौं न देषे कोउ देखैं सब सृष्टि कौ।[४७]

अभिप्राय यह हुआ कि इस जगत् का दरअसल तो मूल है ही कहीं नहीं। जीवभ्रान्ति ही इसका मूल है। भ्रान्ति स्वय में एक ठोस वस्तु नहीं। अतः निर्मूल वस्तु की मूल का खोज करना नई-नई भ्रान्तियों को ही जन्म देना है। यही भ्रांतियाँ वासनानुरूप दृढ़ होकर नाम-रूप धारण कर जगत् बन जाती हैं। वस्तुओं को उनके मूलरूप में देखना वेदान्त की सर्वोच्च घोषणा है। माला या रस्सी को, कुण्डल या कगन को, रस्सी और सोने के रूप में देखना है न कि साँप या कुण्डल

के रूप में। क्योंकि आकार वस्तुतः असत्य है—

जैसे अंधियारी रैन जेंवरी न जानै ताहि
आप ही तें साँप मानि भय अति करयो है
तैसे ही सुन्दर एक ज्ञान के प्रकास बिन
आपु दुख पाय पाय आपु पचि मरयो है।
मृत्तिका समाई रही भाजन के रूप माँहि
मृत्तिका को नाम मिटी भाजन ई गह्यो है
कनक समाई त्योंहि होइ रह्यो आभूषन
कनक न कहै कोऊ आभूषन कह्यो है
बीज ऊ समाइ करि वृक्ष होइ रह्यो पुनि
वृक्ष ई कों देषियत बीज नहीं लह्यो है
सुन्दर कहत यह योंहि करि जानौं सब
ब्रह्म ई जगत होइ ब्रह्म दुरि रह्यो है।[४८]

वस्तुतः औपचारिकता के कारण ही जगत् के वर्णन का अद्वैतवेदान्त में प्रचलन है। अतः यह जगत् मूलतः ब्रह्म के विषय में कही हुई वाणी की औपचारिकता मात्र ही है। औपचारिकता का अपना कोई स्वरूप नहीं होता। सुन्दर दास इस गहरी सूक्ष्मता को कहने के स्तर पर ही नहीं यथार्थ रूप में अनुभव करते हैं

सुन्दर कहत यह एकई अखण्ड ब्रह्म।
ताही कों पलटि कै जगत् नाम धरयो है॥[४९]

उपरोक्त कथन से यह भी सिद्ध होता है कि कबीर आदि अधिकांश निर्गुणिया सन्त शंकर के विवर्त-सिद्धान्त[५०] को पूर्णतः मानते थे। विवर्त-सिद्धान्त से अभिप्राय यही कि जगत् ब्रह्म का विवर्त है। जैसे जल का विवर्त जल से भिन्न कुछ नहीं। भिन्न है तो केवल नाम और आकार। नाम और आकार मिथ्या है। उन्हें निकाल दें तो बाकी सत्य ही सत्य है। जगत् ब्रह्म का परिणाम नहीं। ब्रह्म ही है। आचार्य ने जो कहा कि कार्य और कारण में वास्तव-भेद कोई नहीं। क्योंकि कार्यकारण की अवस्था या संस्थानमात्र ही है।[५१] कबीर कहते हैं—

कबीर कारन सो भयो जो कीनो करतार।
तिसु बिनु दूसर को नहिं, एकै सिरजन हार॥[५२]

ब्रह्म का प्रथम विवर्त हुआ ओंकार अर्थात् शब्द ब्रह्म। ओंकार में ईश्वर और माया विवर्त बने बैठे हैं। यहीं से आगे महतत्त्व अहंकार आदि के विवर्त बनते चलते हैं। ओंकार के इस रूप की व्याख्या के लिए माण्डूक्य पर शांकर भाष्य को सूक्ष्मता से देखना चाहिए। दादू कहते हैं—

आदि शब्द ओंकार है बोल सब घट मांहि।
दादू माया विस्तरी परमतत्त यह नांहि ॥[५३]

कबीर और दादू ने इस विवर्तों की अटूट लड़ी का ब्रह्म से लेकर पंचभूत मानव शरीर तक प्रतिपादन किया है—

पहली कीया आप थें उत्पत्ती ओंकार
ओंकार थै ऊपजे पंचतत्त आकार
पंचतत्त से घट गया बहुविधि सब विस्तार
दादू घट तें ऊपजे 'मैं' 'तैं' वरण विकार ॥[५४]

सन्तों के साहित्य को परखने से यह बात भी अधिक स्पष्ट होती है कि सन्त भी अद्वैतवेदान्तियों की तरह थोड़े से फर्क के साथ ही सांख्यदर्शन की सृष्टि-विवेचन की प्रक्रिया को मान लेते हैं। केवल एक दो बातों में अन्तर है। सांख्य-वादी जहाँ प्रकृति से सृष्टि का जन्म मानते हैं वहाँ सन्त ब्रह्म से ही जगत् का आविर्भाव मानते हैं। सांख्य जहाँ अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति मानता है वहाँ सन्त भूतों से इन्द्रियों की उत्पत्ति मानते हैं। इन वेदान्ती बारीकियों को सुन्दरदास ने गजब के ढंग से पकड़ा है। देखिए—

ब्रह्म तें पुरुष और प्रकृति प्रगट भई,
प्रकृति में महतत्व पुनि अहंकार है।
अहंकार हूं ते तीन गुन सत्व रज तम,
तम हूं ते महाभूत विषय पसार है।
रज हूं ते इन्द्री दश पृथक् पृथक् भई,
सत्व हूं ते मन आदि देवता विचार है।
ऐसे अनुक्रम करि शिष्य सौं कहत गुरु,
सुन्दर सकल यह मिथ्या भ्रमजार है ॥[५५]

ऐसे कथनों को देखकर लगता है कि डॉ० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल ने ठीक ही कहा था कि "सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों को कबीर ने अद्वैतदर्शन के प्रभाव से आँका। सांख्य पर अद्वैत का रंग चढ़ाकर उसका वर्णन किया। कबीर ने सांख्य के प्रकृति और पुरुष को व्यावहारिक सत्य के रूप में ग्रहण किया। दोनों के संयुक्त रूप को ब्रह्म का व्यावहारिक व्यक्त स्वरूप माना, और उसके परे अव्यक्त पूर्ण ब्रह्म की प्रतिष्ठा की।[५६]

किन्तु इतना होते हुए भी कहीं-कहीं कुछ मौलिक ढंग से भी कुछ सन्तों ने सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन किया है। व्यावहारिक रूप में सन्त भी शायद यह मानते थे कि साधक को भावाद्वैत की ही साधना करनी चाहिए क्रियाद्वैत की नहीं। क्योंकि व्यवहारतः सृष्टि एक समान नहीं। क्रिया में अद्वैतसाधन करने से तो सृष्टि

की कोई मर्यादा बच ही नहीं सकती। अतः व्यवहाररूप में उन्होंने शांकरवेदान्तानुसारी धारणाओं से प्रभावित होकर भी कुछ अपनी कल्पनाएँ की हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड को एक मानते हुए उन्होंने सृष्टि-प्रक्रिया में ही छः प्रकार के शरीर माने जैसे—स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, कैवल्य, हंस। इन छहों देहों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। स्थूल देह में सांख्य के पच्चीस तत्त्व, सूक्ष्म में १७, कारण में केवल ३ (चित्त, अहंकार, मनरूप जीव), महाकारण में केवल दो अहंकार और जीव, कैवल्य-देह में केवल जीव और ईश्वर, हंस-देह में जीव पूर्णब्रह्म-भाव को प्राप्त होता है।[५७]

फिर पाँच महाभूतों को भिन्न ढंग से वर्गीकृत किया है। पाँच पक्के तत्त्व और पाँच उनकी कच्ची प्रकृतियों का जिक्र भी कबीरमन्सूर में किया है। वे यद्यपि अद्वैतवेदान्तानुसारी विभाजन नहीं हैं, तो भी उससे प्रभावित बहुत हैं।

सन्त दरिया के सृष्टि-विवेचन-क्रम पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए। दरिया ने सृष्टि के मूल में केवल एक पुरुष को माना है। उसमें सृजन की इच्छा जागी। उससे निरंजन और माया की उत्पत्ति हुई। दोनों के मिलन से ब्रह्मा, विष्णु, महेश जन्मे। समुद्रमन्थन के बाद जब ये तीनों वेद, तेज, विष को धारण कर घर लौटे तो माता (आदिमाया) ने इन्हें क्रमशः सावित्री, लक्ष्मी, देवी कन्याएँ दे दीं। तीनों देवता रज, सत्व, तम के ही प्रतीक हैं। इन्हीं से शेष सृष्टि उत्पन्न हुई। इस क्रम को दरिया भी संक्षेप में एक वृक्ष की उपमा देकर समझाते हैं—

आदि ही एक और अंत फिरि एक है मूलते फूटि तिनि डाढ़ कीन्हा।
पाँच और तत्तु पचीस प्रक्रीति है तीनि गुन बाँधि कलबूद दीन्हा।।[५८]

दरिया साहिब कहते हैं कि यह जगत् भ्रम और दुखों का समूह है। यह 'मुरदों का गाँव' है। जैसे आचार्य शंकर ने कहा था कि यह संसार भयावह समुद्र है।[५९] ऐसे ही दरिया साहिब भी कहते हैं कि—

यह भव जरा मरन को वेसा, छोड़ि देहु जिव कठिन कलेसा।
भवसागर में परहु भुलाई, चेतहु तबहि भला है भाई।
का सुख एह मुरदाकर गाऊँ, मरि मरि जनम होय इहि ठाऊं।।[६०]

थोड़े से फेर-फार के बाद एक बात आचार्य की इनके मन में पूरी तरह जड़ पकड़े है कि जगत् मिथ्या है। चरनदास तो जगत् को माया ही मानते हैं। यह जो कुछ दृश्य हैं सब माया का ही परिणाम है और स्वप्न के समान ही मिथ्या है। आभासमात्र है। भक्ति-पदार्थ वर्णन में वे कहते हैं—

जैसे सुपना रैन का, मुख दर्पण के मांहि।
भासै है पर है नहिं, ज्यों तरवर की छांहि।।[६१]

कहीं कहीं पर तो जगत् को अज्ञान में ही स्थित माना है—

"ऐसे ही झूंठ जगत सच नाहीं भेद विचारो पायो"[६२]

अधिकतर सन्त जब जगत् को कोसते हैं तो वे उसे माया की प्रसूति मानकर कोसते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने भी समस्त दृश्य को माया का कार्य माना था—

"गो गोचर जहं लगि मन जाइ।
सो सब माया जानहु भाई।।"[६३]

किन्तु जब इस जगत् को वे ब्रह्मरूप देखते हैं तो कहते हैं कि यह जगत् परमात्मा का प्रकाशमय कार्य है।

"अला एकै नूर उपनाया, ताकी कैसी निंदा।
ता नूर थें सब जग कीया, कौन भला कौन मंदा।।"

इस लहजे को उपनिषदों के ऐसे कथन से मिलाइये जिसमें कहा है कि जैसे सुदीप्त अग्नि से चिंगारिया उठती हैं ऐसे ही उस अक्षर ब्रह्म से यह विश्व पैदा होता है।[६४] ऐसा लगता है कि जगत् के प्रति सन्तों की भी दो दृष्टियाँ हैं। एक ओर वे अद्वैतियों की तरह जगत् को ब्रह्मरूप, दूसरी ओर मायारूप में उसे मिथ्या मानते हैं।[६५]

आचार्य के 'जगन्मिथ्या' कहने का अभिप्राय भी यही था। सन्तों ने इस बात को पकड़ा। उन्हें लगा कि नामरूपात्मक जगत् तो एकमात्र छलावा है। वाणी का विग्लापन है। जगत् की अपने रूप में सत्ता केवल कहने सुनने की ही बात है।[६६] अपने रूप में वह नितान्त झूठ है। क्योंकि जगत् के रूप में जगत् की उत्पत्ति और विनाश दोनों होते हैं। और जो जन्म मरणशील है वह मिथ्या है।

"सांच सोई जो थिरह रहाई, उपजै विनसै झूठ हो जाई"[६७]

बस इस रूप में जगत् जब ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होता है तो फिर सन्त बरस पड़ते हैं। केवलाद्वैतियों की तरह ही जगत् की प्रातिभासिक और व्यावहारिक सत्ता अस्वीकार कर देते हैं। उन्हें पता है कि जैसे स्वप्नदशा का बाध जाग्रत में और जाग्रत का बाध (अनित्यता के कारण) परमार्थ में होता है ऐसे ही व्यक्ति का कल्पनामय संस्कार व्यावहारिक जगत् से टकराकर चूर-चूर हो जाता है और व्यावहारिक जगत् अपनी परिवर्तनशीलता और अनित्यता के कारण परमार्थब्रह्म से टकराकर बिखर जाता है। तब केवल ब्रह्म ही ब्रह्म अर्थात् आत्यन्तिक आनन्द का अनुभव होता है।

अब देखिए कि जगत् के रूप में जगत् सन्तों की दृष्टि में क्या है। नानक को भी जगत् के मिथ्यात्व की बात स्वीकृत है—

"जो कुछ दीसै सकल बिनासै ज्यों बादल की छांही।
जनु नानक यह जग झूठा रहो राम सरनांहि॥"[६८]

मायावी के खेल उपजाने के तरीके को सन्त भी जानते हैं। और मानते हैं कि यह जगत् एक बाजी है। पर यह बाजी है झूठ। बाजीगर सत्य है, ऐसा ही सन्तों का मत है।[६९] बड़े से बड़ा ऐश्वर्य अपने आप में अर्थहीन है। नश्वर जगत् का वह सबसे बड़ा संमोहन है। इस संमोहन का मायावी रूप नितान्त खाक़ है। पलटू की साधक को इस ओर से सावधान करने की युक्ति देखिए—

हाथी घोड़ा खाक है कहै सुनै सो खाक,
कहै सुनै सो खाक खाक है मुलुक खजाना।
जोरु बेटा खाक खाक जो साचै माना॥
महल अटारी खाक खाक है बाग-बगैचा।
सेत-सपेदी खाक खाक है हुक्का नैचा॥
साल दुसाला खाक खाक मोतिन कै माला।
नौबत खाना खाक खाक है ससुरा साला॥
पलटू नाम खुदाय का यही सदा है पाक।
हाथी घोड़ा खाक है कहै सुनै सो खाक॥[७०]

यद्यपि संसार और जगत् दोनों का शब्दार्थ समान है—गतिशील। तो भी कुछ अद्वैती जीव के अन्य जीवों एवं जागतिक पदार्थों से आसक्ति के परिणाम-स्वरूप होने वाले मानस-बन्धन को ही संसार कहते हैं। शंकर ने चित्त की इस विषयिणी वृत्ति के अनर्थों को देखकर ही जीवों को सम्बोधित करते हुए कहा था कि—

"का ते कान्ता कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते॥"[७१]

सन्त तुलसी साहिब कहते हैं कि इस जगत् के सम्पर्क से होने वाले समस्त सम्बन्ध दुखद हैं, एक भयंकर पीड़ाकर बन्धन है—

कुटुम्ब बंधु मैया सुत नारी।
भरत कोऊ संग बात न जाती॥
यह संसार समझु दुखदाई।
पर बंधन नहिं परत पिछानी॥[७२]

सिख गुरु भी अन्य सन्तों की तरह लोक-संग्रह में लगे रहे हैं। किन्तु अन्य सन्तों की तरह ही उनकी दष्टि भी जगत् की अतात्त्विकता के प्रति सचेत थी। अनित्य वस्तु को नित्य समझकर उससे चिपक जाना दुख का मूल है। गुरु

तेगबहादुर यद्यपि इस जगत् को राम की रचना मानते हैं तो भी इसकी तीव्र पीड़ाओं को देखकर वे कहते हैं कि जगत् नश्वर है। ईश्वर ही स्थिर सत्य है—

साधो रचना राम बनाई,
× × ×
जो दीसै सो सकल बिनासे, जिउ बादर की छांई।
जननानक जग जानिश्रो मिथिश्रा, रहिश्रा राम सरनाई ॥[७३]

सन्त इस बात से भी परिचित थे, कि जितनी भी जगत् की क्रियाएँ हैं ये चेतन आत्म में कहीं नहीं। समस्त गतियाँ एक भ्रम हैं। क्योंकि परमतत्त्व की प्राप्ति होने पर पता सबको यही लगता है कि वस्तुतः साधक मुक्त होने पर कहीं न गया न आया। केवल इस जगत् की पहेली को उसने भीतर ही भीतर सुलझा लिया। समस्त जगत् की क्रियाएँ सिर्फ होने का आभासमात्र हैं। बुल्लेशाह कहते हैं—

माटी खुदी करें दी यार।
माटी जोड़ा, माटी घोड़ा, माटी दा श्रसवार ॥
माटी माटी नूं मारण लागी, माटी दे हथियार।
जिस माटी पर बहुती माटी, तिस माटी हंकार ॥
माटी बाग, बगीचा माटी, माटी दी गुलजार।
माटी माटी नूं देखण श्राई, है माटी दी बहार ॥
हंस खेल फिर माटी होई, पोंडी पांव पसार।
'बुल्लेशाह' बुझारत बूझी, लाइ सिरों मां मार ॥[७४]

सन्त बखणा जी जगत् को और ही दृष्टि से देखते हैं। वे कहते हैं कि जगत् परमेश्वर का है अरे लोगों! तुम क्यों इस धरती के साथ अपने ममत्व अहंकार को जोड़ते हो। बड़े-बड़े राजा, महाराजा भी इसे अपने पास न रख सके। रावण इसी धरती के मोह में मरा। कौरव-पाण्डव-युद्ध हुआ।[७५] इस नश्वर विराने 'देस' पर कबीर कैसे अपने को निराधार छोड़ सकते हैं। यह तो 'कागज की पुड़िया' है जो पानी की बूंद पड़ते ही गल जाएगी। इससे मोह करने वाला कभी सुख से नहीं सो पाएगा। यहाँ से तो बड़े-बड़े करोड़पति और शाहन्शाह भी खाली हाथ जाते देखे हैं। बुढ़ापा, मौत का भय यहाँ पल भर भी मनुष्य को सुख से नहीं जीने देता—

जरा मुई न भय मुश्रा, कुसल कहां ते होय।
कुसल कुसल ही पूछते, जग में रहा न कोय ॥
झूठे सुख को सुख कहैं, मानत हैं मन मोद।
जगत् चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद ॥[७६]

जगत् का विश्लेषण करने पर अब सहसा ही समझ में आ जाता है कि दरअसल शंकराचार्य के शब्दों में 'अस्मत् (मैं)' और 'युष्मत् (तू)' का भेद, यानी विषय और विषयी का भेद-सम्बन्ध ही जगत् है। भेद के कारण ही ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी खड़ी हो जाती है। वैसे ज्ञान तीनों का स्वरूप है, अतः सर्वत्र एक ही ब्रह्मचेतना है यह जान लेने से समस्त भेद टूट जाते हैं। जगत् के विषय में अन्तिम रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि "जगत् उतना ही सत्य और उतना ही मिथ्या है जितना कि रस्सी का सर्प। रस्सी ही सर्प है, इसलिए सर्प सत्य है, वहाँ सर्प नहीं है इसलिए मिथ्या है। जगत् का जो रूप प्रतीत होता है वह तो मिथ्या है, परन्तु है वह ब्रह्म से अभिन्न इसलिए सत्य भी कहा जा सकता है।"[७७]

सन्दर्भ

१. ब्र० सू० शां० भा० जिज्ञासाधिकरण तथा जन्माधिकरण १-१-१, २

२. श्वेताश्वतर १-३ पर शां० भा० "जगत् के विभिन्न कारणों पर विचार करते हुए ऋषियों ने अन्ततः ध्यान द्वारा देखा कि ब्रह्मचेतना के अधीन होकर ही मायाशक्ति रचना कर रही है।" यही आचार्य कहते हैं कि "न चाप्येषां कालादीनां संयोगः समूहः कारणम्। समूहस्य संहतेः परार्थत्वेन शेषत्वेन शेषेण आत्मनः।" —वही, मन्त्र २, अध्याय १ पर शां० भा०

३. डॉ० अर्कहार्ट ने 'पेन्थीज्म एण्ड दी वेल्यू आफ लाइफ' ग्रन्थ में और मेकेन्जी ने 'हिन्दू ऐथिक्स' में क्रमशः अद्वैतवेदान्त को घोर निराशावादी और निष्क्रियता (पैसिव वर्चुस) का शिक्षक माना है।

४. "युष्मदस्मद्गोचरयोः विषयविषयिणोः तमःप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोः।"
—ब्र० सू० शां० भा० अध्यास खण्ड, उपोद्घात

५. 'Indian Philosophy' by Radha Krishnan, Vol. I, p. 583

६. ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टीरीशेन निर्मिता।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारः जीवकल्पितः॥ —पंचदशी ६-२१३

७. "न ब्रह्मवादिनो नीलाद्याकार वित्तिमात्र मभ्युपगच्छन्ति किन्तु वक्ष्यमाण अनिवर्चनीय नीलादि विषयम्। वयं तु विज्ञानस्यान्तरं नीलादिरूपमाचक्ष्महे"
—अद्वैतसिद्धि २

८. संस्कृत हिन्दी कोश by शिवरामवामन आप्टे।

९. "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" —ऋग्वेद १-११५-१

१०. ब्र० सू० शां० भा० २।२।२८

११. इसी ग्रन्थ में जीव प्रकरण।

१२. दक्षिणामूर्तिस्तोत्र शंकरकृत।

१३. ईश्वर प्रकरण में पृ० १३३ टि० १ (इसी प्रबन्ध को देखिये)।

१४. "परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा।"
—ब्र० सू० शां० भा० १-१-२२

तथा "परस्माद्धि ब्रह्मण: प्राणादिकं जगज्जायत इतिवेदान्तमर्यादा।"
—वही १-४-१८

१५. "तस्मादेकरूपत्वप्रत्ययदार्ढ्यायैव सर्ववेदान्तेषूत्पत्तिलयादिकल्पना न तत्प्रत्ययकारणाय।" —बृहदारण्यक भा० २-१-२०

१६. "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।"

१७. "तत्स्थ एव धर्मान्तरेणोपजायते तेन प्रविष्ट इति उपचर्यते।"
—बृहदारण्यक भा० १-४-७

१८. "यथोर्णनाभि: सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधय: संभवन्ति।"
—मुण्डक उ० १-१-७

१९. मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगत् विपरिवर्तते॥ —श्रीमद्भगवद्गीता ९-१०

२०. 'भारतीय दर्शन' लिखित बलदेव उपाध्याय, पृ० ७६४

२१. स्वशक्त्या नटवद्ब्रह्म कारणं शंकरोऽब्रवीत्।
अज्ञातं नटवद् ब्रह्म कारणं शंकरोऽब्रवीत्॥ —कल्पतरु ४७१

२२. "यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति।" —'वेदान्तसार' संपादित नरेन्द्रदेव शास्त्री, पृ० २६

२३. "सर्वं च सृष्टिप्रलयादिकं स्वप्नसृष्टिप्रलयवदपारमार्थिकमपि वासनादार्ढ्याद् व्यवहारक्षममिति न मायिकत्वेऽपि तुच्छत्वप्रसंग:। यथा चैतत् तथा व्यक्तं आकरे।" 'आकर' का अर्थ 'शांकर मत' है। —सिद्धान्तबिन्दु, पृ० १४८

२४. "तम: प्रधान विक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोरग्नि रग्नेरापोऽद्भ्य: पृथिवी चोत्पद्यते, तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाश: संभूत इत्यादिश्रुते:।" —वेदान्तसार, पृ० २८

२५. 'दृग्दृश्य-विवेक' श्लोक ३०

२६. 'Indian Philosophy' by Radha Krishnan, Vol. II, p. 583

२७. भारतीयदर्शन की रूपरेखा (प्रो० हिरियन्ना), पृ० ३६९

२८. वही, पृ० ३७०

२९. वही, (सर्वार्थसिद्धि, तत्वमुक्ताकलापसहित ४-२०)

३०. "भिद्यते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्वसंशया:।" —मुण्डक उ० २-२-८

३१. यन्नादौ यच्चनास्त्यन्ते तन्मध्ये भातमप्यसत्।
अतो मिथ्याजगत्सर्वमिति वेदान्तडिण्डिम:॥
—नृसिंह सरस्वतीकृत वेदान्त-डिण्डिम

* "जो कुछ था सोइ भया अब कछु कह्या न जाइ।" —सन्तकाव्य, पृ० १६६

३२. संसारः स्वप्न तुल्यो हि रागद्वेषादिसंकुलः।
स्वकाले सत्यवद् भाति प्रबोधेऽसत्यवद् भवेत् ॥
—शंकरकृत आत्मबोध, श्लोक ६

३३. जडत्वहेतो र्न जगन्महिम्ना, न चिन्महिम्ना तदसंगभावात्।
न च प्रमाणाज्जगतः प्रसिद्धिः, स्वतोऽस्य मायामयता प्रसिद्धिः ॥
—सर्वज्ञात्म-मुनिकृत 'संक्षेप शारीरक'

३४. "अप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिश्वासवत्।"
—Shankara's Works (Memorial edition) Vol. I, p. 13

३५. मुस्लिम या इसाई खुदा की तरह एक बार ही सदा के लिए सृष्टि-रचना नहीं करता है।

३६. "तदेव च ईश्वरस्य फलहेतुत्वं यत् स्वकर्मानुरूपाः प्रजाः सृजति।"
—Ibid, Vol. III, p. 614

३७. ईश्वरस्तु पर्जन्यवद् द्रष्टव्यः।"
—Ibid, Vol. II, p. 342

३८. "परांचि खानि व्यतृणत्स्वयंभू स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।"
—कठोपनिषद् २-१-१

३९. "मिथ्याभिमान निमित्त एव दुःखानुभव।"
—Advait Vedant, by M. K. Venkat Iyer, p. 92

४०. "नहि आकस्मिकी कस्यचिद् उत्पत्तिः संभवति।"
—वही (शंकर की उक्ति), पृ० ६५

४१. नायं व्यवहाराभावोऽवस्थाविशेषोपनिबद्धोऽभिधीयते।"
—ब्र० सू० शां० भा० २-१-१४

४२. ऋग्वेद (नासदीय सूक्त), मं० १०, सू० १२६, मन्त्र १, २

४३. कबीर ग्रन्थावली, पृ० २३८

४४. अनुरागसागर, पृ० १३, श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित कबीर दर्शन की द्वितीय मणिका।

४५. अच्छै पुरुष इक पेड़ है निरंजन वाकी डार।
तिरदेवा साखा भये पात भया संसार॥ —सन्तबानी संग्रह, पृ० २३
तथा "एक बिरख यहु जगत उपायो" —कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२६
तथा तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिन फूलां फल लागा।
साखा पत्र नहिं कछू वाके अष्ट गगन मुख वागा॥
—वही, पृ० १४३

मिलाइये—"ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।"
—कठोपनिषद् २-३-१

४६. वेद ही बरनि कै जगत तरु ठाढो कियो, अंत सुनिवेद अर भूलतै उठायो है।
तैसेहि सुन्दर याको कोऊ एक पावै भेद,
जगत को नाम सुनि जगत भुलायो है ।।
—सुन्दरदर्शन (टी० एन० दीक्षित लिखित), पृ० २२६

४७. वही

४८. वही, पृ० २२७

४९. वही, पृ० २२८

५०. विना किसी वास्तवता के आभासित होने वाला विकार विवर्त है—
"अतत्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः" —वेदान्तसार, पृ० ४७

५१. "कारणस्य एव संस्थानमात्रं कार्यम्" —ब्र० सू० शां० भा० २-२-१७
और देखिये—"यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति, एवं कार्यमपि जगत् त्रिषु कालेषु न व्यभिचरति।" —वही २-१-१६

५२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४३

५३. सन्तसाहित्य, पृ० १२१

५४. सन्तबानी संग्रह-१, पृ० ७७

५५. सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ५९०

५६. डॉ० बड़थ्वाल 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', पृ० १८६

५७. कबीरमन्सूर (परमानन्ददास कृत), पृ० १११६ से आगे तक।

५८. 'सन्तकवि दरिया : एक अनुशीलन', पृ० ११४ से ११६ तक।

५९. "अपार संसार समुद्र मध्ये निमज्जतो मे शरणं किमस्ति", तथा दे० विवेक चूड़ामणि, श्लोक ४२

६०. 'ज्ञान स्वरोदय' चौपई ८८, ९०, ९१

६१. 'चरनदास' (डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित लिखित), पृ० ३२३

६२. वही, पृ० ३२५

६३. रामचरित मानस, पृ० ६१४, अरण्यकाण्ड, १४वाँ संस्करण (मझला साइज) गीता प्रेस गोरखपुर।

६४. "तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्" —मुण्डक १-१-७

६५. "सर्वं च नामरूपादि सदात्मनैव सत्यं विकारजातम् स्वतस्तु अनृतमेव।"
—छान्दोग्य शां० भा० ६-३-२

६६. "कहन सुनन को यहु जग कीन्हां, जग भुलान सो किनहूं चीन्हा।"
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २५५

६७. वही, पृ० २३३

६८. सन्तबानी, संग्रह-२, पृ० ५४

६६. बाजी झूठी बाजीगर सांचा, साधुन की मति ऐसी ।
कह कबीर जिन जैसी समझी, ताकी गति भई तैसी ॥
—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी—'कबीर' का परिशिष्ट, पृ० ३०७

७०. कल्याण (सन्तवाणी अंक ७, वर्ष २१, संख्या १, गीता प्रेस गोरखपुर), पृ० ४३३

७१. चर्पट पंजरिका स्तोत्रम् ।

७२. कल्याण (सन्तवाणी, अंक ७, वर्ष २६, संख्या ११), पृ० ४३०

७३. वही, पृ० ३६६

७४. वही, पृ० ३७८

७५. वही, पृ० २६१

७६. वही, पृ० २१०

७७. चिद्विलास, पृ० १२०

१०

ज्ञान

नोत्पद्यते विना ज्ञानं विचारेणान्य साधनैः।
यथा पदार्थभानं हि प्रकाशेन विना क्वचित् ।।[1]

आचार्यश्री के प्रस्तुत श्लोक का अर्थ समझने पर उनके ज्ञान-सम्बन्धी दृष्टिकोण का इस प्रकार पता चलता है कि जैसे वे विचार और ज्ञान को अलग-अलग मानते थे। ज्ञान है वस्तु का साक्षात् बोध या उपलब्धि। प्रमाणतः उपनिषदों के उस कथन को लिया जा सकता है जिसमें ब्रह्म को जानने का अर्थ ब्रह्म को पा लेना या तद्रूप हो जाना है।[2] ज्ञान यानी तत्त्व की उसके संश्लिष्टरूप में साक्षात् स्वीकृति, जिसमें वस्तु का सर्वांगीण बोध हो जाता है। सवरूप में जान लेने के बाद फिर संघर्ष शान्त हो जाता है जैसे लकड़ियाँ जलने के बाद धूम-रहित होकर अंगार बनकर दहकने लगती हैं, ज्वालाओं की लपलपाहट, जलने की चट-चट बन्द हो जाती है ऐसे ही ज्ञानी व्यक्ति का संघर्ष क्षीण हो जाता है, स्वरूप में स्थित होकर वह वस्तुओं को उनके सही मूल्यों-सहित जान लेता है। पाने की इच्छा बुझने लगती है। वह सबका हो जाता है। यही उसकी ब्राह्मी स्थिति है जिसे पाने के बाद वह साधारणजन की तरह मोहित नहीं होता। संसार उसके लिए बन्धन नहीं रहता।[3]

आगे पाँच श्लोकों में शंकर ने विचार का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि मैं कौन हूँ? यह जगत् कैसे बना? इसका कर्त्ता कौन है? इसके बनाने की सामग्री क्या रही होगी? इस तरह के प्रश्नों द्वारा पहले स्वयं को उत्तेजित करना विचार की एक प्रक्रिया है। विचार की दूसरी प्रक्रिया में साधक कुछ एक निष्कर्षों को अपनी बुद्धिवृत्ति पर चढ़ाकर उन्हें रूढ़ करता है, जैसे "मैं केवल पंचभूतों की रचनामात्र नहीं हूँ। मैं इन्द्रियों का समूह भी नहीं हूँ। मैं इनसे कुछ विलक्षण जरूर हूँ। जगत् की अनेकता केवल संकल्पों की भिन्नता है। वस्तुतः सब कुछ एक ही तत्त्व से बना होगा।"[4] वस्तुतः यही सारा साधक का बाह्य और आभ्यन्तर का संघर्ष है। ज्ञान तक पहुँचने की जो यातनाएँ उसे दिन-रात आकुल किए रहती

हैं वे सब विचार की प्रक्रिया के अन्तर्गत हैं। यहीं मुझे भक्त और विचारक की साधना में अन्तर आता लगता है। भक्त जहाँ "कभी तो दीन-दयाल के धुनक पड़ेगी कान" कहकर अपनी वेदना को शान्त कर लेता है, वहाँ कबीर अपने आप को जलते हुए अपने प्रश्नों के ज्वालामुखी के ऊपर फेंक देता है, और कभी कहता है कि "यह आठ पहर की जलन मुझसे नहीं सही जाती" और कभी अपने दर्द को यूँ कहता है कि—

सुखिया सब संसार जागै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर जागै अरु रोवै ॥[५]

यह 'जागना' कबीर की एक गहरी जिज्ञासा का प्रमाण है। सन्तों में विचार का संघर्ष कबीर का सबसे तीव्र है। विचार करना उन्हें जैसे विरासत में मिला है और एक दिन ज्ञानोपलब्धि हो जाने पर इस विरासत का वे गुण गाते हैं—

सोचत सोचत निकसियो नीरु।
सो जलु निर्मल कथत कबीरु ॥[६]

अपने आप विचार करने में तो उन्हें जैसे एक आनन्द मिलता था। कबीर की इस विचारसाधना के मुकाबले में नानक उतने आगे नहीं आते। वे तो "सोच्चयां सोच न होवसी जो सोच्चे लखवार" कहकर विचार की अपेक्षा नाम-स्मरण में ही अधिक विश्वास रखते लगते हैं। कबीर सम्प्रदाय में तो विचार की प्रवृत्ति पर अधिक बल दिया गया है।

अस्तु विचार की चर्चा ज्ञान के प्रसंग में करने का अर्थ यही है कि केवला-द्वैत में ज्ञान की प्राप्ति का मुख्य साधन विचार ही है। इस विचार से ही दर्शन का जन्म होता है।[७] दर्शन ढेरों प्रश्नों को जन्म देता है, और जन्म देकर हमें समाधानों के पास ले जाकर स्वतन्त्र छोड़ देता है। प्रश्नों का अर्थ है कि जीवन के सामान्य रट में बह रहे हमसे वह पहले छेड़छाड़ करता है। फिर अद्वैतदर्शन जीवन और जगत् की नश्वरता के प्रति विद्रोह करने के लिए प्रेरित करता है। जैसे कि नारद सनत्कुमार के सामने, और नचिकेता यम के सामने एक रट में बह रहे अपने शास्त्रज्ञान के प्रति एवं भोगमय जीवन के प्रति विद्रोह करते हैं। विचार और तर्क ने उन्हें बल दिया है कि वे अपने जीवन का फिर से किसी तत्त्वनिष्ठ व्यक्ति के सामने मूल्यांकन कराएँ।[८] यह तर्क की महत्ता है, कि वह हमें किसी एक पड़ाव पर रुके हुए देख नहीं सकता। तर्क या विचार इस दृष्टि से किसी एक वस्तु को परखने की महत्त्वपूर्ण विधि है। किन्तु अद्वैतसाधक को इस ओर से जरा सावधान रहना होता है। साधन की महत्ता पर मुग्ध होकर कहीं हम साध्य को ही खो बैठें तो यह इतनी दूर आने-जाने का एक श्रममात्र ही होगा। अतः अतिरिक्त तर्क का

अद्वैतवेदान्त में वर्जन कर दिया गया। और उसका उपयुक्त प्रयोग करने के लिए उसे दैवी ज्ञान यानी वेद की आज्ञा में नियुक्त कर दिया। उपनिषदों ने तो बहुत पहले ही तर्क-मात्र के प्रति मोहित होने वाली मानवी दुर्बलता को परखकर कहा था कि "यह तर्क तुम्हारे प्रश्नों का अन्तिम समाधान नहीं हो सकता।"[९] विचार कोरा बुद्धि का खेल है। बुद्धि का अपने विचाररूप हाथ से उस परतत्त्व को छूना ऐसा ही है जैसे कोई बौना ऊँचे पेड़ के फल को छूने का विफल प्रयास कर रहा हो। इसी प्रसंग में कबीर ने कहा होगा—

"वो है तैसा वो ही जाने।"[१०]

और नानक ने कहा—

"सोच्यां सोचन होवसी जो सोचे लखबार।"[११]

इस प्रकार केवलाद्वैत ने तर्क अथवा विचार को मर्यादित करके उसे उसके उपयोगी रूप में पूर्णतः ग्रस्ण ही नहीं किया, उसे उचित प्रतिष्ठा भी दी। इसी आधार पर भारतीय आस्तिकदर्शन की स्थापना हुई थी कि हमें पहले श्रुतिवचनों से बातों को सुनना चाहिए। फिर उन प्रश्नों पर अपनी मानसिक योग्यतानुसार मनन करना चाहिए। मनन करने के बाद फिर जानना ही जानना होता है। अद्वैतवेदान्त ने इसी बात को सूत्र रूप में कहा 'श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः' निदिध्यासन तक जितना संघर्ष जिज्ञासु को करना पड़ता है वह ऐसा महान् पुरुषार्थ है जिसकी तुलना में जगत् के क्षुद्र, नश्वर भोगों के प्रति किए गए हमारे दुर्दान्त प्रयास नगण्य हैं। लोग शांकर वेदान्त पर कर्मत्याग का आरोप यहीं लगाते हैं। समझने का फेर है। शांकर वेदान्त केवल उन्हीं कर्मों को मान्यता देता है जो ज्ञानोपलब्धि में कारण है। भोगों के संचय के प्रति किए कर्मों को वह इसलिए मान्यता नहीं देता क्योंकि वे वास्तव आत्मश्रेय की ओर हमें अग्रसर नहीं करते। सत्य को कहना दर्शन की ईमानदारी है। इसी दार्शनिक सत्य की ओर संकेत करते हुए अरविन्द कहते हैं कि "दार्शनिकों का ज्ञान ऐहिक जीवन के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है, और वह यही है कि जगत् से ये सब बाह्य पदार्थ क्षणभंगुर हैं, जगत् के ये सारे भेद-प्रभेद निरर्थक हैं, और आन्तरित स्थिरता, शान्ति, ज्योति और आत्मनिर्भरता ही श्रेय है।"[१२]

विचार और ज्ञान में मुझे जो एक महत्त्वपूर्ण अन्तर दिखाई देता है वह यह कि विचार अकलुष सात्विकी बुद्धि का परिणाम है अतः बुद्धिगत होने से वह स्वप्रकाश है ही नहीं। उसका परतःप्रामाण्य ही सिद्ध होता है। भारतीय दर्शन में न्याय-वैशेषिक इसी विचारमात्र को ज्ञान मानते रहे हैं। दूसरी ओर अद्वैतवेदान्ती विचार से परे आत्म में ज्ञान की स्थिति मानते हैं। वैसे वेदान्तानुसार प्रत्येक प्रकार के बोध का आधार आत्मा ही है। किन्तु तो भी ज्ञान पर है, जबकि बौद्धिक-

चिन्तन अवर है। महत्त्व दोनों का है। डॉ० राधाकृष्णन् का कथन है कि "क्योंकि विचार देशकालाश्रित सम्बन्धों के ऊपर आश्रित है और इसलिए वह सम्बन्धविहीन परमसत्ता को ग्रहण नहीं कर सकता। किन्तु इस पृथ्वी पर ऐसा एक भी पदार्थ नहीं जो देश एवं काल में अवस्थित होकर उस परमसत्ता को अभिव्यक्त न करता हो। कोई भी ज्ञान नितान्त असत्य नहीं, यद्यपि नितान्त सत्य भी कोई ज्ञान नहीं।"[१३]

शांकर वेदान्त शतप्रतिशत रूप से औपनिषद् तत्त्वज्ञान की युगानुरूप व्याख्या रहा है। उपनिषदों का यह मूल मन्तव्य रहा है कि विषयी आत्मा का भला विषय रूप में कैसे बोध हो सकता है। जिसका चिन्तन मन और बुद्धि कर ही नहीं सकते क्योंकि उसकी प्रेरणा से तो मन के अन्दर सोचने अथवा संकल्प करने की शक्ति आती है अतः उसका मनन या चिन्तन कैसे किया जा सकता है।[१४] इस आत्मज्ञान के लिए कहीं कोई बड़े-बड़े प्रयत्नों की अपेक्षा, या बड़े-बड़े बौद्धिक व्यायामों या शास्त्र चर्चाओं की अपेक्षा नहीं। अपेक्षा तो सिर्फ इतनी है कि किसी तरह आत्म और अनात्म को एकमेक कर देने वाली अपनी भ्रान्ति को दूर कर लिया जाए। उपनिषद् साफ-साफ कहते हैं कि यह आत्मा का बोध बड़े-बड़े प्रवचनों, तीव्र-बुद्धियों या चिह्न-धारणा करने से प्राप्य नहीं वह तो आभ्यन्तर प्रकाश के क्षणों में उपलभ्य है। यही निष्प्रतिध साक्षीचेतना का ज्ञान है जिसे वेदान्त में 'प्रतिबोधविदित' कहा जाता है।[१५] किन्तु उपनिषदों के कहने का यह अर्थ हम नहीं कर सकते कि विचार ज्ञानी की दृष्टि में हेय हो जाता है। वस्तुतः बुद्धि द्वारा प्राप्त यथार्थसत्ता का विवरण असत्य नहीं है। बुद्धि वहीं असफल होती है जहाँ वह परमसत्ता को उसके पूर्णरूप में ग्रहण करने का प्रयत्न करती है।[१६]

बुद्धि की इन्हीं सीमाओं को देखकर अद्वैतवेदान्तियों ने तर्क की बजाए अन्तर्ज्ञान पर और वैज्ञानिकता के स्थान पर संश्लिष्ट अनुभूति जिसे स्व-संवेद्य कहा गया है पर जोर दिया है।

वेदान्त के पूर्वोक्त चिन्तन को पूर्वग्रहों से मुक्त होकर यदि सन्तों के चिन्तन में देखें तो यही स्पष्ट होगा कि सन्त भी अतिरिक्त बुद्धिवादिता से घबराते थे। ऐसी बात नहीं कि सत्संग से उन्होंने इतना कुछ सीखा तो अपने ढंग से उन्हें सोचना नहीं आता था। किन्तु वे इस बात को जानते थे कि कोरा शास्त्रज्ञान पथभ्रष्टता कौ संकीर्णता को जन्म देता है।[१७] अकल के बड़े-बड़े सींगों से एक-दूसरे को घायल करने वाले लोगों को उन्होंने देखा था। उनके सींगों से डरकर शास्त्र भी उनके पक्ष में अपना अर्थ दे देता था। अतः ऐसे वेदान्त को जानने से वे अजान रहने में ही हित समझते थे। आचार्य श्री की यह बात उनकी वाणी में भी कई जगह आक्रोश बनकर फूटी है "कि चाहे तो चरणों से समुद्र लाँघ लो, चाहे प्राण को देह में स्तम्भित कर लो, चाहे तो मेरुपहाड़ को हाथ पर उठा लो, किन्तु आत्म-

साक्षात्कारी ज्ञान के बिना यह एकदम तुच्छ है"।[१८]

केवलाद्वैती ज्ञान को सर्वोच्च मानते हैं। उनकी यह प्रसिद्ध घोषणा है कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती।[१९] जैसे स्वप्न से परेशान व्यक्ति स्वयं जागने पर ही स्वप्न से मुक्त होता है, ऐसे ही ब्रह्मतत्त्व को स्वयं जानकर ही साधक मुक्त होता है।[२०] उपनिषद् कहते हैं उस परमतत्त्व को जाने बिना मौत से छुटकारा पाने का कोई रास्ता ही नहीं।[२१] संसारबंधन की निवृत्ति या मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान ही साधन है। ज्ञान के अतिरिक्त सकाम कर्म आदि का इसमें कोई भी उपयोग नहीं।[२२] फिर ज्ञान का अर्थ यहाँ आत्मज्ञान ही हो सकता है। आत्मज्ञान से भिन्न सभी ज्ञान ज्ञानाभासमात्र हैं। क्योंकि उनसे सारतत्त्व का कोई पता नहीं चलता।[२३] आत्मज्ञान का अर्थ यही है कि उससे फिर जन्म-मरण से मुक्ति मिलती है, क्योंकि चेतन और जड़ की ग्रन्थि का विच्छेद ही ज्ञान है।[२४] ज्ञान के प्रति वेदान्त की इस दृढ़ निष्ठा पर परवर्ती भक्त आचार्यों ने कई तरह के आक्षेप किए हैं, जो उनकी ऐकान्तिक पक्षपात पूर्ण दृष्टि का फल भी हैं। यथास्थान उसकी चर्चा हम करेंगे।

चिन्तन के उदात्ततम स्वरूपों की कल्पना करने वाले विश्वदर्शनों में अद्वैत-वेदान्त का अन्यतम स्थान है। अन्य धार्मिक प्रणालियों की तरह इसमें किसी ऐकान्तिक अन्धकर्मनिष्ठा, भावुकता एवं व्यक्ति की समाज के सम्मुख अवहेलना आदि नहीं है। बाह्य धर्माचरणों की अपेक्षा इसमें अनुभवज्ञान पर ही सारा जोर है। डॉ० राधाकृष्णन् ने विश्वधर्मों की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए हिन्दूधर्म और बौद्धधर्म की इन विशेषताओं का सराहनीय ढंग से उल्लेख किया है। "बुद्ध ने जिस 'बोधि' (एनलाइनटनमेण्ट) को प्राप्त किया और जिसे उनके अनुयायियों ने प्राप्त करने की चेष्टा की, एक अनुभूतज्ञान (एक्सपीरियेंस) ही है। संबोधि (परि-पूर्णअन्तर्दृष्टि) बौद्धधर्म के अष्टांगमार्ग का लक्ष्य एवं उद्देश्य है।"[२५] किन्तु बुद्ध के बाद दुर्भाग्य से अनुभवज्ञान की अपेक्षा तर्कज्ञान पर अधिक बल दिया जाने लगा जिसके परिणामस्वरूप बौद्धन्याय और महायानी बुद्धोपासना का ही अधिकतर प्रचार हुआ।

किन्तु मूलतः हिन्दू और बौद्ध दार्शनिक इस बात में एकमत रहे हैं कि जीवन में उठने वाली समस्त पीड़ाओं का मूलस्रोत मानव का अपना अज्ञान ही है। इस अज्ञान से हमारे भ्रान्त कर्मों का प्रसव होता है, जिनसे हम जन्ममरण के समस्त दुखों को झेलते हैं। इसी को ईशोपनिषद् में अविद्या कहा है जिससे समस्त यातनाएँ उठती हैं। अविद्या के इसी झगड़े से समझौता न करने वाली विद्या है। अन्धकार और प्रकाश के समान दोनों के विपरीत धर्म हैं। अविद्या जीव को बहि-र्मुख करके हिंसित करती है जबकि विद्या जीव को अन्दर अपने स्वरूप की ओर लौटाकर अमृतत्त्व प्रदान करती है। इस अविद्या का ध्वंस करने वाली "विद्या वह

बौद्धिकज्ञान है जो मनुष्य में आत्मचेतना और आत्मनिग्रह उत्पन्न करता है।"[२६]

वैसे हमारे यहाँ गीता में अविद्याविरोधी दो निष्ठाओं की चर्चा की गई है। एक ज्ञानयोग और दूसरा कर्मयोग।[२७] कुछ तांत्रिक प्रभावों के परिणामस्वरूप पृथक् से भावयोग या उपासनायोग को भी बाद में भक्ताचार्यों ने माना है। आचार्य शंकर ने गीता का ज्ञानयोगपरक अर्थ ही लिया है। कर्म द्वारा जनक आदियों की संसिद्धि की बात को उन्होंने ज्ञानयोग के साधन के रूप में किया है। आचार्य कहते हैं कि यदि वे जनक आदि यथार्थ ज्ञान पा चुके थे तब तो वे प्रारब्धकर्मा होने के कारण लोकसंग्रह के लिए कर्म करते हुए ही बिना संन्यास लिए परमसिद्धि को प्राप्त हुए, और यदि वे परमतत्त्व को प्राप्त नहीं थे तो वे अन्तःकरण की शुद्धि के साधनरूप कर्मों से क्रमशः परमसिद्धि को प्राप्त हुए।[२८]

ज्ञान प्राप्ति के साधन

ज्ञानप्राप्ति के साधनों की आचार्यों ने क्रमशः चर्चा की है। उनमें से अद्वैतवेदान्ती कर्म को ज्ञानप्राप्ति में अत्यन्त सहायक मानते हैं। आचार्य के प्रसिद्ध शिष्य सुरेश्वर ने तर्क देते हुए कहा कि समस्त कर्मों के फल अन्ततः विकृति को प्राप्त होते हैं। किन्तु मुक्ति एक अविनाशी फल होने से कर्म का फल नहीं हो सकती।[२९] मुक्ति का साधन कर्म नहीं हो सकता क्योंकि आचार्य ने पहले ही कर्म और ज्ञान की प्रक्रिया में आकाश-पाताल का अन्तर देखा था।[३०] कर्म किसी भी तरह मुक्ति का साधन नहीं हो सकता।

केवलाद्वैत ने पहली बार ज्ञान और कर्म के पर्वत के समान अडिग विरोध की घोषणा की थी। यह ठीक है कि उपनिषदों में कर्मकाण्ड की क्रियाओं के प्रति तथा बौद्धदर्शन में भी यज्ञादि कर्मों के प्रति अनास्था प्रकट की थी, परन्तु परमार्थ में राजस, तामस, सात्विक सभी प्रकार के कर्मों को बन्धनरूप मानकर उन्हें मुक्ति जैसी महती उपलब्धि में पूर्णतः अक्षम आचार्य शंकर ने घोषित किया था।[३१] कर्मों को विकट बन्धनरूप मानने में निर्गुणिया सन्त बिल्कुल उनके साथ लगते हैं। कर्मों के अनुसार होने वाले फलों की अनित्यता एवं जन्ममरण में उनकी हेतुता को वे अच्छी तरह जान चुके थे। सन्त तुलसी ने कहा था कि "कर्म आस की वास में जोनी जोनी समाय", तथा यह भी कहा था कि मनुष्य के पुण्योदय के क्षीण हो जाने पर फिर मर्त्यलोक में कर्मी मनुष्य को आना पड़ता है।[३२] अतः कर्मनाश से ही ज्ञानी को समस्त पापपुण्य नष्ट होकर मोक्ष की प्राप्ति होगी ऐसा सन्तों का दृढ़ विश्वास था। सन्त कहते हैं—

"दरसन पाये करम नसाये।
पाप पुन्न सब छार भई॥"[३३]

कबीर कहते हैं कि यह जीव कर्मपाश में ही बँधकर दिन-रात आवागमन में फँसा रहता है।[३४] इसी कर्म के कारण भ्रमजाल बढ़ता चला जाता है तथा ब्रह्म से मिलन नहीं हो पाता। चरणदास कहते हैं कि यदि यह कर्म किसी तरह जीव से छूट जाए तो वह मुक्त ही मुक्त है।[३५] अतः कर्मों को भ्रमरूप मानकर सन्त उन्हें सर्वथा बहा देने के पक्ष में हैं।[३६] किसी प्रकार का भी मुक्ति के साधनरूप में कर्मों से कोई समझौता उन्हें सहनीय नहीं। मुक्ति तो सहज चैतन्य के उन्मेष का दिव्य फल है। किन्तु ज्ञानप्राप्ति का साधन कर्म को माना जा सकता है। क्योंकि साधक का आन्तर कालुष्य जो उसके स्थूल मन पर चढ़ा रहता है वह तो पवित्र कर्मों द्वारा ही धुल पाएगा। अतः आचार्य ने भी पहले कर्म से चित्तशुद्धि की बात का समर्थन किया है। वे मानते हैं कि नित्यकर्मों द्वारा मन में निष्कामता आ जाती है तथा चित्त का संस्कार होता है। चित्त के संस्कार और शोधन के परिणामस्वरूप ही चित्त आत्मालोचन योग्य बनता है।[३७] इस प्रकार नित्यकर्मों के द्वारा काम्यकर्मों के हट जाने से ज्ञानोत्पत्ति के द्वारा कर्म मोक्षसाधक हो सकते हैं।[३८] वस्तुतः हमें वेदान्तसाधना में कर्म का एक सुनिश्चित नैतिक महत्व आंककर चलना चाहिए। व्यवहारकोटि में समस्त ज्ञानोपयोगी कर्मों का विधान बार-बार किया गया है। इन्हीं साधनाओं के फलस्वरूप मुमुक्षु में अपरोक्षज्ञान का उदय होता है। वेदान्तियों की साधनाचतुष्टय और षट्सम्पत्ति की साधना कर्मों के परिमार्जित रूप को स्वीकृति देना ही है न कि उनका निषेध करना।

भगवद्गीता में जोर देकर एक बात कही गई है कि समस्त कर्मों की परिणति ज्ञान में जाकर होती है।[३६] अरविन्द इसी बात के संकेतार्थ की ओर अग्रसर होते हुए भगवद्गीता की ज्ञानपरक व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'ज्ञानाग्निदग्ध सर्वकर्माणि' का यह अभिप्राय जरा भी नहीं कि जब पूर्णज्ञान होता है तब कर्म बन्द हो जाते हैं। इसका वास्तविक अभिप्राय इस श्लोक से स्पष्ट होता है—

"योगसन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥"[४०]

यदि वेदान्त का प्रयोजन कर्ममात्र से पलायन होता तो उसमें नैतिक अनैतिक का अन्तर उपेक्षित हो जाता। किन्तु जैसे कि आगे हम वेदान्त की नैतिक मान्यताओं को स्पष्ट करेंगे, वेदान्त में नैतिक आचरण को मौलिक स्वीकृति दी गई है। आचार्य विद्यारण्य तो यहाँ तक कहते हैं कि यदि ज्ञानी के कर्म भी अज्ञानी के समान विषयभोगों का सेवन ही होंगे, तो तत्त्वज्ञानियों और मलभक्षी कुत्तों में अन्तर क्या रह जाएगा।[४१]

अद्वैतवेदान्त के पारिभाषिक ग्रन्थों में भी ज्ञानोदय के हेतु पवित्र कर्म माने ही गए हैं। इन कर्मों का अनुष्ठान अद्वैती यज्ञ, तप, दान आदि के रूप में करते

हैं। फिर कर्मों के प्रति आसक्ति के क्षीण हो जाने से ज्ञान प्रवृत्त होता है।[४२]

ब्रह्म प्राप्ति के कुछ अन्य साधन

श्री अप्पयदीक्षित ने भारतीय दर्शनों के ब्रह्म-प्राप्ति विषयक कुछ एक मतों का संक्षेप देते हुए लिखा है कि कुछ लोग मन को ही आत्मदर्शन का कारण मानते हैं कुछ लोग बुद्धिवृत्ति को, तथा दूसरे शब्द को ब्रह्म साक्षात्कार का परम-कारण मानते हैं।[४३] कुछ दूसरे अद्वैती उपनिषदों के वाक्यों एवं महावाक्यों द्वारा ही ब्रह्म का साक्षात् होना मान लेते हैं।[४४] किन्तु आचार्य शंकर ने स्वयं भी और उनके शिष्यों ने भी ज्ञान को ही एकमात्र ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण माना है। सभी मतों में एक क्रम एवं समन्विति स्थापित करते हुए वाचस्पतिमिश्र कहते हैं कि मुमुक्षु द्वारा वेदज्ञान से जीवात्मा और परमात्मभाव की बात समझ ली जाने पर कर्म, उपासना, शाब्द ज्ञान सभी मिलकर अविद्यानाश के कारण हैं।[४५] आचार्य सुरेश्वर शाब्दज्ञान से अपरोक्षज्ञान का उदय तथा अपरोक्षज्ञान से ब्रह्मसाक्षात्कार का होना मानते हैं।[४६]

कबीर साहित्य के मर्मज्ञ विचारदास ने इसी दिशा में अद्वैतवेदान्त और हिन्दी सन्तों में अधिकतर साम्य देखकर कहा कि विचार के द्वारा ही निजरूप का भान होता है श्रुति का वचन है—

> **तस्मादेवंवित् शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येव आत्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति।"[४७]**

आगे वे कहते हैं कि अविचार से प्राप्त बन्धन की निवृत्ति विचार से ही होती है। यह दूसरी बात है कि जो विचार न कर सके वह उपासना में लग जाए।[४८]

ज्ञान का अन्तिम रूप

आत्मसाक्षात्कार देने वाला ज्ञान क्योंकि बौद्धिक ज्ञान से उच्चतर कोटि का है, अतः वह बौद्धिक ज्ञान की तरह उद्धत, विघटनशील नहीं बल्कि श्रद्धा[४९] के जल से सुसिक्त संश्लिष्ट अपने स्वरूप में नियुक्त कर देता है। इस ज्ञान की निर्मलता, पारदर्शिता के बारे में अरविन्द कहते हैं—

> "हमारी अधः-सत्ता के कलमष ज्ञान के जल से धुल जाते हैं (ज्ञाननिर्धूत कलमषाः)। ऋग्वेद में सत्य—(ज्ञान) स्रोत इन धाराओं का वर्णन है। ये सिद्धज्ञान की धाराएँ हैं, दिव्य सूर्यालोक से परिपूर्ण है, 'ऋतस्य धाराः, आपो-विचेतसः, स्वर्वतिरापः।"[५०]

यह ज्ञान अतीन्द्रिय है। अतः यह ज्ञान उदय होने के बाद किन्ही बाह्य उपकरणों के ऊपर निर्भर नहीं करता बल्कि प्रमेय के आत्माश्रित होकर ही रहता

है। इसी में साधक की अपरोक्षानुभूति हो पाती है—कि "वह ब्रह्म ही है, सम है, शान्त है, सच्चिदानन्दस्वरूप है, मिथ्या देह रूप वह नहीं। यही वास्तव ज्ञान है।[५१] इस ज्ञान में आत्म का साक्षात्कार एकदम तात्कालिक होता है और समस्त भेदों के परे आत्माद्वैत की अनुभूति होती है। इस अवस्था में समस्त संकल्पों के केन्द्र चित्त का पूर्णनाश होता है। मधुसूदन सरस्वती योगवासिष्ठ का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि योग और ज्ञान से ही चित्तनाश होता है। यह ज्ञान ब्रह्म के चिन्तन, कथन तथा आत्म-प्रबोधन के सतत अभ्यास का फल है जिससे समस्त कर्म ज्ञानी योगी को स्वयं छोड़ जाते हैं।[५२]

हिन्दी साहित्य में सन्त कबीर को ज्ञानाश्रयी शाखा का प्रवर्तक माना जाता रहा है। ज्ञान की उनके मन में जो रूपरेखाएँ उभरती हैं वे सभी केवलाद्वैती परम्परा की स्वीकृतियाँ हैं। वे मानवीय ज्ञान की सार्थकता इसी में मानते हैं कि ब्रह्म को जान लिया जाए। अन्यथा ज्ञान के धोखे में सब अज्ञान ही है—

जे वो एकै जांणियां, तो जाण्यां सब जांण।
जे वो एक न जाणियां, तो सब ही जाण अजाण।।[५३]

उस एक को जानने की धुन में सन्तों ने बाह्यलोकाचारपरक समस्त ज्ञानों को तो झूठा कहा, किन्तु बाहरी समस्त पूजन अर्चन को भी ज्ञान के सम्मुख हेय ठहराया। बाह्य आरती की बजाए ज्ञान-आरती का विधान किया—

ऐसी आरती त्रिभुवन तारै।
तेजपुंज तहां प्रान उतारै।।
पाती पंच पहुप करि पूजा, देव निरंजन और न दूजा।
तन, मन, सीस, समरपन कीन्हा, प्रगट जोति तहं आतमलीना।।
दीपग ग्यान सबद धुनि घंटा परमपुरिख तहां देव अनन्ता।
परमप्रकास सकल उजियारा, कहै कबीर मैं दास तुम्हारा।।[५४]

मनुष्य चारों तरफ अज्ञान से घिरा हुआ है। जगत् की समस्त नश्वरताओं से उसका सम्मोह केवल मन के षड्यन्त्रों का परिणाम है। सन्त कहते हैं कि जब तक मन में जाति, कुल, देह का अभिमान है, मन निर्मल नहीं तब तक संसार उसे घेरे रहता है। इन सांसारिक भ्रमों का ब्रह्माग्नि द्वारा दाह किया जाता है। यह ब्रह्माग्नि ज्ञान-रूप है। और यह ज्ञान किसी भी तरह ब्रह्म से कम नहीं।[५५] इस प्रसंग में एक बात और ध्यान देने योग्य है, कि सन्त ज्ञान के प्रसंग में सधे हुए अद्वैतियों की तरह ही भ्रम का विश्लेषण करते हैं और उसी पद्धति से उसके निवृत्तिकारक ज्ञान की चर्चा करते हैं। दादूदयाल इस ब्रह्मानुभव के स्वरूप को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म और आत्मा की निर्मलता का प्रत्यक् बोध ही विचार का ध्येय है—

दादू जल में गगन, गगन में जल है, फुनि वे गगन निराल।
ब्रह्म जीव इंहि विधि रहै, ऐसा भेद विचार ॥[५६]

'विचार को अंग' प्रकरण में दादू की ज्ञान के प्रति महती आस्था प्रकट हुई है। वे मानते हैं कि सारा संसार सुख के पीछे दौड़ रहा है। पर सुखी कोई नहीं है। बड़े-बड़े कर्मठ एवं आचारनिष्ठ साधन करने वाले भी विचार के अभाव में सुख नहीं पा सकते। हमारे समस्त अविद्याकृत दुखों का उपचार एक ही है और वह है विचार एवं चिन्तन। विचार से ही अद्वैत का नाश होता है। इसी से वे एक ओर कहते हैं—

दादू सबहीं व्याधि की, औषधि एक विचार।
समझे थें सुख पाइये, कोई कुछ कहो गंवार ॥[५७]

इस विचार के वे इतने दिवाने हैं कि सभी धर्मशास्त्रियों आचारवादियों की उपलब्धियों को भी इस ज्ञान के सम्मुख तुच्छ मानते हैं—

दादू कोटि अचारिन एक विचारी, तऊ न सरमरि होइ।
आचारी सब जग भरया, विचारी विरला कोई ॥[५८]

यह एक बहुत ही महत्त्व की एवं निर्भय वाणी द्वारा सन्तों में ज्ञान का सर्वोच्च जयघोष है। बड़े-बड़े जप, तप, अनुष्ठानों के पीछे एकमात्र परम्परा का अन्ध अनुकरण रहता है। परम्परा के इस प्रवाह में पतित साधक की समस्त साधनाएँ लोकसापेक्ष ही होकर रह जाती हैं किन्तु ज्ञान की राह ऐसी है जहाँ व्यक्ति का अपना निरपेक्ष पूर्ण विकास सम्भव हो पाता है। वह एकमात्र परम्परा का अन्धानुयायी न होकर मुक्त होकर जीता है। दादू कहते हैं कि निरंजन परमात्मा स्वभावतः जीव में विद्यमान है, पर मनुष्य का मन उसमें नहीं लगता है। विचार से मनुष्य संसार से पृथक् होकर परमात्मा से मिलता है।[५९] वस्तुतः अपनी ही उलझन के कारण हमें सारा कुछ उलझा-उलझा-सा प्रतीत होता है गुरु के दिए ज्ञान अथवा विचार से जब 'आपा' सुलझ जाता है तो सब कुछ सुलझ जाता है। इस सुलझन के बाद न मन न इन्द्रियाँ फिर किसी अनपेक्षित कार्य-व्यापार में या प्रपंच में नहीं फँसती।[६०]

ज्ञान के प्रसंग में सन्तकाव्य में एक और विचारणीय बात है कि सन्त इस ज्ञान का उत्पत्ति स्थान हृदय मानते हैं। सन्तों के कथन 'हिरदय देखु बिचारि' से ऐसा लगता है कि सन्तों का भी ज्ञान के प्रति दृष्टिकोण यही था कि ज्ञान में ब्रह्म का एक संश्लिष्ट अनुभव होता है। हृदय में उत्पन्न ज्ञान में कोरी बौद्धिकता जो सत्य को बिखेर देती है नहीं हो सकती। अमृत की सरसता और माधुर्य अन्तर्दृष्टिजन्य ज्ञान में ही सम्भव है। ऐसे ही ज्ञान की अनन्त महत्ता का बखान करते

हुए सुन्दरदास कहते हैं—

सुन्दर ज्ञान-समुद्र की महिमा कहिये कौन।
अमृत-रस सों है भरयो, तम जिनि जानहु लौन ॥[६१]

वे ज्ञान जो आत्मा की ओर उन्मुख नहीं करते वे बहुमुखी बुद्धि के भ्रम-जाल हैं। उपनिषदों ने इस प्रकार के ज्ञानों को वाणी का विग्लापन कहा था। इसलिए सन्त वाणी के इस उलझाने वाले रूप से बचकर चलने के लिए कहते हैं। विचार के अनेक रास्ते हैं पर हमें केवल मोक्षोपयोगी ज्ञान को ही मान्यता देनी है—

बानी बहुत प्रकार है, ताको नाहिन अन्त।
जोई अपने काम की, सोई सुनिय सिद्धन्त ॥[६२]

आचार्य शंकर ने जैसे कर्म और भक्ति को ज्ञान के सहायक साधन माना था इसी प्रकार कुछ एक सन्तों ने भी ज्ञान की सर्वोपरि प्रतिष्ठा की। और यह भी माना कि सत्कर्मों द्वारा निषिद्धकर्मों का परित्याग होने से निर्मल चित्त में भक्ति उपजती है और भक्ति के परिणामस्वरूप अद्वैतज्ञान प्रकट होता है। सुन्दरदास ने इस विषय में अपने अद्वैतचिन्तन का शास्त्रीय पक्ष प्रकट करते हुए कहा है—

कर्म पत्र करि जानिये, मन्त्र पुष्प पहिचानि।
अन्त ज्ञान फलरूप है, कांड तीन यों जानि ॥
× × ×
यों सतकर्मनि कौं कहें, निषिध छुडावन काज।
× × ×
जो शुभ कर्मनि कौं करै, तजे काम आसक्ति।
सकल समर्प्यं ईश्वरहिं, तबहिं उपजै भक्ति ॥
पीछे बाधा कछु नहिं, प्रेम मगन जब होई।
नवधाऊ तब तकि रहे, सुधि बुधि रहे न कोई ॥
तब ही प्रगटै ज्ञान-फल, समझै अपनों रूप।
चिदानन्द चैतन्यघन, व्यापक ब्रह्म अनूप ॥[६३]

ज्ञानोदय हो जाने पर सन्त को जब आत्मसाक्षात्कार होता है तो उस प्रकाश में उसे अपने कर्तृत्व और कर्म दोनों ही नष्ट होते नजर आते हैं—

साधु भाइ अपना रूप जब देखा।
करता कौन-कौन फुनि करनी, कौन मांगेगो लेखा ॥[६४]

किन्तु यह आलोक प्राप्ति सब प्रकार से ज्ञानाधीन है। सन्तों ने अपनी इस

ज्ञानदशा को विभिन्न रूपों में व्यक्त किया है इस ज्ञान के परिणामस्वरूप होने वाले ब्रह्मात्मैक्य को सन्तों ने विभिन्न प्रतीकों द्वारा व्यंजित किया है—सन्त आनन्दधन की ज्ञानानुभूति देखिए—

मेरे घट ज्ञान-भानु भयो भोर।
चेतन चकवा चेतना चकवी, भागो विरह को सोर।
फैली चहुं दिसि चतुर भावरुचि, मिट्यो भरम-तम जोर
आपकी चोरी आपही जानत, और कहत ना चोर॥[६५]

हमने शुरू में विचार और ज्ञान में अवस्था का भेद बताते हुए कहा था कि विचार जो बुद्धि की एक ज्ञानोपयोगी प्रक्रिया है वह निष्ठा और श्रद्धा के अनुसार सूक्ष्मतर होती हुई अंतर्ज्ञान के रूप में परिणत हो जाती है। इसलिए बुद्धि के ऐसे रूप को जो शुरू में एक निश्चित कोण बनाकर आत्मानुभवयोग्य युक्ति तथा तर्क से अग्रसर होता है उसे सन्तों ने भी स्वीकार किया है। विचार के स्तर पर वे अद्वैतवादियों की प्रिय युक्तियाँ रज्जुभुजंग, कनककुण्डल आदि को समझाने के लिए खुले रूप में प्रयोग करते हैं। यारी साहिब का एक सवैया देखिए—

देखु बिचारि हिये अपने नर, देह धरी तो कहा बिगरो है।
मिट्टी को खेल खिलौना बनो, एक भाजन नाम अनन्त धरो है॥
नेक प्रतीत हिये नहिं आवत, मर्म भुलो कर अवर करो है।
भूषन ताहिं गंवाइ के देखु, यारी कंचन ऐन को ऐन खरो है॥[६६]

अन्धपरम्परा के अनुसार किये गए कर्मों, बिना श्रद्धा के विद्या, इनसे उस परप्रकाश को नहीं पाया जा सकता। लौकिक युक्तियाँ उस अनुपम को कैसे वर्णन कर सकती हैं। अतः कोरी दलील करने वाले यारी साहिब की नजर में अन्धे हैं -

सब अंधेरे मिलि दलील करें, बिन दीदा दीदार न पाइये जी।
यारी अन्दर यकीन बिना, इलिम से क्या बतलाइये जी॥[६७]

आचार्य शंकर को कुछ लोग बहुत ही गलत ढंग से समझते हैं। उनके अनुसार शांकरदर्शन केवल पण्डित पुरोहितों के दर्शन की पुनरावृत्ति है। वस्तुतः आचार्य का लेखन या कृतिकर्म इतना विराट् है कि उसे पूरी तरह मथे बिना कोई एक निष्कर्ष देना भ्रममूलक कथन हो सकता है। आचार्य ने जो दार्शनिक और सामाजिक क्रान्ति खड़ी की थी उसकी जड़ें बहुत दूर तक फैली हुई थीं। वह किसी संकीर्ण धरातल पर नहीं खड़ी थी। सन्तों से पूर्व वे ज्ञानी से जो आत्मद्रष्टा था गले मिलने को सदैव तत्पर थे। बलदेव उपाध्याय ने इस विषय में उनके मनीषा-पंचक के एक श्लोक को उद्धृत किया है कि "जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में निरन्तर

जागरूक विश्वसाक्षिणी ब्रह्मचेतना को देखने के बाद 'अहंब्रह्मास्मि' ज्ञान की जिसे उपलब्धि हो गई है वह चाहे चाण्डाल हो या द्विज, वह गुरु है।"[६८] इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्वैतवेदान्त की सन्तसाहित्य में स्फुट प्रवृत्तियाँ किसी न किसी रूप में शांकर वेदान्त से पहले से थीं जो साधुसंग एवं श्रवण आदि से सन्तों तक पहुँच चुकी थीं।

इस विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात और है कि सन्तों में भी परोक्ष रूप से दो ऐसे पक्ष दृष्टिगत होते हैं जिनमें से एक कर्म का आत्यन्तिक निषेध करते नजर आता है। जैसे मलूकदास एवं जगजीवनसाहब[६९] आदि कुछ एक सन्त कर्म को भ्रमजाल मानकर उसकी वर्जना करते हैं मलूक की प्रसिद्ध उक्ति है—

अजकर करै न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गये सबके दाता राम॥

किन्तु दूसरे पक्ष में ऐसे सन्त हैं जो कर्मठ वेदान्ती की तरह नित्यकर्म करने पर खूब बल देते हैं—"नित्यकर्म संतत करै भयो चहै जो मुक्त।"[७०] लेकिन ब्रह्मज्ञानी की श्रेष्ठता दोनों को मान्य है। उपनिषदों ने कहा था कि ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। सन्तों ने भी ऐसे ब्रह्मज्ञानियों की आरतियाँ उतारी हैं। वे भी मानते हैं—

ब्रह्मरूप अहि ब्रह्मवित, ताकी वाणी वेद।
भाषा अथवा संस्कृत करत भेद भ्रमछेद॥[७१]

सन्त निश्चलदास ने अपने विचारसागर नामक ग्रन्थ में अद्वैतवेदान्त के कुछ अन्य भाषा ग्रन्थों की भी चर्चा की है। किन्तु उनका विचार है कि विचार-सागर अन्य हिन्दी भाषा ग्रन्थों में सबसे अधिक प्रौढ़ है। इसे पढ़ने से जिज्ञासु के समस्त सन्देह कट जाते हैं।"[७२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्वैतवेदान्त में ज्ञानप्राप्ति के जो मुख्य साधन कर्म और भक्ति माने गए हैं उन्हें सन्तों ने भी स्वीकारा है। किन्तु जो वेदान्त में ज्ञान के साधनभूत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि प्रमाण माने गए हैं उनका शास्त्रीय विवेचन न सन्तों को अभिमत था न ही शायद स्वयं आचार्य को। हाँ 'तत्वमसि' जैसे महावाक्यों के द्वारा ज्ञान की साक्षात् उपलब्धि का जहाँ-तहाँ उल्लेख कबीर-मन्सूर में सुन्दरदास, निश्चलदास जैसे सन्तों के ग्रन्थों में कहीं न कहीं मिल जाता है। आचार्य ने अपने विवेकचूड़ामणि आदि ग्रन्थों में ज्ञानप्राप्ति के जिस साधनचतुष्टय का उल्लेख किया है, उसका सन्तसाहित्य में खुला रूप मिल सकता है। सन्त निश्छलदास साधनचतुष्टय को यूँ गिनाते हैं—

प्रथम विवेक, विराग पुनि, शमादि षट् सम्पति।
कह्यो चतुर्थ मुमुच्छुता, ये चव साधन सति॥[७३]

साधक की छः सम्पत्तियाँ ये हैं—

शम, दम, श्रद्धा तीसरी, समाधान उपराम ।
छठी तितिच्छा जानिये, भिन्न भिन्न यह नाम ॥[७४]

इन साधनों में सन्तसाहित्य का सारा नैतिक पक्ष सिमट कर आ जाता है। अतः इसकी विशेष चर्चा सन्तों के आचारपक्ष में ही करेंगे। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि ज्ञान का महत्व, उसकी प्राप्ति के साधन, तथा ज्ञानप्राप्ति की स्थितियों का वर्णन अद्वैती सन्तों एवं वेदान्तियों में समान है। औपनिषद् शैली में ज्ञान-प्राप्ति की स्थिति का एक सन्त द्वारा किया गया चित्रण देखिये—

सदा प्रसन्न सुभाव प्रगट सर्वोपरि राजय ।
तृप्त ज्ञान विज्ञान श्रचल कूटस्थ विराजय ॥
सुख निधान सर्वज्ञ, मान अपमान न जाने ।
सारासार विवेक सकल मिथ्याभ्रम माने ॥
पुनि भिद्यन्ते हृदिग्रन्थि कों छिद्यन्ते सब संशयं ।
कहि सुन्दर सो सद्गुरु सही, चिदानन्द धन चिन्मयं ॥[७५]

डॉ० राधाकृष्णन् ने मोक्षप्राप्ति के लिए साधना की तीन स्थितियाँ मानी हैं। पहली स्थिति विशुद्धीकरण (वाया-परगेटिवा) की है, जिसमें सत्कर्म एवं सदाचरण द्वारा चित्तशुद्धि की जाती है। दूसरी स्थिति ध्यान-केन्द्रीकरण (वाया-कण्टेम्प्लेटिवा) की है जिसमें आन्तरिक सत्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मन का अपनी माननीय वस्तु पर पूर्णतः एकाग्र होना होता है। तीसरी सर्वोच्च साधना की स्थिति एकात्मीकरण या समाधि (वाया-यूनिटिवा) है, जिसमें "एकतानता हमारी अन्तरात्मा में घटित होती है, तब हमारी कठोरता भंजित होती है, हम पुनः प्रवाहमान हो उठते हैं।"[७६] अद्वैतवेदान्त ज्ञानात्मक स्तर पर इन तीनों स्थितियों को स्वीकृति देता है। प्रथम स्थिति में आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि पाने के लिए विशुद्ध नैतिक आचरण, दूसरी में योग-साधन एवं भक्ति, तीसरी में दिव्या-लोकसम्पन्नता है। प्रथम दो स्थितियों का हिन्दी सन्तसाहित्य में विशद विवेचन हम उसके अद्वैती आचारपक्ष वाले तथा योग एवं भक्ति के प्रसंग में करेंगे। यहाँ अन्ततः सन्तों की ज्ञानसम्बन्धी धारणा को अद्वैती लहजे में देख लें—

सब्द सब्द बहु अन्तरा, सार सब्द चित देय ।
जा सब्द साहेब मिले सोइ सब्द गहि लेय ॥[७७]
एक सब्द में सब कहा, सब ही अर्थ विचार ।
भजिए निर्गुन राम को, तजिए विषै-विकार ॥[७८]

इस समस्त विवेचन से आत्मज्ञान सम्बन्धी चिन्तन का जो रूप हमारे

सम्मुख स्पष्ट होता है उसे हम सरलता की दृष्टि से चार भागों में स्थापित कर सकते हैं।[७६]

१. कर्मकाण्ड, हठयोग आदि साधना-विषयक साधनालम्बज्ञान, जो वस्तु के स्वरूप ज्ञान की अपेक्षा वस्तु-प्राप्ति के साधनों के ज्ञान के बारे में ही होता है।

२. जब केवल साध्य ब्रह्म का ज्ञान ही मुमुक्षु का आलम्बन रह जाता है तो उसे आलम्बनज्ञान कहा जाता है।

३. साध्य साधना का अभेद पूर्वक ज्ञान अद्वैतमय ज्ञान कहा जा सकता है।

४. ज्ञान का अन्तिम रूप है—केवलमात्र अनन्य रूप से आत्मसत्ता का बोध जो अनिर्वच कोटि का ज्ञान है। विष्णुपुराण के अनुसार ज्ञानमय विष्णु के स्वरूप का केवलमात्र आत्मसंबोधि या आत्मसत्ता के अकथनीय रूप में स्थित हो जाना ही ब्रह्मज्ञान है।[८०] इस प्रकार साधनालम्बन, आलम्बन, अद्वैतमय तथा ब्रह्मज्ञान इन चारों ज्ञान के रूपों में अध्यात्म साधना की समस्त प्रक्रियाएँ समा जाती हैं। अन्य ज्ञानों से ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता यही है कि वह ब्रह्मरूप ही है। अन्य बौद्धिकज्ञान सर्वथा बहिर्मुखी और अनैकान्तिक होने से व्यभिचारी हैं। इसीलिए उनमें वस्तुओं का सामान्य परिचयात्मक बोध रहने पर भी वस्तुओं के यथार्थरूप का निश्चयात्मक बोध बिल्कुल नहीं रहता। फलतः वे सभी ज्ञान ऊपर से ज्ञान दीखने पर भी अज्ञानता से सदैव परिच्छिन्न हुए रहते हैं। उनमें बहुत प्रकार की बौद्धिक विखण्डताएँ रहती हैं। फलतः वे खण्डित ज्ञान हमें पूर्णता के पास फटकने नहीं देते।[८१] इसी से ज्ञानी लोग मोक्षपरक चिन्तन को ही ज्ञान मानते हैं और शिल्प तथा शास्त्र आदि की जानकारी को विज्ञान कहते हैं।[८२]

सन्दर्भ

१. अर्थ—"ज्ञान केवल विचार मानी खोज अथवा जिज्ञासा के अतिरिक्त किसी साधन से उत्पन्न नहीं होता। जैसे किसी वस्तु का स्वरूपबोध प्रकाश के बिना नहीं हो सकता।" —अपरोक्षानुभूति, श्लोक ११

२. "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" —मुण्डक उ० ३-२-९

३. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक ७१, ७२

४. 'अपरोक्षानुभूति', श्लोक १२-१५

५. सन्तसुधासार, खण्ड-१, पृ० १२५

६. आदिग्रन्थ, राग गउड़ि, पद २४ तथा

समझि विचारि जीव जब देखा, यह संसार सुपनि कर लेखा।
भई बुधि कछु ग्यांन निहारा, आप आपहि किया बिचारा ॥
—कबीर, पृ० ११० (विजयेन्द्र स्नातक द्वारा सम्पादित)

७. "The first whence and the last whither of things."
—पाश्चात्यदर्शन दर्पण, पृ० ४

८. 'सनत्सुजातीयसंवाद' (गीता प्रेस गोरखपुर), एवं कठोपनिषद् में यमनाचिकेता संवाद।

९. ब्र० सू० २-१-११, तर्कोऽप्रतिष्ठानात् पर शां० भा०।

१०. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० १६३

११. ग्रन्थसाहिब, पृ० १

१२. गीताप्रबन्ध, पृ० ३२५

१३. भारतीय दर्शन, भाग-१, पृ० १६१

१४. केनोपनिषद्, मंत्र ५, खण्ड-१

१५. वही, मन्त्र १२

१६. भारतीय दर्शन (डॉ० राधाकृष्णन्), भाग-१, पृ० १६५

१७. "आत्मज्ञान बिना सब झूठा, क्या मथुरा क्या काशी"
—कबीर, पृ० २६२, (आ० ह० प्र० द्वि० सम्पादित)

१८. शंकराचार्य —अनात्मश्रीविगर्हण प्रकरण, श्लोक १८

१९. मुक्तिकोपनिषद् १

२०. "स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा"
—पंचदशी, चित्रदीप प्रकरण, श्लोक २१०

२१. श्वेताश्वतर उपनिषद् ३-८

२२. योगवासिष्ठ (कल्याण अंक, गीता प्रेस गोरखपुर), पृ० १०२, उत्पत्ति प्रकरण।

२३. आत्मज्ञानं विदुर्ज्ञानं ज्ञानान्यन्यानि यानि तु।
तानि ज्ञानावभासानि सारस्यानवबोधनात् ॥ —योगवासिष्ठ ३।२१।७

२४. योगवासिष्ठ (कल्याण), उत्पत्ति प्रकरण, सर्ग ११८, पृ० २१५

२५. 'प्राच्यधर्म और पाश्चात्यदर्शन', पृ० ३५

२६. वही, पृ० ५८

२७. भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक ३

२८. वही, अध्याय ३, श्लोक २० पर शां० भा०।

२९. उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम्।
नैवं मुक्तिर्यतस्तस्मात् कर्म तस्या न साधनम् ॥ —नैष्कर्म्यसिद्धि १-७६

३०. "नहि पूर्वसमुद्रं जिगमिषोः प्रातिलोम्येन प्रत्यक् समुद्रं जिगमिषुणा समान-

मार्गत्वं संभवति। प्रत्यगात्म विषय प्रत्यय-सन्तान करणाभिनिवेशश्च ज्ञान-निष्ठा। सा च प्रत्यक्समुद्रगमनवत् कर्मणा सहभावित्वेन विरुध्यते।''

—गीता शां० भा० अध्याय १८, श्लोक ५५

३१. ''अलंकारो ह्ययमस्माकं यद् ब्रह्मात्मावगतौसत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः।''

—ब्र० सू० शां० भा० १-१-४

३२. रत्नसागर, पृ० ६० (सन्त तुलसीकृत) तथा पृ० ११७

३३. भारतीयसाधना और सन्ततुलसी, पृ० २६४

३४. ''करम का बांध्या जीयरा, यह निसि आवै जाइ।''

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२८

३५. ''करम लगो भरमत फिरो, मिलो न अपने पीव।''

—चरणदास की बानी, भाग-१, पृ० १४

''कर्म छुटै मिटै जीवता, मुक्तिरूप ह्वै जाय।'' —वही, पृ० १५

३६. ''दास कबीर रह्या ल्यौ लाई, भर्म कर्म सब दिये बहाई।''

—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १७४

३७. गीता शां० भा० १८।१०

३८. ''कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मानः शक्नुवन्ति आत्मानं प्रतिबन्धेन वेदितुम्। एवं काम्यवर्जितं कर्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधकत्वं प्रतिपद्यते।''

—बृहदारण्यक उ० (शां० भा० से उद्धृत) भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय, पृ० ६१६, संस्करण १९६६

३९. ''सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'' —गीता ४-३३

४०. हे अर्जुन! योग द्वारा जिसने कर्मों का संन्यास कर दिया है तथा ज्ञान से जिसका भरम भाग चुका है। उसे कर्म बाँध नहीं सकते।''

—गीता प्रबन्ध, पृ० ३१४

४१. ''शुनां तत्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे''

—पंचदशी प्रकरण ४, श्लोक ५५

४२. ''तच्च ज्ञानं पापक्षयात्। स च कर्मानुष्ठानादिति परम्परया कर्मणां विनि-योगः।'' अतएव ''तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'' इत्यादि श्रुतिः, ''कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते'' इत्यादि स्मृतिश्च संगच्छते। —वेदान्तपरिभाषा, पृ० ३६०

४३. ''अन्ये तु—'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य', दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या इत्यादि श्रुतेर्मन एव ब्रह्मसाक्षात्कारे करणम्। तस्य सोपाधिकात्मनि अहंवृत्तिरूप प्रमाकरणत्व क्लृप्तेः।

—सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० ४७० (अच्युत ग्रन्थमाला प्रकाशन)

४४. वही, पृ० ४७२-७३

४५. "श्रुतमयेन ज्ञानेन जीवात्मनः परमात्मभावं गृहीत्वा युक्तिमयेन च व्यवस्थाप्यते। तस्मात् निर्विचिकित्स शब्दज्ञानसंततिरूपोपासना कर्मसहकारिणी अविद्याउच्छेद हेतुः।" —भामती, जिज्ञासाधिकरण

४६. नैष्कर्म्यसिद्धि १-७६

४७. "अतः ऐसे जान लेने वाला शान्त, संयत, बिरक्त, सहनशील, समाधिस्थ होकर आत्मा में आत्मा को ही देखता है, तथा निष्पाप हो जाता है।"

—बृहदारण्यक उ० ४-४-२२

४८. "विचाराक्षम आत्मानमुपासीत निरन्तरम्।"

४९. "अन्त में इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए हमारे अन्दर एक ऐसी श्रद्धा होनी चाहिए जिसे कोई बौद्धिक सन्देह विचलित न कर सके (श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्)।" —गीता प्रबन्ध, पृ० ३२०

५०. गीताप्रबन्ध, पृ० ३१६

५१. 'अपरोक्षानुभूति', शंकराचार्यकृत (गीता प्रेस गोरखपुर प्रकाशन), पृ० ११

५२. "अत एवाह वसिष्ठः द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव।"

—भगवद्गीता ६-२३ (मधुसूदनी)

तथा वासिष्ठरामायणादिषु तदेव तत्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षयश्चेति त्रयमभ्यसनीयम्। तदुक्तं योगवासिष्ठे—"तच्चिन्तनं तत्कथन मन्योन्यं तत्प्रबोधनम्। एतदेक परत्वं च ब्रह्माभ्यासंविदु र्बुधाः।" —वही, ६-३२

तथा दें० "वसिष्ठेन चोक्तम्—न कर्माणि त्यजेद् योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ।" —वही, १८-२

५३. सन्तकाव्य (परशुराम सम्पादित), पृ० २००

५४. वही, पृ० १९५

५५. वही, पृ० १९४

५६. स्वामी दादूदयाल की बाणी (वैदिक यन्त्रालय अजमेर से मुद्रित, संवत् १९६४), पृ० २४८

५७. वही, पृ० २५०

५८. वही

५९. वही

६०. वही, पृ० २५३

६१. सन्तसुधासार, पृ० ५८१

६२. वही, पृ० ५७९

६३. वही, पृ० ५८६-८७

६४. सन्तकाव्य, पृ० ३३०

६५. वही

६६. वही, पृ० ३६८
६७. वही
६८. जाग्रत्स्वप्न सुषुप्तिषु स्फुटतरा या संविदुज्जृम्भते,
या ब्रह्मादि पिपीलिकान्ततनुषु प्रोक्ता जगत्साक्षिणी।
सेवाहं न च दृश्यवस्त्विति दृढ़प्रज्ञापि यस्यास्ति चेत्,
चाण्डलोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम॥
६९. सन्तसुधासार, खण्ड-२, पृ० ५८
७०. सन्तकाव्य, पृ० ५४६
७१. वही
७२. कविजन कृत भाषा बहुत, ग्रन्थ जगतविख्यात।
बिन विचारसागर लखैं, नहिं संदेह नसात॥
—विचारसागर, तरंग १, दोहा ८
७३. विचारसागर, तरंग १, दोहा १२
७४. वही, दोहा १५
७५. सन्तसुधासार, खण्ड-१, पृ० ५७५, वाणी सुन्दरदास मिलाइये—
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ —मुण्डकोपनिषद् २-२-८
७६. प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ० ६५
७७. सन्तसुधासार, खण्ड-१, पृ० १५९ (कबीर का कथन)
७८. वही, पृ० १५३
७९. प्रस्तुत वर्गीकरण विष्णुपुराण के अंश १, अध्याय २२ के अनुसार किया गया है।
८०. आत्म संबोध विषयं सत्तामात्रमलक्षणम्।
विष्णोर्ज्ञानमयस्योक्तं तज्ज्ञानं ब्रह्म संज्ञितम्॥ —वही
८१. गीता के ज्ञान योग के स्पष्टीकरण में शंकर दो प्रकारों के ज्ञानों का वर्णन करते हैं—"निश्चयस्वभावा एका एव बुद्धिः इतर विपरीत बुद्धिशाखाभेदस्य बाधिका सम्यक्प्रमाण जनितत्वात्। याः पुनः इतरा बुद्धयो यासां शाखाभेद-प्रचारवशाद् अनन्तः अपारः अनुपरतः संसारो नित्य प्रततो विस्तीर्णो भवति।" अर्थात् एक निश्चयात्मक ज्ञान है जो बौद्धिक अनेकमुखिता का बाधक है, एवं यथार्थता से पैदा हुआ है। दूसरा अनिश्चयात्मक, बहुमुखी, बिखरा हुआ ज्ञान है। इनमें से आचार्य बहुमुखी विभिन्न फूलों से लदे वृक्ष के समान शोभित पुष्पित वृक्ष इव शोभमाना वेदवाणी को भी निश्चयात्मक ज्ञान से नीचे मानते हैं। —भगवद्गीता शां० भा० २-४१, ४२
८२. "मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः" —अमरकोष

११
मुक्ति

संस्कृत में मुच् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर मुक्ति शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है छूटना, स्वातन्त्र्य, मोक्ष, आवागमन के चक्र से आत्मा का मोचन।[1] भारतीय अध्यात्मशास्त्र में मुक्ति के पर्यायवाची शब्दों में हमें कैवल्य, निर्वाण, श्रेय, निश्रेयस्, अमृत, मोक्ष, अपवर्ग शब्द मिलते हैं।[2] वस्तुतः एक ही अवस्था के विभिन्न नाम इस बात के द्योतक हैं कि उस अवस्था में एकरसता होते हुए भी शायद कुछ ऐसी अनन्तता है कि आदमी अनुभव के स्तर से बाहिर आकर कुछ कहने लगा नहीं कि उसकी भाषा लड़खड़ाई नहीं। यही कारण है कि इस कहानी को सन्तों ने भी अकथ और 'गूंगे का गुड़' कहकर राहत पाई। कबीर ने मुक्त के लक्षणों की ओर ही संकेत करते हुए कहा "सैन करे मन ही मन रहसे, गूंगे केरी मिठाई।" किन्तु मुक्ति, जो भारतीय जीवन का एक सर्वोपरि ध्येय रहा है उसके स्वरूप का कोई विश्लेषण नहीं कर पाया। केवल किसी एक मुक्तात्मा के आचरण व संकेतों में उसे उस अमूल्य निधि का एक आभास बराबर होता रहा है। अतः भारतीय मेधा ने अपने चरमरूप में ऐसे ही किसी एक मोक्षापन्न या निर्वाणप्राप्त सन्त महात्माओं की आकारगत मुद्राओं, इंगितों, चेष्टाओं, भाषाओं द्वारा मोक्षरूप परमसुख की उद्भावना की। निष्कर्ष के तौर पर उन समस्त उद्भावनाओं को अद्वैतवेदान्ती आचार्यों ने कई शैलियों द्वारा अभिव्यक्त किया है। प्राणिमात्र के दुःखों का मूल कारण अविद्या को ठहराया गया। मनुष्य के अन्तर में अंकुरित होने वाली कामनाओं को अविद्या का मूर्त रूप मानते हुए आचार्य शंकर ने कहा कि ज्ञान से पहले जो कुछ मनुष्य था वह ज्ञान के बाद अविद्या अर्थात् कामना और कर्मरूप मृत्यु का नाश हो जाने से अमर हो जाता है। परलोक में गमन कराने वाले मृत्यु का नाश हो जाने से वहाँ जाना सम्भव न होने के कारण वह (ज्ञानी) इस लोक में ही दीपनिर्वाण के समान ही सम्पूर्ण बन्धनों के नष्ट हो जाने से ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है। वह अविद्या ही जीव की ग्रन्थि है जिसके टूटने पर जीवन्मुक्त अर्थात् जीवितावस्था में ही ब्रह्म

पा लेने वाला तत्त्ववेत्ता आवागमन रहित हो जाता है।[3] इस एक ही तत्त्व को आचार्य ने एक स्थान पर 'कामत्यागेन अमृतत्वम्' तथा दूसरे स्थान पर 'ग्रन्थिभेद एवामृतत्वम्' कहकर मोक्ष और अमृतत्व में अभेद ही माना है। उपनिषदों में वस्तुतः मुक्ति की अवस्था को विभिन्न उदाहरणों द्वारा संकेतित किया गया है। जिसमें कभी तो साधक की तुलना बहती हुई नदी से करते हुए कहा गया है, "कि जैसे नदियाँ समुद्र में जाकर अपना नामरूप खोकर तन्मय हो जाती हैं ऐसे ही विद्वान् नामरूप उपाधि से छूटकर परब्रह्म में लीन हो जाता है।"[४] कभी उसे किसी वस्तु के नमक की खाड़ी में गिरकर नमक ही हो जाने की घटना से उपमित किया है। मुक्ति के वर्णन की इस पद्धति को निषेधात्मकशैली के अन्तर्गत रखा जा सकता है। जिसमें एकमात्र कामनाओं के ध्वंस हो जाने की स्थिति को ही मोक्ष मान लिया गया है[५] जिसमें अविद्या, कामना, नाम, रूप, उपाधि का टूटना या निषेध ही प्रधान है। इस दृष्टि से मोक्ष, निर्वाण, अमृत जैसे शब्द मुक्ति में अज्ञान के पूर्ण अभाव की कल्पना को ही सामने रखते हैं।

मुक्ति के विध्यात्मक पक्ष में निश्रेयस्, श्रेय जैसे शब्दों को रखा जा सकता है। उपनिषदों ने जहाँ एक ओर मोक्ष में कामनामात्र के ध्वंस हो जाने की बात कही है वहीं उनमें ब्रह्मात्मभाव की प्राप्ति भी कही है। यह प्राप्ति यद्यपि कोई भौतिक वस्तु की उपलब्धि जैसी स्थिति नहीं तो भी मुक्ति को बौद्धों के शून्य-सम्बन्धी निर्वाण से पृथक् कर लेती है। इस दृष्टि से मुक्ति में इन दोनों पक्षों के सन्तुलन पर बल देते हुए डॉ० राधा कृष्णन् कहते हैं कि "उपनिषदों का मत है कि सर्वोच्च अवस्था में व्यक्तित्व का विश्लेषण हो जाता है, यह स्वार्थमय एकाकीपन त्याग है किन्तु यह केवल शून्यता अथवा मृत्यु नहीं। × × × नित्य जीवन का स्वरूप एक आनन्द की अवस्था है अथवा मुक्ति है, जीवात्मा का सुखपूर्ण विस्तार है।"[६] अतः यह पहले ही स्पष्ट कर लेना चाहिए कि केवलाद्वैती अविद्यामूलक दृष्टिकोण के उच्छेद की बात तो करता है पर जगत् के उच्छेद की बात नहीं करता है। क्योंकि अन्ततः मुमुक्षु अहम् और इदम् की उपाधियों से भी मुक्त होकर विश्व को ब्रह्मरूप ही देखता है। अतः आचार्य के अनुसार व्यक्ति की भ्रांति का निवारण ही साध्य है। इसी से उन्होंने इसी जीवन में मुक्ति पा लेने की बात को बड़े ही विश्वास के साथ स्वीकार किया है। इसके विपरीत वैष्णवों ने देहपात के बाद ही मुक्ति को प्राप्य माना है। किन्तु शंकर के अनुसार शरीर का अन्त होना मोक्ष के लिए इतना आवश्यक नहीं। श्री रामानन्द तिवारी कहते हैं "कि सर्वमुक्ति की कल्पना शंकरोत्तर वेदान्त का सिद्धान्त है। इसकी आवश्यकता उत्तर-वेदान्त में बद्धजीवों के प्रति मुक्तों की उदासीनता का सिद्धान्त रूढ़ हो जाने के कारण हुई।"[७]

मोक्ष तो इसी जीवन में मिल जाता है, और ऐसा मोक्ष-प्राप्त व्यक्ति जीते

हुए ही अपनी महिमा में प्रतिष्ठित होकर फिर देहपात हो जाने पर भी स्वयं प्रकाशित होकर रहता है।[८] उसके लिए मृत्यु एक स्वाभाविक प्रक्रियामात्र रह जाती है। ज्ञानी की मृत्यु का होना या न होना उसकी मोक्षोपलब्धि में कोई अन्तर नहीं डालता। ऐसे जीवन्मुक्त व्यक्ति की अद्वैतमत में दो अवस्थाएँ मानी जाती हैं। समाधि अवस्था में जब वह पूर्णतः स्वात्मलीन रहता है तो उसकी दृष्टि में समस्त प्रपंचों का विलय रहता है। दूसरी व्युत्थान की स्थिति में संसार उसे सर्वथा दिखाई देता है पर उसे भ्रमित नहीं कर सकता है। क्योंकि उसके मायारूप के प्रति उसकी भ्रान्ति स्थायी तौर पर मिट चुकी होती है। उस स्थिति में नानात्व उसे ऐसे ही भासता है जैसे सूर्य की स्थिरता का ज्ञान हो जाने पर भी हमें सूर्य व्यवहारतः पहले की तरह ही चलता-फिरता दिखाई देता है। इसी प्रकार जीवन्मुक्त साधु जगत् के सुख-दुःखों को अनुभव करता भी है तो उन्हें कोई महत्त्व नहीं देता।[९] यह जरूरी नहीं कि वह कर्म का पूर्ण त्याग करे। शंकर का अपना जीवन स्वयं महान् कर्मों की एक कड़ी था। गीता ने इसे ब्राह्मीस्थिति कहा है जिसमें आकर साधक फिर जागतिक व्यवहार से मुग्ध नहीं होता। अन्त में केवल देहपात होने से उसे ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति होती है। ऐसा मुक्त आदमी व्यवहारों के प्रति पूर्णतः निस्पृह होता है, निर्मम होता है, निरहंकार होता है।[१०] इसी से उसे आचार्य के शब्दों में सर्वसंसारदुःखोपरमलक्षणा शान्ति यानी निर्वाण प्राप्त होता है।[११] जीवन्मुक्त की इस स्थिति में मुक्तात्मा के समस्त व्यावहारिक विरोधों का परिहार हो जाता है। उसकी दौड़ खत्म हो जाती है। वह संसार को ग्रहण करता है पर शान्त भाव से। वह व्यवहारतः कलावान् होते हुए भी निष्कल एवं चित्त-सहित होते हुए भी चित्त रहित होता है।[१२] नीति अथवा लोकसंग्रह एव आचार-निष्ठा उसके लिए प्रयत्नसाध्य नहीं रहते बल्कि आचार आदि उसके लिए अनायास हो जाते हैं। प्रो० हिरियन्ना कहते हैं कि "तब वह सदाचार का अभ्यास नहीं करता, बल्कि उसे अभिव्यक्त करता है। × × × जब वह अन्त में भौतिक उपाधियों से अलग हो जाता है, तब उसका पुनर्जन्म नहीं होता, बल्कि वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। यह विदेहमुक्ति है।"[१३] इस प्रकार जिन लोगों को मोक्षापन्न व्यक्ति के कर्मों के विषय में केवलाद्वैती धारणा में विरोध नजर आता है उनका समाधान हो सकता है। वस्तुतः शंकर ने मोक्षसम्बन्धी जिस कर्मसंन्यास की चर्चा की है उसका अर्थ यही है कि नैतिक पूर्णता और धर्माचरण मोक्ष के लिए उपयोगी हैं किन्तु वे ही काफी नहीं हैं। वे केवल ज्ञान के सहायक हैं। मुक्त योगी के लिए एकमात्र धर्म, एकमात्र विधान, एकमात्र नियम तो बस यही है कि वह भगवान् में रहे, भगवान् से प्रेम करे और सब प्राणियों के साथ एक हो जाए, उसका जो स्वातन्त्र्य है वह निरपेक्ष है, किसी अन्य का आश्रित नहीं, वह स्वतःसिद्ध है, किसी आचार, धर्म या मर्यादा से बंधा नहीं। गीता अथवा उपनिषदों में आए

निर्वाण पद का भी आचार्य ने ब्रह्मप्राप्तियोग के अर्थ में प्रयोग किया है। इसे देख कर कई लोगों को बौद्धों के निर्वाण का प्रभाव ही यहाँ उपलक्षित होने लगता है। क्योंकि बुद्ध के निर्वाण में भी तृष्णाक्षय राग, द्वेष, मोह का क्षय रहता है।[१४] उसमें भी दीप के बुझने की तरह वेदनाएँ ठंडी पड़ जाती हैं। साधक को अच्युत निर्वाण-पद की प्राप्ति होती है।[१५] किन्तु इस निर्वाण से वेदान्तिक निर्वाण इस अर्थ में भिन्न है कि यह निर्वाण बौद्धों का शून्य निर्वाण नहीं है बल्कि यह आंशिक सत्ता का पूर्णसत्ता में वेदान्तिक लय है, गीता ने सदा ही ब्रह्मनिर्वाण शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है ब्रह्म में लीन होना।[१६] भगवद्‌गीता ने ब्रह्मनिर्वाण को जिस अर्थ में प्रयुक्त किया है उसमें मन के निश्चल नीरव हो जाने के कारण अन्तर में आत्मा का दर्शन होने लगता है, मन में आत्मा का विकृत मान नहीं, बल्कि आत्मा में ही आत्मा का साक्षात्कार होता है।[१७] इस प्रकार ब्रह्मनिर्वाण पद का अर्थ यही करना होगा कि उसमें चेतना के केवल उसी रूप का नाश होता है जो हमारे जीवन के बाहर और भीतर माया के रूप में उठकर समस्त भ्रमों और भेद-भावों की सृष्टि करती है। शुद्धरूप चेतना उसमें बराबर होती है। अतः आचार्य को गीता के ब्रह्मनिर्वाण पद का जो अभिप्रेत अर्थ है वह है 'ब्रह्मणि निवृ॑त्ति मोक्षम्'[१८] अर्थात् ब्रह्म-निवृ॑ति यानी मोक्ष। इस निवृ॑ति या मोक्ष को आनन्द अथवा सुखरूप कहा गया है। वेदान्तसाधना का यदि कोई प्रयोजन है तो वह है सुख की प्राप्ति और दुःख का नाश। इनमें से सुख की उपलब्धि दुखनाश वाली बात को गौण बना देती है। आचार्य ने सुखोपलब्धि द्वारा मुक्ति का विशेष मूल्यांकन किया है। उनके मत में सुख दो तरह का है। सातिशय निरतिशय। सातिशय सुख ही विषय-सुख है। इसी का प्राणी प्रायः सेवन करते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि इसी आनन्द की कुछ थोड़ी-थोड़ी मात्रा को सब प्राणी भोगते हैं। निरतिशय सुख तो केवल ब्रह्म है।[१९] इसी आनन्दात्मक ब्रह्म की प्राप्ति ही मोक्ष है जिसमें शोक पूर्णतः निवृत्त हुआ रहता है।[२०] इस स्थिति में ब्रह्म को जान लेने वाला ब्रह्म ही होकर रहता है। ('ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति', मुण्डक ३-२-९)।

वेदान्तपरिभाषाकार ने यहाँ एक और बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही है। वह कहता है कि केवलाद्वैती धारणा के अनुसार मोक्ष कोई ऐसी नई अवस्था नहीं है जिसे प्रयत्नतः प्राप्त करना है बल्कि आत्मा का ही स्वरूप है। मोक्ष का अर्थ साधक का किसी लोकान्तर आदि में जाना नहीं[२१] बल्कि जो है उसी का स्वरूप हो जाना है। उपनिषद् कहते हैं 'तत् त्वं असि' अर्थात् 'वह तू है' यह नहीं कहते कि 'तत् त्वं भव', 'वह तू हो जा'। अतः मोक्ष में केवल मोक्षापन्न व्यक्ति की अपनी स्वरूप की विस्मृति अपरोक्षज्ञान के कारण दूर हुई रहती है। अविद्या से खड़ा किया हुआ यह प्रपंच स्वप्न प्रपंच की तरह ही है जो प्रज्ञानरूपी जागरण के हो जाने पर अपने आप वहीं का वहीं विलीन हो जाता है।[२२] आचार्य शंकर के

दृष्टिकोण की यही सूक्ष्मता है कि उसमें सांख्याचार्यों के प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध-विच्छेद[२३] अथवा भाट्टमीमांसकों के प्रपंच से सम्बन्ध तोड़ लेने की स्थिति को मोक्ष[२४] न मानकर प्रपंच का ही विलय माना जाता है। यहीं पर मोक्ष के विषय में एक और भी प्रश्न उठता है वह यह कि मोक्ष सादि है या अनादि? यदि मोक्ष कोई प्राप्य वस्तु है तो वह सादि और सान्त ही होगा जो केवलाद्वैतियों को स्वीकार्य नहीं। यदि वह केवल अपने ही कूटस्थ रूप का भिन्न-भिन्न देहों में आविष्कार है तो वह पहले भी था अतः मोक्ष अनादि और अनन्त ही सिद्ध होगा। ऐसा मुक्त-पुरुष पूर्णब्रह्म शान्त, सम, उत्पत्ति-विनाश से रहित, निराकार, अजन्मा, आकाश की भाँति व्यापक, विशुद्ध और अद्वितीय है। वह सर्वरूप है और सत्-असत् स्वरूप तथा एक होकर ही सदा स्थित रहता है। सबका आदि वही है। मोक्ष उसका अपना ही रूप है तथा वह उत्कृष्ट ज्ञानरूप है।[२५]

मोक्ष अपने ही अधीन है इस परिचर्चा में अद्वैतवेदान्ती केवल इतना ही मानते हैं कि मोक्ष-प्राप्ति का प्रत्यक्ष साधन ज्ञान ही है। अपनी वासना ही सत्वोन्मुखी होकर साधक को मुक्त कर जाती है और स्वय ऐसे ही नष्ट हो जाती है जैसे कतक (निर्मली बूटी के बीज) गन्दले पानी की गन्दगी साफ करके फिर स्वयं विलीन हो जाते हैं।[२६] वसिष्ठ कहते हैं—जैसे देशकाल और क्रिया के सम्पर्क से पदार्थों में उत्पन्न हुई बुद्धि पदार्थरूप हो जाती है वैसे ही वासना अत्यन्त सूक्ष्म होकर मुक्ति में कारण होती है। जैसे आकाश में उत्पन्न मेघ और कुहरा आदि अत्यन्त सूक्ष्म हो जाने से उसी आकाश के रूप में परिणत हो जाते हैं वैसे ही वासना अत्यन्त सूक्ष्म होकर नित्य-मुक्ति के स्वरूप में परिणत हो जाती है।[२७] आचार्य शंकर के अनुसार यह ज्ञानमयी वृत्ति सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती हुई अपनी सूक्ष्मतम अवस्था में साधक को वहाँ तक ले जाकर छोड़ जाती है जहाँ वह केवल इतना अनुभव करता रह जाता है कि आत्मा एक भी नहीं है तो दो कहाँ से होगा। आत्मा केवल भी नहीं अकेवल भी नहीं। अद्वैत होने से शून्य अशून्य के भेद से रहित समस्त वेदान्तों से सिद्ध आत्मा को मैं कैसे कहूँ?[२८] यही उसकी वह स्वराट् दशा है जिसमें वह जीवन्मुक्त होकर ईंधनरहित अग्नि की तरह दहकता हुआ प्रकाशित होता है।

भारतीय चिन्तन-पद्धति में इन वेदान्ती तत्त्ववेत्ताओं ने यह निष्कर्ष निकाल लिया था कि मनुष्य-जन्म को पाकर हमें अपनी समस्त शक्तियों को इस ब्रह्मनिष्ठा की प्राप्ति के लिए नियुक्त करना है। इस मोक्ष-प्राप्ति से बढ़कर किसी अन्य सुख की कल्पना की ही नहीं जा सकती। अतः कौन ऐसा मूर्ख होगा जो मानुष-जन्म पाकर भी इस मोक्षरूप स्वार्थ की सिद्धि करने की भूल करेगा।[२९] शम्पाक मुनि इस महासुख को पाकर कहते हैं कि कामनाओं के यहाँ से लेकर स्वर्ग तक फैले हुए बड़े-बड़े सुख भी तृष्णाक्षय से होने वाले मोक्षसुख की सोलहवीं कला को भी नहीं

छू सकते।[30] ऋषियों, मुनियों, नीतिज्ञों ने यहाँ भी धर्म, अर्थ, काम की यथेष्ट चर्चा की। किन्तु मोक्ष को ज्येष्ठतम और श्रेष्ठतम ही स्थान दिया। महाभारत के शान्तिपर्व में जहाँ चाचा विदुर और पाँचों पाण्डव भाई यह निर्णय करने बैठे हैं कि धर्म, अर्थ, काम मोक्ष में से कौन श्रेष्ठतम है। तो बाकी भाई जब धर्म, अर्थ, काम के समन्वय पर बल दे रहे होते हैं तो युधिष्ठिर मोक्ष की सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

यो वै न पापे निरतो न पुण्ये, नार्थे न कामे मनुजो न धर्मे।
विमुक्तदोषः समलोष्टकांचनः विमुच्यते दुःखसुखार्थ बुद्धे ।।[31]

आचार्य कहते हैं कि मुक्ति समस्त ससार के मूल्य में भी सस्ती है, अतः इस मुक्ति के लिए साधक को ज्ञान द्वारा प्रयत्न करना चाहिए। भवबन्ध से निकलने के लिए उसे समस्त कर्मों के फंदे से बाहिर आ आत्माभ्यास ही करना होगा। क्योंकि कर्म तो साधना में केवल चित्तशुद्धि के लिए हैं ब्रह्मप्राप्ति के लिए नहीं। ब्रह्मप्राप्ति तो केवल विचार से होगी।[32] क्योंकि मोक्ष केवल वस्तुस्वरूप का ज्ञान है। भ्रान्ति का भी कोई क्योंकि ठोस रूप नहीं है अतः उसकी तोड़-फोड़ या विनाश का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः जगन्मयी भ्रान्ति का परिशोधन केवल दृष्टिकोण के परिवर्तन से ही सम्भव है। यदि मोक्ष का अर्थ यथार्थ जगत् का ध्वंस हो तो प्रथम मुक्ति के साथ ही विश्व का ध्वंस हो जाता।[33]

मुक्ति की इसी धारणा ने समग्र हिन्दूचेतना को प्रभावित किया है। मध्ययुग में यहाँ पनप रही भारतीय एवं अभारतीय सभी विचारधाराओं ने थोड़ा बहुत इससे ग्रहण किया है। जिन भी ज्ञानी सन्तों को विश्वात्मैक्य की अनुभूति हुई उन्होंने इसे अत्यन्त गोपनीय एवं रहस्य कहा। रहस्य शायद इसलिए रहा हो क्योंकि कुछ भी कहने से बात बिगड़ जाने का भय बराबर रहा है। वैदिक युग से लेकर अब तक की ऐसी अनुभूतियों की व्यंजना में सभी को कठिनाई रही है। किसी ने कहा कि आत्मोपलब्धि की यह स्थिति अवर्ण्य है। दूसरों ने कहा "हाँ, हाँ मैंने उसे पा लिया है। उसे जाने बिना अमरत्व का कोई दूसरा रास्ता नहीं।"[34] लेकिन वह है क्या ? जो पाया है इसे वर्णन करने में असमर्थता देखकर सन्तों ने कहा—

कथता बकता सुरता सोई। आप विचारै सो ग्यानी होई ।।[35]

कहने में जो सबसे बड़ा खतरा है उसका संकेत कबीर ने किया है—"जस कथिये तस होत नहीं, जस है जैसा सोई।" सन्तों ने मुक्ति को तत्त्वप्राप्ति की अवस्था कहा है। सद्गुरु ने तत्त्व के बारे में कबीर को जो समझाना था सो समझा दिया, कबीर ने और आगे बढ़कर अपने अनुभव से उस मूलतत्त्व को पूर्णतः ग्रहण कर लिया।[36] उस समग्रता एवं पूर्णता में डूब जाने के आनन्द को सन्तों ने बहुत जगह

व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। पूर्णता की उपलब्धि ने कहा कि अब मौन हो जाना चाहिए। किन्तु प्रज्ञात्मक स्तर पर सत्य के प्रति उनके प्रेम ने उस अनुभव के विषय में कुछ न कुछ कहने को विवश किया। अविद्या का उन्मूलन हो जाने के बाद सन्तों को सर्वत्र भीतर बाहिर जिस पूर्णता का आभास हुआ उन्होंने ऋषियों की शैली में कहा—"खालिकु खलक खलक महि खालिकु, पूरि रह्यो सब ठाई।"[३७] जैसे नदियाँ अपना नामरूप खोकर सिन्धु में विलीन हो जाती हैं ऐसे ही आत्मा के ब्रह्मलीन हो जाने की स्थिति को सन्तों ने भी कई प्रतीकों से समझाया है। घटोपाधि के टूट जाने से घटजल के मूलजल में एकाकार हो जाने की बात को कबीर ने कई तरह से कहा है। ज्योति में ज्योति के विलय की बात तो सगुण भक्तों में मीरा ने भी कही है। कबीर कहते हैं—

"कहै कबीर भवबंधन छूटै, जोतिहि जोति समानी।"[३८]

साधक की दृष्टि में सृष्टि का नानात्व विलीन हो जाने पर अद्वैत की अनुभूति कबीर, दादू, सुन्दरदास, निश्चलदास एवं स्वामी रामतीर्थ में पूर्ण वेदान्तिक है। स्वामी रामतीर्थ का मोक्षानुभव बहुत ही ऊँचे किस्म का है। उन्हें जब सही मानों में अपने बंधन खुल जाने का अहसास होता है तो वे मौज में आकर गाते हैं—

अंदर, बाहर, ऊपर नीचे, आगे पीछे हम ही हम।
उर में सिर में, नर में सुर में, पुर में, गिर में, हम ही हम॥[३९]

सन्त दरिया ने इस महादशा को बिन्दु का सिन्धु में मिलना कहा है। ऐसे अनुभूति-सम्पन्न सन्तों को उन्होंने जीवन्मुक्त का पद दिया है। और जीवन्मुक्त की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि व्यक्ति के आत्मा को वासनाओं के आस्वादन के लिए 'मुर्दे' के समान होना चाहिए, अर्थात् उसे अपनी वासनाओं का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। रूपक की भाषा में ऐसे ही निर्लिप्त आत्मा को 'पारा' कहा गया है। कवि कहता है—

"जेहि विधि पारा मरे न मारा, मलकल मौत सो करै विचारा।"[४०]

जीवन्मुक्त को ही सन्तों ने कहीं-कहीं जीवन्मृत भी कहा है। जीवन्मृत इसलिए कि ऐसे मुक्तात्मा शंकर की दृष्टि में भी संसार की आशा-तृष्णा से बहुत दूर होते हैं—

जीवत-मृतक ह्वै रहै तजै जगत् की आस।
तब हरि सेवा आपण करै, मति दुख पावै दास॥[४१]

किन्तु इस आशा-तृष्णा से छुटकारा ज्ञान से ही होता है। कबीर कहते हैं कि एक दिन ज्ञान की ऐसी आँधी चली कि भ्रम के सब पर्दे उड़ गए। चित्त का

द्वैत-भाव टूट गिरा। मोह नष्ट हो गया। तृष्णा और कुबुद्धि का नाश हो गया।[४२] इस प्रकार मोक्ष में माया के नाश की बात कबीर पहले कहते हैं। यह बाद में मानते हैं कि हमने अमरत्वपूर्ण सुख पा लिया—"अमर भये सुख सागर पावा।"[४३]

जैसा कि हमने पहले संकेत किया है कि शांकर मत में ब्रह्मप्राप्त की दशा के वर्णन के लिए मुक्ति, मोक्ष, ब्रह्मनिर्वाण, अमरत्व निरभैपद, अभयपद परमपद आदि पदों का प्रयोग किया है। हम देखते हैं कि सन्तों ने भी लगभग उन्हीं अर्थों में इन शब्दों का प्रयोग किया है। कबीर ने अपने निर्वाण की स्थिति को यह कहकर कि "ज्यूं जल में जल पैसि न निकसै, यूं ढुरि मिल्या जुलाहा" बाद में कहा था, उससे पहले सन्त जयदेव इस निर्वाण की बात कह चुके थे—

बदति जैदेउ जैदेव कउ रंमिआ।
ब्रह्म निरवाणु लिवलीणु पाइआ॥[४४]

क्रमशः हम सन्त त्रिलोचन, नामदेव, रामानन्द की आदिग्रन्थ में उपलभ्य वाणियों में मुक्ति की अद्वैतवेदान्ती मान्यता को पा सकते हैं। सन्तों की यह परम मान्यता थी कि जगत् अपने बाह्य और आभ्यंतर दोनों रूपों में भयंकर भ्रमजाल है। भ्रम का नाश न 'करम' से न भक्ति से सम्भव है। वह तो ज्ञानाधीन ही है। रैदास का शांकरदर्शन सम्मत बोध देखिए। वे कहते हैं कि ज्ञान के पाने के लिए ही कर्मों का अभ्यास किया जाता है। बात ठीक वैसे ही है जैसे लोग 'घी' पाने के लिए दही मथने का यत्न करते हैं—

गिआने कारन करम अभिआस, गिआनु भइआ तब करमह नासु।
घ्रित कारन दधि मथे सइआन, जीवत मुकुत सदा निरवान॥[४५]

जब तक ज्ञानी के मन में भक्ति की या मुक्ति की भी कामना का स्फुरण होता है तब तक भला साधक के अन्दर का अहंता का मैल कहाँ छूटा? और जब तक नदी के समुद्र में विलय की तरह अहंकार का विलय पूर्ण नहीं हो जाता तब तक अन्तर्दाह खतम कैसे हो सकता है। सन्त रैदास कहते हैं—

जब लग नदी न समुद्र समावै, तब लग बढ़ै हंकारा।
जब मन मिल्यो राम सागर सों, तब यह मिटी पुकारा॥
जब लगि भगति मुकुति की आसा, परमतत्व सुनि गावै।
जहं जहं आस धरत है यह मन, तहं तहं कछू न पावै॥[४६]

मोक्ष के लिए अज्ञान की ग्रन्थि का नाश होना बहुत जरूरी है। अद्वैतवेदान्तियों का कहना है कि मोक्ष कहीं दूसरी जगह नहीं रहता। न ही किसी दूसरे गाँव में उसे पाने के लिए जाना होगा, हृदय की अज्ञानरूप ग्रन्थि का नाश ही मोक्ष है।[४७] इस प्रकार मोक्ष सिवाय आत्मविचार के और क्या रह जाता है। "कहै कबीर जे

आप विचारै, मिटि गया आवन जानां"[४८] तथा "मुकति सोज आपा पर जांने, सो पद कहां जो भरमि भुलानै।"[४९] मुक्ति वस्तुतः कोई बाहिर की चीज़ है भी नहीं। वह तो अपने ही वास्तव रूप का परमबोध है। केवल उसके लिए जो अपेक्षित साधन है वह भी कहीं दूर से नहीं लाना है, अपनी संसार के प्रति उन्मुख वासनाओं को ज्ञानाग्नि में होम कर देना है। साधना, इन्द्रियनिग्रह, योग, कर्म, उपासना, ये सब साधक की चित्तनिर्मलता के लिए अपेक्षित साधन है। ऐसे ही किसी निर्मल-चित्त जीवन्मुक्त ज्ञानी को गीता के स्थितप्रज्ञ के समक्ष बिठाया है। सन्तों के जीवन्मुक्त की स्थिति कबीर के इन पद्यों में देखी जा सकती है—

निरवैरी निह-कांमता, साईं सेती नेह।
विषिया सूं न्यारा रहे, संतनि का अंग एह॥[५०]
असतुति निंद्या आसा छोड़े, तजै मान अभिमाना।
लोहा कंचन सम करि देखे ते मूरति भगवाना॥[५१]

आचार्य शंकर ने जीवन्मुक्ति की जिस धारणा को एक नए परिप्रेक्ष्य में रखा था वह प्रायः मध्यकालीन विचारक सन्तों में उसी रूप में उपलब्ध होती है। सन्त दादू इस जीवन्मुक्ति के इतने कायल हुए थे कि उनका तो यह कहना था कि जिन्होंने जीते हुए मुक्ति, न पाई, उन्होंने मरकर मुक्ति को क्या पाना है। मरने के बाद मुक्ति पाने की बात को घोर मूर्खता स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा—

जीवत पद पाया नहीं, जीवत मिले न जाई।
जीवत जे छूटे नहीं, दादू गये बिलाई॥[५२]

वैष्णवों की मरणोपरान्त मुक्ति का उपहास उड़ाते हुए आगे उन्होंने उसे एक झांसा कहा—

मूवां पीछैं वैकुण्ठ बासा, मूवां सुरग पठावैं।
मूवां पीछैं मुकुति बतावैं, दादू जग बौरावैं॥[५३]

बड़े ही सरल शब्दों में मुक्ति को वे परिभाषित कर डालते हैं – "ब्रह्म जीव का मेला, दादू नूर अकेला"। दादूदयाल को तो हम शांकर वेदान्त की जीवन्मुक्ति के एक महान् व्याख्याता के रूप में अपने सामने पाते हैं। कबीर के अद्वैतज्ञान से दादू का ज्ञान रंचमात्र भी घटकर नहीं। दादू के सामने जब भी विदेहमुक्ति का प्रश्न उठता है वे सीधे कहते हैं कि मेरा मन उसे नहीं मानता। परन्तु जन्म-मरण की पीड़ा से भी उन्हें मुक्त होना है। तो फिर रास्ता क्या है? देखिए—

मरि करि मुकुति जहां लगि जाइ, तहां न मेरा मन पतिआइ।
आगें जन्म लहें औतारा, तहां न माने मना हमारा॥
तन छूटे गति जो पद होइ, मृतक जीव मिले सब कोइ।
जीवत जन्म सुफल करि जांनां, दादू राम मिले मन मांनां॥[५४]

दादू मत के अन्य सन्तों ने भी ऐसे ज्ञानी के प्रति अपना सर्वोच्च आदर प्रदर्शित किया है जिनके समस्त संशय कट गए हैं, और वे ज्ञानरूप होकर रहते हैं। लोकसंग्रही आचार्य शंकर एवं सन्तों ने यह खूब समझा था कि विदेहमुक्ति की स्थिति तो लोगों के लिए आदर्श नहीं हो सकती। क्योंकि उसका लोकान्तर से सम्बन्ध रहने से यहां के लोगों से कोई मेल नहीं बैठता। अतः इस लोक के लिए भी ऐसे आदर्श सन्त की स्थिति को स्वीकार किया—

बंध-मोक्ष जाके नहीं, स्वर्ग नरक नहिं दोइ।
सुन्दर ज्ञानी ज्ञानमय, संशय रह्यौ न कोइ॥
घर बन दोउ सारिखे, ना कछू ग्रहण न त्याग।
सुन्दर ज्ञानी ज्ञानमय, ना कहुं रागविराग॥[५५]

हम सन्तों की मुक्ति की धारणा को मूलतः पकड़ें तो बड़ा सीधा पता चलता है कि वे भी शांकरवेदान्त की तरह अपने स्वरूप की विस्मृति को बन्ध और स्वरूप स्थिति को ही मोक्ष मानते रहे हैं—

सुन्दर भूलो आप कौं, खोई अपनी ठौर।
देहि मांहि मिलि देह सो भयो और को और॥[५६]

सन्तों का तो प्रायः सभी का यह विश्वास रहा है कि जीव नामक उपाधि से युक्त होने से ही हमारी आत्मा परमपद की प्राप्ति से वंचित है। मुक्ति में केवल उस आत्मा का नामरूपोपाधि त्यागकर अपने घर लौटना है। इस घर लौटने के लिए जो पुरुषार्थ है वह अनुभव और ज्ञान के मार्ग पर चलना तथा कथनी के मार्ग का पूर्ण परित्याग है।[५७] मुक्ति वास्तव में मुमुक्षु की सबसे अधिक व्यक्तिगत उपलब्धि है। यह उसकी एकदम अपनी है जिसमें दूसरे का हस्तक्षेप न हो सकता है न सह्य है। जीवन के वृक्ष का यह अनुपम सुस्वादु फल है। किन्तु सन्तवेदान्तियों की फलप्राप्ति सम्बन्धी इन समानताओं को कोई आकस्मिक संयोग नहीं मान बैठना चाहिए। बल्कि गहराई से सोचना चाहिए कि भारत की धरती की मूल चेतना एक है। वह प्रत्येक काल में कालकृत परिवर्तनों को सहकर भी विकृत नहीं हो पाई। विकसी है। अद्वैतचेतना की यह मूलधारा यदि कभी कुछ काल के लिए बिखरी भी है तो पुनः एक हो जाने के लिए। अन्ततः सभी को यही अनुभव हुआ कि रुचिभेद से चाहे साधनाओं में लाख अन्तर पड़ जाए किन्तु अन्त में समस्त लोकरुचिरूप नदियां ब्रह्मरूपसागर में अपने नाम-रूप को खोकर ही चरितार्थ होंगी। शंकर ने इसी से अपने दर्शन का मूल स्वर रखा ब्रह्म-चेतना की उपलब्धि का। समस्त विश्व की साधनाओं को इसी ओर आकर चरितार्थ होने को आतुर उन्होंने देखा था। सन्तों ने भी उस मूलस्वर को छोड़ा नहीं। भाषा भले ही संस्कृत से हिन्दी हो गई हो। फिर भी उन्होंने संस्कृतग्रन्थों के प्रति पूर्ण मान प्रदर्शित

किया है। पर ठीक उसी लहजे में जैसे भगवद्गीता ने, उपनिषदों ने, स्वयं शंकर ने, मुक्ति के क्षेत्र में समस्त वाणी के व्यवहारों का वर्जन करके भी वेदवाणी का परम आदर किया। श्रुति को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चार स्तनों वाली कामधेनु माना। ज्ञानियों को भले ही वेदान्तरूप चौथा स्तन ही मात्र प्रीतिकर रहा हो। सन्तों की श्रुतिज्ञान के प्रति आस्था का विवेचन हम अन्यत्र करेंगे। यहाँ केवल मुक्ति के प्रसंग में कुछ एक बातें और भी गम्य हैं। कि आजकल सिख-चिन्तन को इस्लामी एकेश्वरवादी परम्परा के समीप खींच ले जाने का आग्रह जारी है। आग्रह में हम वाणी के मूलस्वर को परखना बन्द कर देते हैं। नानक की वाणी में हमें यथास्थान जीवन्मुक्त, स्थितप्रज्ञ के पूर्ण लक्षण वेदान्तोक्त मिलते हैं। क्या कारण है कि हम कुछ एक लचर तर्क देकर यह कहें कि स्थितप्रज्ञ की परिभाषा सर्वत्र समान है। हिन्दू मुस्लिम का इसमें कोई प्रश्न नहीं। गुरु तेगबहादुर ब्रह्मीभूत साधक का वेदान्तसमत यह रूप मानते हैं—

जो नर दुखु मै दुखु नहीं मानै।
सुख सनेहु अरु मैं नहि जाकै, कंचन माटी मानै॥
नह निंदिआ नह उसतति जाकै, लोभु मोहु अभिमाना।
हरख सोगत रहै निआरउ, नाहि मान अपमाना॥
आसा मनसा सगल तिआगै, जगते रहै निरासा।
कामु क्रोधु जिह परसै नाहनि तिह घट ब्रह्मनिवासा॥[५८]

जीवन्मुक्त का यह लक्षण शुद्ध वेदान्ती परम्परा की स्वीकृति है जिसमें जीते जी समस्त कामनाओं को मारकर ब्रह्म में लीन होने की यह विधि कही है—

नानक लीन भइउ गोबिंद सिउ, जिउ पानी सिउ पानी॥[५६]

मोक्ष में होने वाले जीव ब्रह्म के अभेद की इतनी मार्मिक स्वीकृति है कि वे बिल्कुल भी जीव-ब्रह्म में भेद मानने को तैयार नहीं। एक भ्रम का पर्दा है जिसके उठते ही सब जहाँ का तहाँ रह जाता है। गतियाँ शान्त पड़ जाती हैं। दादू के प्रमुख शिष्य रज्जब का कहना है—

रज्जब जीव-ब्रह्म अंतर इता, जिता बिता अज्ञान।
है नाहीं निर्णय भया। परदे का परवान॥[६०]

एक बार फिर से निरीक्षण करते हुए मुझे लगता है कि आचार्य के जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त को सन्तों ने आदि से अन्त तक ग्रहण किया है। कबीर से लेकर स्वामी रामतीर्थ तक इस धारणा के प्रति सन्तों का समान मोह है। सन्त तुलसी साहिब तो ऐसी साधना के पक्ष में हैं जो अभी यहीं इसी जीवन में मुक्ति दिखा दे—

जीवन्मुक्ति पलक में पावै। सो संजम हमरे मन भावै।
जीवत मुक्ति देखिये आंखी। ऐसी विधि कोइ कहिये भाखी॥[६१]

इस जीवन्मुक्ति में सन्तों ने दो बातों की ओर संकेत किया है। एक तो जगत् को जगत्रूप में न देखकर ब्रह्मरूप में देखना। दूसरे उच्च नैतिकता से सन्त का जीवन प्रेरित होना चाहिए। सन्त की ब्रह्मदृष्टि और नैतिकता दोनों ही एक दूसरे पर आश्रित हैं। सन्त सुन्दरदास इन दोनों पक्षों की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

जब मन देषै जगत् कौं जगत् रूप ह्वै जाइ।
सुन्दर देषै ब्रह्म कौं तब मन ब्रह्म अबाई॥
शुद्ध हृदय जाको भयो, उहै कृतारथ जान।
सोइ जीवन्मुक्त है, सुन्दर कहत बषान॥[६२]

हम पीछे कह आए हैं कि शांकरवेदान्त में विदेहमुक्ति कोई समस्या नहीं। मृत्यु एक सामान्य प्राकृतिक क्रिया है। उसका सन्त की मुक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं। प्रारब्धकर्म के नाश होने के साथ ही देहपात होना आवश्यक है। सन्त जीवन्मुक्ति पाकर अन्त में भी ब्रह्मलीन कैसे होता है। इसका परिचय देते हुए शांकर वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान् सदानन्द कहते हैं— ("किं बहुनाऽयं देहयात्रा-मात्रार्थमिच्छानिच्छापरेच्छा प्रापितानि सुखदुःखलक्षणान्यारब्ध फलान्यनुभवन्नन्तः करणाभासकादीनामवभासकः संस्तदवसाने प्रत्यगानन्दपरब्रह्मणि प्राणे लीने सत्यज्ञानतत्कार्यसंस्कारणामपि विनाशात्परमकेवल्यमानंदैकरसमखिलभेदप्रतिभास-रहितमखण्ड ब्रह्मावतिष्ठते। न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समविलीयन्ते, विमुक्तश्च विमुच्यत इत्यादि श्रुतेः") कि प्रारब्ध कर्मभोग से समाप्त होते ही ज्ञानी के प्राण ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। कुछ भी शेष नहीं रहता। उसके प्राण कहीं उत्क्रमण नहीं करते। वह यहीं का यहीं विलीन हो जाता है।[६३] कबीर के अनुसार पूर्ण शरीरान्त होने के कुछ समय पूर्व ही विदेहमुक्ति की अवस्था का प्रारम्भ हो जाता है। इस अवस्था का आरम्भ होते ही साधक की शारीरिक क्रियाओं में निष्क्रियता आ जाती है। वह हँसना-बोलना, चलना-फिरना आदि शारीरिक क्रियाओं के प्रति उदासीन हो जाता है। अपनी अन्तरात्मा में ही ध्यानावस्थित रहता है—

"हंसे, न बोले उन्मनी चंचल मेल्हा मारि।
कहे कबीर भीतर भिद्या सद्गुरु का हथियार॥
× × ×
राम रमें जे जन मूवा, कहै कबीर अविनाशी हूवा"॥[६४]

अन्त में हम कुछ एक सन्तों की मोक्षोपलब्धि एवं सत्यदर्शन की अनुभूतियों का यहाँ निदर्शन करते हैं। आत्मा और ब्रह्म की साक्षात् अनुभूति होने पर किसी वृत्ति अथवा अन्य किसी बाह्यज्ञान की कोई अपेक्षा नहीं रहती। मध्यस्थ सभी अनावश्यक हो जाते हैं। सन्त आनन्दधन अपने ऐसे आत्मदर्शन को एक वैदिक ऋषि की तरह कह उठते हैं—

साधु भाइ अपना रूप जब देखा।
करता कौन कौन फुनि करनी, कौन मांगेगो लेखा।
साधु संगति अरु गुरु की कृपा तें, मिट गइ कुल की रेखा।
आनन्दधन प्रभु परचय पायो, उतर गयो दिल मेखा।[६५]

स्वामी रामतीर्थ में आत्मानन्द की मस्ती लगभग हमेशा आती रहती थी। उनकी आत्मानुभूतियाँ अत्यन्त ही सहज और निर्बन्ध होती थीं। उनकी बहुत सी रचनाएँ तो कई बार आत्मोन्माद की कोटि तक पहुँच गई हैं जिसे परशुराम चतुर्वेदी ने (A state of balanced recklessness) यानी संतुलित प्रमाद की दशा कहा है। अपनी मुक्तता के उल्लास को वे एक जगह व्यक्त करते हैं—

यह डर से मिहर आ चमका, अहाहा अहाहा।
उधर मह बीम से लपका, अहाहा अहाहा।
हवा अठखेलियां करती हैं, मेरे इक इशारे से।
है कोड़ा मौत पर मेरा, अहाहा अहाहा।
इकाई जात में मेरी असंखों रंग है पैदा।
मजे करता हूं मैं क्या क्या, अहाहा अहाहा।[६६]

वस्तुतः मुक्ति में आत्मा का पूर्ण प्रसार है। इसी से उसमें सनातन आनन्द है। मुमुक्षु के अन्दर धीरे-धीरे आनन्द का प्रकाश कैसे बढ़ता चलता है, इसे पंचदशीकार ने क्रम से स्पष्ट किया है। पहले साधक को ज्ञान में आनन्द की उपलब्धि होती है जिससे समस्त दुखों का अभाव हो जाता है। फिर उसके अन्दर एक ऐसी परिपूर्णता आ जाती है कि उसे अपनी समग्र कामनाओं की पूर्ति का सुख अनुभव हो जाता है। यह एक महान् तृप्ति का सुख है। इसमें वह अपनी साक्षीचेतना से जैसे अपनी देह के समान ही सब देहों में भोगों को देखा करता है।[६७] समस्त विश्व का भोग उसका हो जाता है। इस प्रकार दुखाभाव और सर्वकामावाप्ति का सुख पाकर वह अपनी कृतकृत्यता पर मुग्ध होकर कह उठता है—"मैं धन्य हूँ, धन्य हूँ जो आज अपने स्वरूप को पूर्णतया जान गया हूँ। ब्रह्मानन्द मेरे में स्वयं प्रकाशित हो उठा है। मेरे दुख, मेरा अज्ञान, मेरे कर्त्तव्य सब एकबारगी ही नष्ट हो गए हैं। आज मेरे समस्त पुण्य एक बार ही रंग लाए हैं। मैं विक्षेप और समाधि

से बाहिर चला आया हूँ। क्योंकि विक्षेप और समाधि तो विकारी मन में रहते हैं। अब मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, यदि लोकानुग्रह की आकांक्षा से कुछ करूँ भी तो मेरी कोई क्षति नहीं। मेरी बुद्धि अब विष्णु का ध्यान करे या ब्रह्मानन्द में डूब जाए। मैं तो साक्षी हूँ न कुछ करता हूँ न करवाता हूँ।"[१८] ऐसे ही कृतकृत्य हुए ज्ञानी लोग निर्भय होकर मृत्यु का भी अतिथि के समान स्वागत करते हैं।[१९]

सन्दर्भ

१. संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे

२. अमरकोष

३. "गमन प्रयोजकस्य मृत्योर्विनाशाद् गमनानुपपत्तेरत्रैवहि प्रदीपनिर्वाणवत्सर्व-बन्धनोपशमाद् ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः" तथा "ब्रह्मात्मप्रतिपत्या प्रभिन्नसमस्ताविद्यादिग्रन्थेर्जीवत एक ब्रह्मभूतस्य विदुषो न गतिर्विद्यत इत्युक्तमत्र ब्रह्म समश्नुत इत्युक्तत्वात्।"

—कठ उ० २-३-१४, १५ पर शांकर भाष्य

४. मुण्डक उ० ३-२-८ तथा प्रश्न उ० ६-५

५. यदा सर्वे विमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः।
तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ —कठ उ० २-३-१४

६. भारतीय दर्शन, भाग-१, पृ० २१७-१८

७. श्री शंकराचार्य का आचार दर्शन, पृ० १७१

८. "स एवं लक्षणो विद्वान् जीवन्नेव स्वाराज्येऽभिषिक्तः पतितेऽपि देहे स्वराडिव भवति।" —छान्दोग्य ७-२५-२ पर शांकर भाष्य
तथा—"जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्ड ब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधन द्वारा स्वस्वरूपाखण्ड ब्रह्मणि साक्षात्कृते ज्ञान तत्कार्यसंचित कर्म संशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिल बन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः।"

—वेदान्तसार, पृ० ६७

९. 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा', प्रो० हिरियन्ना, पृ० ३७८-७९

१०. एषा ब्राह्मीस्थिति पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

—भगवद्गीता, अ० २, श्लोक ७२

११. "निस्पृहः शरीरजीवनमात्रेऽपि निर्गतास्पृहा यस्य सः, निर्ममः शरीरजीवन मात्राक्षिप्त परिग्रहेऽपि मम इदम् इति अभिनिवेशवर्जितः, निरहंकारः विद्यावत्वादिनिमित्तात्मसंभावनारहितः।

—वही, अ० २, श्लोक ७१ पर शांकर भाष्य

१२. शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः ।
य: सचित्तोऽपि निश्चित्तः सजीवन्मुक्त उच्यते ।।
-- योगवासिष्ठ, उत्पत्ति प्रकरण ६।१२

१३. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० ३७६

१४. "तण्हाय विप्हानेन निब्बाणं इति वुचति" —सुत्तनिपात (परायण वग्ग)

१५. 'निब्बाण पद मच्चुतं' —वही

१६. गीता प्रबन्ध (अरविन्द), पृ० ३६८

१७. वही, पृ० ३७७

१८. भगवद्गीता अ० ५, श्लोक २४, २५, २८ पर शांकर भाष्य ।

१९. "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति इत्यादि श्रुतेः । निरतिशयं सुखं च ब्रह्मैव । आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् इति श्रुतेः ।"
—वेदान्तपरिभाषा, पृ० ३५२-५३, चौखम्बा विद्या भवन, सस्कृत ग्रन्थमाला प्रकाशन ।

२०. वही

२१. 'न तु लोकान्तरावाप्तिः' —वही

२२. "अविद्यानिर्मितो हि प्रपंचः स्वप्नप्रपंचवत्, प्रबोधनेनैव ब्रह्मविद्याया अविद्यायां विलीनायां स्वयमेव विलीयते ।" —शास्त्रदीपिका, पृ० ३५६

२३. 'द्वयोरेकतरस्य बा औदासीन्यमपवर्गः' —सांख्य सूत्र ३-६५

२४. 'प्रपंच संबन्ध विलयो मोक्षः'
—भारतीय दर्शन (बलदेव उपाध्याय, १९६६ संस्करण), पृ० ३३३

२५. योगवासिष्ठ (कल्याण अंक), निर्वाण प्रकरण, सर्ग ५३, पृ० ५६६

२६. आत्मबोध (शंकरकृत), श्लोक ५

२७. योगवासिष्ठ, निर्वाण प्रकरण, सर्ग ३१, ३२, कल्याण अंक, पृ० ५४४

२८. शंकरकृत दशश्लोकी पर सिद्धान्तबिन्दु व्याख्या, श्लोक १०

२९. इतः कोऽन्वस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति ।
दुर्लभं मानुषं देह प्राप्य तत्रापि पौरुषम् ।। —चूड़ामणि, श्लोक ५

३०. यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ।।
—महाभारत (गीता प्रेस प्रकाशन), शान्तिपर्व, पृ० ४८७५

३१. "पाप-पुण्य, अर्थ-काम, मिट्टी-सोना, दुख-सुख, सबमें मुक्त पुरुष अनासक्त बुद्धि वाला होता है ।" —वही, पृ० ४८५१

३२. विवेक चूड़ामणि, श्लोक ८, ९, १० तथा
चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किंचित् कर्मकोटिभिः ।। —श्लोक ११

३३. Indian Philosophy (by Dr. Radha Krishanan) Vol. 2, p. 583
३४. "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्, तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽय-
नाय।" —ऋग्वेद, पुरुषसूक्त
३५. कबीर ग्रन्थावली, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पद ४२, पृ० १०२
३६. सतगुर तत कह्यो विचार।
मूल गह्यौ अनभै विस्तार ॥ —वही, पद ३८६, पृ० २१६
३७. आदिग्रन्थ, राग विभास प्रभाती, पद ३
३८. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १११
३९. कल्याण (सन्तवाणी अंक), पृ० ४८७
४०. सन्त कवि दरिआ : एक अनुशीलन, धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, भाग-१, पृ० ८२
४१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६४
४२. सन्तकाव्य, पृ० १७९
४३. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०२
४४ सन्तकाव्य, पृ० १३६
४५. वही, पृ० २१२
४६ वही, पृ० २१६
४७. मोक्षस्य नहि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ॥
४८. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९०
४९. वही, पृ० २३३
५०. वही, पृ० ५०
५१. वही, पृ० १५०
५२. सन्तसुधासार, खण्ड-१, पृ० ४९४
५३. वही
५४. सन्तकाव्य, पृ० २८७
५५. सन्तसुधासार, खण्ड-१, पृ० ६५१
५६. वही, पृ० ६४९
५७. जीव जात से बीछुड़ा, धर पंचतत्त का भेख।
दरिया निज घर आइया, पाया ब्रह्म अलेख ॥
प्रथम ध्यान अनुभौ करै, जासे उपजै ग्यान।
दरिया बहुते करत है, कथनी में गुजरान ॥
—सन्तसुधासार, खण्ड-२, पृ० १०९
५८. सन्तकाव्य, पृ० ३४६
५९. वही, पृ० ३४७

६०. वही, पृ० ३७९
६१. वही, पृ० ५४२
६२. वही, पृ० ३८९
६३. वेदान्तसार, पृ० ७०
६४. कबीर दर्शन (डॉ० रामजीलाल सहायक), पृ० २४६-४७
६५. सन्तकाव्य, पृ० ३३०
६६. वही, पृ० ५६८
६७. पंचदशी १४वें में विद्यानन्द प्रकरण में श्लोक ३५
६८. वही, श्लोक ५८-६३, ५२, ५५
६९. "कृतकृत्याः प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवातिथिम् ।"

१२
ओंकार

प्राचीन हिन्दू परम्परा में ज्ञानी सन्तों का अत्यधिक आदर होता था। ग्रामों में बसे हुए समाज में जब कोई संन्यासी महात्मा आता, तो सभी वर्णों के लोग अपने-अपने अधिकार के अनुसार उनकी सेवा करते थे। आस्थाप्रधान समाज में सन्तों को भगवान् का रूप ही मानकर लोग पूजते थे। सेवा से प्रसन्न होकर ये संन्यासी या सन्त वेदों, शास्त्रों, पुराणों तथा अपने अनुभवों का सार अपने भक्तों में वितरित किया करते थे। मध्ययुग में भारत में कोई छापेखाने नहीं थे जो धड़ाधड़ अद्वैतवेदान्त की हिन्दी में किताबें छपतीं। फिर परिव्राजक संन्यासी पुस्तकें लिखने वाले कोई पेशेवर लेखक भी नहीं थे। आम लोगों को वे हिन्दी अथवा अन्य लोकभाषाओं में ही साधना का उपदेश किया करते थे। संस्कृत में ग्रन्थ लिखना उनकी सांप्रदायिक परम्परा थी। ऐसे वीतराग महात्माओं के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर गाँव के गाँव उनके दर्शनों को आते थे, तथा उनके उपदेश एव ज्ञानसम्बन्धी चर्चाओं से तृप्त होकर लौटते थे। गाँव गाँव, घर घर भिक्षा के लिए घूमने वाले इन परिव्राजकों का गृहस्थ जनता से सम्बन्ध संस्कृत के कारण न था। लोकभाषा हिन्दी के कारण ही था। हिन्दी कल तक चिन्तन-प्रधान साहित्य की भाषा हिन्दी वालों में नहीं मानी जाती थी। गम्भीर चिन्तन (घाट) के लिए सारा देश संस्कृत का मुँह देखता था जिसमें जटिल से जटिल दार्शनिक तत्त्वों का वैज्ञानिक रीति से प्रतिपादन किया गया था। लेकिन लोकसम्पर्क-भाषा के रूप में हिन्दी संस्कृत की छाया लेकर अखिल भारतीय धार्मिक व्यवहार की भाषा बनती जा रही थी। इसी जनभाषा हिन्दी के माध्यम से हमारे हिन्दी सन्तों के हाथ में वेदवेदान्त की गहन अनुभूतियाँ आई थीं जिनका उन्होंने अपनी व्यक्तिगत साधनाओं से अभेद स्थापित कर मूलतः हिन्दी अद्वैतवेदान्त की सृष्टि की।

हिन्दी के सन्तों में ओंकार या प्रणव की भी बहुत चर्चा देखने को मिलती है। यद्यपि बाद में कुछ एक परवर्ती सन्तों ने अपने सम्प्रदाय-प्रवर्तन के फेर में इस प्रणव की व्याख्या में कुछ फेरफार भी किया है किन्तु मूलतः वे अद्वैतवेदान्त से बाह्य नहीं। सन्तों की नामोपासना तक को आचार्यशंकर द्वारा विहित ओंकारो-

पासना की तथा हिन्दुमात्र में प्रतिदिन पठनीय विष्णुसहस्रनामस्तोत्र की व्याख्याओं एवं भाष्यों में देखा जा सकता है। किन्तु इससे भारतीय सन्त परम्परा में सन्तों का स्थान कोई हल्का नहीं हो जाता। परम्परा को नए सिरे से युगप्रवाह से आई ग्लानियों से मुक्त करके चमका देना भी कोई छोटी क्रान्ति नहीं। केवल कुछ नूतनता के मोह से अभिमत हो नए सम्प्रदायों का प्रवर्तन ही क्रान्ति नहीं होती। ऐसा प्रत्येक व्यक्ति एवं समाज क्रान्तिशील होता है जो अपनी मूलचेतना के विकास को अवरुद्ध करने वाली जड़ता एवं ग्लानि की शृंखलाओं से विद्रोह करता है। ऐसे ही सन्तों ने भी अपने और समाज के ऐसे रूपों से विद्रोह किया जो उनके अध्यात्म-विकास में बहुत बड़ी अड़चनें थीं।

वस्तुतः आचार्य शंकर ने जो एक क्रान्तिकारी कदम उठाया था उसमें समस्त बिखरी हुई भारतीय चिन्तनाओं को एक माला के रूप में गूँथकर एक ऐसा दृष्टिकोण प्रदान करने की प्रेरणा थी जो यहाँ के लोगों की नसों में खून के साथ दौड़ रहे अध्यात्मचिन्तन सम्बन्धी मतभेदों को दूर कर सके। उनके सामने वैदिक गायत्री, ओंकार, वाक् आदि के रूप में नामोपासना भी थी, पुराणों एवं तन्त्रों में क्रमशः वर्णित अपने इष्ट के नाम की एकमात्र आराधना, तथा आराधना करते करते फिर नाम और नामी में अभेद अनुभव करना एवं नाम के माध्यम से अपने इष्ट को सर्वोपरि ब्रह्म के रूप में अनुभव करना यह भी सामने थी। तीसरे उनके सामने वैय्याकरणों का ऐसा प्रकाण्ड पण्डितमण्डल भी था जो नाम या शब्द को अनादि अनन्त ब्रह्म मानकर उसके विवर्त को ही जगत् मानने के पक्ष में था।[1] इनकी दृष्टि में वेदरूप जो शब्द है यह समस्त जगत् उसी का विस्तार है शब्दरूप ज्योति सर्वप्रथम वेदत्रयी के रूप में ही प्रकट हुई।[2] अन्ततः सारा जगत् इसी शब्द में लीन हो जाएगा।[3]

इन शब्दब्रह्मवादियों के मत में पश्यन्ती वाक् ही ब्रह्म है। वही अविद्याद्वारा विविध रूपों में भासित हो रही है। अतः बोधरूपी खड्ग से अविद्या को काटकर समस्त प्राणियों में विचरण करने वाले इस शब्दब्रह्मरूपी सूर्य में ज्ञानी प्रवेश करते हैं।[4] आचार्य शंकर इस रहस्य को पूर्णतः जानते थे कि शब्दातीत अकथनीय परमपद को पाने के लिए हमें शब्द का ही सहारा लेना होगा। इसी से श्रुतिवचन, गुरुवचन, समस्त शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य उपासना-पद्धतियों को उन्होंने यथोचित महत्व अपने सम्प्रदाय में दिया है। श्रुति की ओंकारोपासना का उन्होंने अपने दर्शन में सर्वत्र ही विशेष विवेचन किया है।

यहाँ पर हम उनके ओंकारोपासना-सम्बन्धी दृष्टिकोण को माण्डूक्य, छान्दोग्य, तैत्तिरीय आदि उपनिषदों एवं भगवद्गीता पर किए उनके भाष्यों के अनुसार विवेचित करेंगे। ओंकार के दो रूपों का उपनिषदों में उल्लेख है। एक—मात्रारहित ओंकार है जिसमें समस्त विश्वप्रपंच अद्वैतरूप से रहता है। यह परब्रह्म

का सर्वोच्च पारमार्थिक रूप है।[५] दूसरा ओंकार का मात्रावाला रूप है। इसमें तीन मात्राएँ हैं—अ, उ, म्। यह ब्रह्म का ईश्वररूप है। इसी त्रिपाद् ब्रह्म का उपास्यरूप में विवेचन किया जाता है। विश्वरचना के पहले एक घोर अर्थरहित ध्वनि होती है उसे ऋषियों ने ओंकार कहा है। यही ध्वनि जब फूटती है, तो इसके उस उन्मेष से आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी तत्त्व आदि का क्रमशः आविर्भाव होता है। इस प्रकार ओंकार का यह मात्रावाला रूप सृष्टि का आदिरूप है। सृष्टिकर्म में प्रवृत्त ईश्वर का यह प्रथम पवित्र नाम है। अतः ओंकार का उच्चारण ईश्वर का ही स्मरण है। आचार्य कहते हैं कि पर और अपर ब्रह्म के रूप में उपासना किया जा रहा ओंकार शब्दमात्र होता हुआ भी परापर ब्रह्मप्राप्ति का साधन है।[६] श्रुति कहती है—'ओम् ही ब्रह्म है, ओम् ही सर्वरूप है।' समस्त वेदशास्त्र इसी ओम् का ही गान करते हैं।

ओंकार, प्रणव या उद्गीथ वाणी के सारे विश्व में हुए प्रसार का ही एक संक्षिप्त रूप है। समस्त वाक्तत्त्व का प्रतिनिधि यह ओंकार है—"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं तदस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितं, सर्वं हीदं नामनि इत्यादि श्रुतिभ्यः।"[७] आज यह सभी स्वीकार करते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में केवल नाद था, ध्वनि थी। × × × इसी नाद को हमारे ऋषियों ने सृष्टि के आदि से लेकर अन्त तक सर्वव्याप्त माना।[८] स्मृतियों ने इसी से ओंकार के उच्चारण से पूर्व स्वयं को तीन प्राणायामों से पवित्र करने की आज्ञा दी।[९] भगवान् कृष्ण ने कहा कि ओम् इस एक अक्षररूप ब्रह्म का अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप का लक्ष्य कराने वाले ओंकार का उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थरूप मुझ ईश्वर का चिन्तन करता हुआ जो पुरुष शरीर को छोड़कर जाता है वह परमगति को पाता है।[१०]

मात्रावाले ओंकार की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि ओंकार की तीन मात्राएँ अ, उ, म् विषयी के अन्दर जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं से सम्बद्ध होकर स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर (जीवात्मा) के रूप में अवस्थित हैं। तीनों समष्टि (विषय जगत्) के अन्दर ब्रह्माण्ड यानी स्थूल जगत् (विराट् या वैश्वानर) एवं विश्वमन (हिरण्यगर्भ) तथा आत्मप्रज्ञ (ईश्वर) के रूप में क्रमशः अवस्थित हैं। इस प्रकार समस्त व्यष्टि-समष्टि जगत् ओंकार की तीन मात्राओं का ही प्रसारमात्र है।[११]

इस प्रकार ओंकार के समस्त और व्यस्त दो रूप माने गए हैं। समस्त रूप में यह ब्रह्म या पराशक्ति का वाचक है, और अर्धमात्रा-समेत ओम्, ब्रह्म का वाच्य और वाचक दोनों ही है।[१२] महिम्नःस्तोत्र में भगवान् शिव के पर और अपर रूपों को ओंकार के दोनों रूपों से मिलाया है।[१३]

पौराणिक साहित्य में तो ओंकार की तीन मात्राओं को क्रमशः कभी त्रिलोकी, कभी तीन वेद, तीन अग्नियाँ, तीन काल, तीन कर्म, तीन गुण कहा गया है, तो कहीं अकार को ब्रह्मा, उकार को विष्णु तथा मकार को शिव कहा गया है। अर्धमात्रा परात्मा है। वाच्य परब्रह्म है और वाचक ओंकार है। मूलतः वाच्य-वाचक में कोई भेद न होने से यथार्थ मे दोनों एक कहे गए है।[१४] इस प्रकार नाम और नामी, प्रतीक और उसके मूलदेवता में उपासना क्रम के अन्दर अभेद मान लिया जाता है।

सन्तों की नामसाधना मूलतः केवलाद्वैत की ओंकारोपासना से प्रभावित है। सृष्टि के आदि में, मध्य में, अन्त में व्याप्त एक अनाहतनाद की चर्चा उन्होंने स्थान-स्थान पर की है। इसी को उनकी शब्दसाधना कहा जाता है। उनकी यह शब्दसाधना वैष्णवों की नामसाधना से एकदम भिन्न है। वैष्णवों की तरह वे नाम-साधना को बहिर्मुखी न मानकर अन्तर्मुखी मानते हैं। प्रक्रिया की दृष्टि से वे योग की नामसाधना के अधिक समीप है। किन्तु नामसाधना के फल की दृष्टि से वे केवलाद्वैती ओंकारोपासना के ऋणी हैं। एक स्थूल वैषम्य जो दृष्टिगत होता है, वह यह है कि उन्होंने कहीं-कहीं ब्रह्म के अपर या ईश्वररूप को ओंकार, और परात्पर रूप को राम का नाम दिया है। किन्तु स्वरूप-कथन में कोई अन्तर नहीं पड़ा। बल्कि 'राम' शब्द को उसके व्यस्तरूप से हटाकर ओंकार के समान ही नाम को संश्लिष्ट रूप देने के लिए कहीं उसे 'ररंकार', कहीं 'ररो ममौ दोय अंक' कहकर सन्तुष्ट हुए। जैसे दरिया साहिब के दो दोहों को हिन्दी के एक विद्वान् ने उद्धृत कर कहा है[१५] कि योग अथवा साधना के क्षेत्र में सन्तों की यह शब्दसाधना एक नूतन आविष्कार है।[१६] दोहे ये हैं—

मन मेरु से बावडें, त्रिकुटी लग ओंकार।
जन दरिया इन के परे, ररंकार निरधार॥
जन दरिया आकाश लग, ओंकार का राज।
महासुन्न जिसके परे, ररंकार महाराज॥[१७]

किन्तु ओंकार के त्रिपाद्स्वरूप का देह में त्रिकुटी पर्यन्त विस्तार तथा उसके परे नाम, शब्द, राम या ररंकार को मानने में कोई तथ्यों में फेरफार नहीं होता। साधना का स्वरूप वही रहता है। सन्तों को वस्तुतः किसी नये आविष्कार का मोह भी रहा होगा, यह विचारणीय बात है। सत्य को सनातनरूप में मानने वाले भारतीय महर्षियों ने कभी नये आविष्कार की बात भी नहीं सोची। वे तो यही कहते हैं कि जब वे पैदा हुए तो सत्य समूचे तौर पर था ही। उन्होंने केवल उसे अनुभव ही किया है। परम्परा अनन्त है। हर ऋषि, सन्त, उस महनीय परम्परा की कड़ीमात्र है। इसीलिए बड़े-बड़े ज्ञानियों ने ज्ञानप्राप्ति के बाद कभी अपने नाम की प्रसिद्धि चाही नहीं। अपनी समस्त उपलब्धियों को गुरुओं के नाम

के साथ जोड़ते रहे। अभिप्राय यह कि सन्तदरिया को या अन्य सन्तों को नये आविष्कारक न मानकर महान् अनुभवी के रूप में लेना चाहिए। यही कारण है कि एक ही शब्द के प्रति उनकी भिन्न-भिन्न अनुभूतियां हैं। एक ओर वे कहते हैं कि—

रंजी सास्तर ग्यान की, अंग रही लिपटाय।
सतगुर एक ही सब्द से, दीन्ही तुरत उड़ाय॥
सबद गहा सुख ऊपजा, गया अंदेसा मोहि।
सतगुर ने किरपा करी, खिड़की दीनी खोहि॥[१८]

दूसरी ओर वे शब्द को बहुत निचले स्तर पर मानते हैं—

मन बुधि चित पहुंचे नहिं, सब्द सकै नहिं जाय।
दरिया धन वे साधवा, जहां रहे लौ लाय॥[१९]

इन दोहों के देखने से पता चलेगा कि सन्तों ने भी वाक् या शब्द को कभी अपर कभी परब्रह्म के रूप में देखा है। अपररूप में वही विश्वरूप है, प्रपंचरूप है। पररूप में व्यवहार-वाह्य, शान्त, निरपेक्ष।

ओंकार के पर-अपर रूप का 'सबद को अंग' में दादू ने पूर्णतः वेदान्ती ढंग पर वर्णन किया है। कहते हैं कि एक बार अकबर बादशाह ने दादू से पूछा कि सृष्टि का मूल क्या है ? तब दादू ने कहा कि ओंकार अथवा शब्द ही सृष्टि का मूल है। उसी से समस्त प्रपंच एवं पांच भूतों का आविर्भाव हुआ है। दादू ने यहां ओंकार, शब्द और नाद इन तीनों शब्दों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त करते हुए कहा है—

पहली कीया आप थें, उतपति ओंकार।
ओंकार थें ऊबजै, पंच तत आकार॥
निरंजन निराकार है, ओंकार आकार।
दादू सब रंग रूप सब, सब विधि सब विस्तार॥
एक सबद सब कुछ किया, ऐसा समरथ सोइ।
आगें पीछैं तौ करै जे बल हीणा होई॥[२०]

इस प्रकार दादू भी शब्दातीत पद तक जाने के लिए शब्दोपासना के पक्षपाती हैं। आचार्य ने तो ओंकार के इस व्याख्यान को वेदान्तों का निचोड़ कहा था।[२१]

जप चाहे ओंकार का है या रामनाम का, दोनों का फल सन्तों की दृष्टि में ब्रह्मभाव की प्राप्ति है—

राम मंत्र से रामदास, जीव होत है ब्रह्म।
काल उरग को गरल मिट, जन्म मरण नहीं भ्रम्म॥[२२]

केवलाद्वैती साधना में ओंकार के जप का पूर्ण विधान है। इसके जप से साधक के अज्ञान का नाश तथा संचित ज्ञान की रक्षा का फल प्राप्त होता है। ज्ञानकामी व्यक्ति के लिए जप का विधान करते हुए शंकर कहते हैं—'हे ओंकार! तुम ब्रह्म का प्रतीक हो सामान्य अज्ञानीजन तुम्हारे महत्त्व को नहीं जानते।"[२३] नामजप या मन्त्रजप को सन्तों ने जो सर्वाधिक महत्त्व दिया है उसका कारण है कि ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति का स्वाध्याय एवं शास्त्र-चिन्तन वाला मार्ग उनके लिए सुलभ न था।[२४] अतः नामजप एवं 'सोऽहं' आदि अजपाजप जैसी सुकर साधनाओं को को ही उन्होंने अद्वैतवेदान्त से ग्रहण किया है। कबीर इस नामजप को सबसे बड़ा अज्ञान या भ्रमनाशक साधन मानते हैं—

मोर तोर की जेवरी बंटि बंधा संसार।
दास कबीरा क्यूं बचे, जाके नाम अधार॥[२५]

सिक्ख सन्तों ने ओंकार को यद्यपि '१' चिह्न लगाकर स्वीकार किया है। तो भी उन्होंने उसे सर्वोच्च परमात्मा का ही स्वरूप कहा है। 'इक ओंकार सति-गुर प्रसादि' गुरु-वाक्य में ओंकार का अर्थ सर्वोच्च सत्ता है। इसी के आधार पर आगे सिख सम्प्रदाय में नामजप की पद्धति विकसित हुई। किन्तु सन्तों में एक ऐसे सन्त भी हैं जिन्होंने शुद्धरूप से केवलाद्वैती ढग पर ओंकार का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। निश्चलदास दादू सम्प्रदाय में सुन्दरदास के बाद दूसरे शास्त्र में पारंगत सन्त हैं। बिल्कुल शास्त्रीय ढंग से चर्चा करते हुए उन्होंने अपने विचारसागर नामक ग्रन्थ की पचम तरंग में प्रणव के रहस्य, उसकी उपासना के फल आदि के रहस्य को मार्मिक ढंग से उद्घाटित किया है। उन्होंने शंकर के शिष्य सुरेश्वर के पंचीकरणवार्तिक की ओंकारोपासना सम्बन्धी दृष्टि की चर्चा करते हुए बताया है कि प्रणवोपासना ही एकमात्र निर्मल ध्यान एव अहंनाश के लिए उपयोगी है। इसके अनुसार पहले 'ओंकार को ब्रह्मरूप' और फिर 'ओंकाररूप ब्रह्म मैं हूँ' ऐसी दो भावनाएँ क्रमशः विचारपूर्वक करनी चाहिए।[२६] इससे निश्चय ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति एवं ज्ञान द्वारा मोक्षप्राप्ति होती है। ओंकार को सर्वरूप मानकर उपासना करने वाले किसी अदृष्टि नामक शिष्य की उपलब्धि बताते हुए निश्चलदास कहते हैं—

ओंकार को अर्थ लखि भयो कृतार्थ अदृष्टि।
पढ़ै जु याहि तरंग तिहि दादू करहु सुदृष्टि॥[२७]

सन्त-साहित्य के अध्ययन से एक बात और हमें स्पष्ट होती है कि केवला-द्वैती परम्परा का हिन्दी में सही निर्वाह कबीर के बाद दादू सम्प्रदाय में ही हुआ। सुन्दरदास, निश्चलदास के अतिरिक्त सन्त चरणदास को भी इस दिशा में महत्त्व-पूर्ण स्थान दिया जा सकता है। सन्त चरणदास ने तो एकदम ओंकार की एक-एक

मात्रा के रहस्य को उपनिषदों के ढंग पर ही विवेचित किया है। प्रश्नोपनिषद् में ओंकार की अ, उ, म् इन मात्राओं का पृथक्-पृथक् ध्यान करने से और फल, तथा तीनों मात्राओं का एकसाथ ध्यान करने से और फल बताया है। फिर तीनों मात्राओं को भूलोक, भुवर्लोक्, स्वर्लोक का प्रतीक कहा है। सन्त चरणदास कहते हैं—

ओंकार के अक्षर कहिए तीन हैं। अकार उकार मकार जाने परवीन हैं॥
तीनों अक्षर मांह तीनों हैं लोक ही। पहले अक्षर में जुरहै भूलोक ही॥
दूजे अक्षर बीच जानौ आकाश ही। तीजे अक्षर मांहि बैकुंठ निवास ही॥
तीनों अक्षर मांहि जो तीनों वेद हैं। ऋग् यजुर्वेद साम तिहूं जो भेद है॥
तीनों अक्षर मांहि तिहूं जो देव हैं। ब्रह्मा विष्णु महेश बड़े जो अभेव है॥
तीन प्रकार की अग्नि तीन अक्षर मही।[२८]

चरणदास इसके अतिरिक्त ओंकार की सर्वव्यापकता यानी ब्रह्मरूपता की भी चर्चा करते हैं। वे कहते हैं जैसे तिल में तेल, दूध में घी, पुष्प में गन्ध रहता है ऐसे ही ओंकार में समस्त व्याप्त है। प्रश्नोपनिषद् की शैली में ही चरणदास ओंकार की मात्राओं के जप के फल भी बताते चलते हैं—

अक्षर ओंकार के पहिला जु अकार।
ताहि कहे सों होत है हिरदा शुद्ध विचार॥
दूजा जपे उकार कमल विकस कली।
शनै शनै खुलि जाय बसे तामे अली॥
तीजा जपें मकार प्रकट हो नाद ही।
सुनि सुनि आनन्द होहि जु परम अगाध ही॥[२९]

डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने अपनी पुस्तक 'चरणदास' में चरणदास कृत कुछ एक उपनिषदों के हिन्दी भावानुवाद प्राप्त होने की सूचना दी है और कहा है कि उनमें प्रणव का विशेष विवेचन है।[३०]

अन्ततः हम कबीर की शब्दसाधना में ओंकार की अद्वैती ढंग की स्वीकृति का संक्षिप्त परिचय देते हुए कहते हैं कि जैसे कबीर ने ज्ञानमार्गी होते हुए भी ज्ञानप्राप्ति की सहायक अन्य अद्वैतपरक उपासनाओं को चुना ऐसे ही अन्य सन्तों ने भी उनका अनुसरण किया। इन उपासनाओं में से उन्होंने शब्द या ओंकारोपासना को इसलिए चुना कि वह ज्ञानपरक होने से एक प्रकार की ज्ञानोपासना ही है। विचार उसमें प्रधान है। विचार से ही अहंग्रह यानी अहंकार का पकड़ना होता है। जब कि दूसरी मूर्ति की उपासनाओं में द्वैतोपासनाएँ और भक्ति केवल भावात्मक धरातल पर ही रह जाती हैं। ज्ञान-भूमिका को वे शायद छू भी नहीं पाती। अतः सन्त कबीर ब्राह्मीस्थिति पाने के लिए ओंकार को ही उपासना का

श्रेष्ठ आलम्बन मानते थे। और कहते थे कि—

साधो शब्दसाधना कीजै।
जेहि शब्द ते प्रगट भये सब, सोई शब्द गहि लीजै ॥[31]

यह शब्द ओंकार ही है जिसका भूत, भविष्यत्, वर्तमान जगत् में उपव्याख्यान हो रहा है। कबीर कहते हैं—

"ओंकार आदि है मूला, राजा परजा एक ही सूला।"[32]

वस्तुतः ब्रह्म की ओर निर्देश करने वाला होने से ओंकार ही ज्ञानी के लिए श्रेष्ठ आलम्बन है। यह ओंकार ब्रह्म का ही दूसरा नाम है। इस नाम के द्वारा नामी तक सहज ही पहुँचा जा सकता है। भगवद्गीता में कहा गया है, "ओ३म् तत्सत्" यह ब्रह्म का निर्देश या नाम है।[33] इसी से ब्राह्मण वेद एवं यज्ञों की उत्पत्ति हुई है। यही कारण है कि ब्रह्मवादी लोग जब भी यज्ञ, दान, तप आदि कर्म करते हैं तो पहले ओ३म् का ही स्मरण करते हैं।[34] परमात्मा के विभिन्न उपास्य रूपों में से ओंकार उसका पवित्र एवं वेद्य या ज्ञान-गम्य रूप है। शंकर कहते हैं कि ओंकार के अर्थ रूप ईश्वर का चिन्तन करने वाला देह-त्याग के बाद भी परमगति को प्राप्त होता है।[35] यह परमगति ही सन्तों का परमप्राप्तव्य है, क्योंकि उसे पाने के बाद फिर कुछ भी पाने को शेष नहीं रहता।

सन्दर्भ

१. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥
—वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डम्, श्लोक १

२. शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्यएवप्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत ॥ —वही १-१२०

३. त्रयीरूपेण तज्ज्योतिः प्रथमं परिवर्तते।
ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम् ॥ —वही

४. सर्वभूतान्तरचरः शब्दब्रह्मात्मको रविः।
भित्वा यं बोध-खड्गेन निर्गच्छंत्यविशंकिताः ॥ —वही

५. "सोऽमात्र ओंकारश्चतुर्थस्तुरीयआत्मैव केवलोऽभिधानाभिधेयरूपयोर्वाङ्मनसयोः क्षीणत्वाद् अव्यवहार्यः।" —माडूक्य उ० मन्त्र १२ पर शां० भा०
तथा— एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
—कठ उ० १-२-१६

६. "परापरब्रह्मदृष्ट्या उपास्यमान ओंकारः शब्दमात्रोऽपि परापरब्रह्मप्राप्ति-साधनं भवति।" —तैत्तिरीय उ० १-८-१ का प्रसंग भाष्य, शां० भा०

७. "उस ब्रह्म का यह सम्पूर्ण जगत् वाणीरूप सूत्र द्वारा नाममयी डोरी से व्याप्त है। यह सब नाममय ही है" इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है।
—माडूक्य उ० पर शंकरकृत सम्बन्ध भाष्य

८. प्रतीकशास्त्र (परिपूर्णानन्द वर्मा लिखित), पृ० १९

९ "प्राणायामैस्त्रिभिर्पूतस्तत ओंकारमर्हति" —मनुस्मृति २-७५

१०. भगवद्गीता ८-१३ पर शांकर भाष्य।

११. माडूक्य उ०, मन्त्र ३, ४, ५ शांकर भाष्य।

१२. भारतीय प्रतीकविद्या, पृ० २९

१३. महिम्नःस्तोत्रम्, श्लोक २७

१४. त्रयोलोकास्त्रयोवेदा स्त्रैलोक्यं पावकास्त्रयः।
त्रैकाल्य त्रीणि कर्माणि त्रयोवर्णास्त्रयोगुणाः॥
—ब्रह्मपुराण (आनन्दाश्रम, पूना, अ० १७९, श्लोक ३७)
तथा देखिये भारतीय प्रतीकविद्या, पृ० ३४
अकारं ब्रह्मणोरूपंमुकारंविष्णुरूपवत्।
मकारं रुद्ररूपं स्यादर्धमात्र परात्मकम्॥
वाच्यं तद् परमं ब्रह्म वाचकः प्रणवः स्मृतः।
वाच्यवाचक सम्बन्धस्तयोः स्यादौपचारिकः॥

१५. कल्याण (सन्तवाणी अंक), पृ० ४०६

१६. सन्तमत में साधना का स्वरूप (प्रत्यूष प्रकाशन, कानपुर), पृ० ३८

१७. वही, पृ० ३६

१८. सन्तसुधासार, खण्ड-२, पृ० १०४

१९. वही, खण्ड-२, पृ० १०९

२०. दादूदयाल की वाणी (अंग बंधू सटीक, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर), पृ० २७५, २७६

२१. "ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। तस्योपव्याख्यानं वेदान्तार्थसारसंग्रहभूतम्।"
—माडूक्य उ० पर शांकर सम्बन्ध भाष्य

२२. कल्याण (सन्तवाणी अंक), पृ० ४१४

२३. "त्वं हि ब्रह्मणः प्रतीकं त्वयि ब्रह्मोपलभ्यते। × × × जपार्था एते मन्त्रा मेधाकामस्य।" – तैत्तिरीय उ० १-४-१ पर शां० भा०

२४. वस्तुतः वेदान्ती को केवल शास्त्रानुसार विचार ही करना चाहिए। विचार को छोड़ अन्य साधनों की अपेक्षा करने वाला जिज्ञासु आरूढ़पतित कहा जाता है। अतः जो वेदान्त के विचार में असमर्थ हो उसे निर्गुणोपासना

(ओंकारोपासना) बताई जाती है। जो निर्गुणोपासना न कर सके, उसे सगुणोपासना, जो सगुणोपासना भी न कर सके उसे निष्काम कर्म बताया जाता है। —विचारसागर, तरंग ५, १७०

२५. कल्याण (सन्तवाणी अंक), पृ० २०९

२६. ध्यान अहंग्रह प्रनव रूप को कह्यो सुरेश्वर श्रुति अनुसार।
अच्छर प्रनब ब्रह्म भ्रम रूप सु यूं अनुलव निजमति गति धार ॥
—विचारसागर, तरंग ५, सवैया १६८

२७. वही, तरंग ५, १७०

२८. चरनदास, (डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित लिखित), पृ० २९०, २९१

२९. वही, पृ० २९२

३०. वही, पृ० ११५ पर (तत्वयोग उपनिषद् का भावानुवाद)

३१. कबीर दर्शन (डॉ० रामजीलाल सहायक), पृ० ३२३

३२. वही

३३. भगवद्गीता १७-२३

३४. वही १७-२४

३५. "ओंकारं व्याहरन् उच्चारयन् तदर्थभूतं माम् ईश्वरम् अनुस्मरन् अनुचिन्तयन् यः प्रयाति म्रियते······।" —वही ८-१३ पर शांकर भाष्य

साधन खण्ड

१

गुरु

जिस समृद्ध मानवी परम्परा से मनुष्य का जन्म हुआ उसमें उसे जन्म के साथ ही पूर्वजों की संचित ज्ञानराशि भी विरासत के रूप में मिली। पूर्वजों की यह विरासत उसे न मिली होती तो वह आज सभ्यता के विकास की इन मंजिलों पर सरपट दौड़ता न चलता। पूर्वजों की इस ज्ञानरूपी थाती की ओर से यदि वह उदासीन हो जाता तो संसार ज्ञान की उपलब्धि की दृष्टि से बच्चा ही रह जाता।[1] जहाँ मनुष्य अपनी परम्परा से बहुत कुछ सीख कर अग्रसर हुआ वहाँ उसे उसके चारों तरफ की निर्व्याज प्रकृति ने भी बहुत कुछ सिखाया। उसकी ग्रहणशीलता ने सबके आगे अपना पात्र फैला रखा है। फिर जिनसे उसने कुछ भी सीखा उसके प्रति कृतज्ञता, श्रद्धा एवं विनम्रता से उसने मस्तक झुकाया।

मनुष्य को यह बहुत पहले पता लग गया था कि केवल ज्ञान ही ऐसा साधन है जिससे वह अपने समस्त घेरों को तोड़कर अपनी महिमा में प्रतिष्ठित हो सकता है। बौद्धिक ज्ञान ने उसे विभिन्न प्राकृतिक विपदाओं से मुक्त कर दिया था। विभिन्न शस्त्रास्त्र एवं औषधोपचार आदि के आविष्कारों से मानव को अपने अस्तित्व की रक्षा करने की क्षमता मिली थी। शुरू से ही मानव के सामने सबसे बड़ा प्रश्न आत्मरक्षा का ही था। हर व्यक्ति आज भी अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक है। वेदान्त ने इस मूलप्रश्न को ही उठाया था—'सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति'।

मनुष्य ने इन बौद्धिक आविष्कारों के अतिरिक्त फिर अनुभव किया कि उसके अस्तित्व की रक्षा के लिए यज्ञ, याग, आदि एवं वैज्ञानिक उपलब्धियाँ सामयिक उपचार हैं। स्वर्ग आदि की उपलब्धि भी उसका बहुत ही घटिया किस्म का समाधान है। वह किसी ऐसे ज्ञान की खोज में था जो उसे अविद्या से उत्पन्न समस्त क्लान्तियों एव जन्म-मृत्यु के परे ले जाए। केवल मात्र भोजन आच्छादन सम्पादन कर जीवन रक्षा करने वाला ज्ञान, परम्परा-प्रवाह-मात्र ज्ञान[2] नूतन आध्यात्मिक आलोक के सम्मुख अत्यन्त फीका पड़ने लगा। सम्भवतः वेदों में वर्णित दाशराज्ञ युद्ध एवं आर्य और अनार्यों के संघर्ष, तथा महाभारत जैसे महायुद्धों

में हुई भयावह हत्याओं के परिणामस्वरूप भी मानव को महसूस हुआ हो, कि सभ्यताओं के विकास में उपयोगी बौद्धिक ज्ञान एक दुधारी तलवार है जो मानवीय जीवन की रक्षा तो शायद कम करती हो किन्तु सामूहिक हत्याएँ अधिक करती है। अतः बहुत पहले लौकिक ज्ञान की अपेक्षा में मनुष्य विरक्त होकर घोषणा कर गया कि बिना उस दिव्यज्ञान की प्राप्ति के मौत से बचने का कोई अन्य रास्ता नहीं।[3] ऐसे दिव्यज्ञान का रहस्य जिन महर्षियों के हाथ आ गया था उन्होंने स्थान स्थान पर ईमानदारी से कहा कि जिसने भी इसे ब्रह्मविद्या एवं ब्रह्मयोगविधि को पा लिया वह विरज यानी धर्माधर्मरहित और मृत्युरहित हो गया।[4] किन्तु इस आत्मतत्त्व का साक्षात् बोध पुस्तकीय ज्ञान से नहीं अपितु प्रत्यक्ष आत्मदर्शी गुरु की कृपा से ही सम्भव है। अतः अद्वैतवेदान्त ने गुरु के अक्षत माहात्म्य को सर्वथा स्वीकार किया। आचार्य शङ्कर ने सर्वशास्त्रवित् होने पर भी गुरु की अनवरत खोज करके श्री गोविन्दपादाचार्य को अपने गुरुपद पर प्रतिष्ठित किया। और पूर्व गुरुओं के नित्यस्मरण की परम्परा को अपने सम्प्रदाय में लागू किया जिनमें आदि-गुरु नारायण, ब्रह्मा, वसिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास, शुक, गौडपाद हैं।[5]

श्रुति ने पहले आचार्य अथवा गुरु का विधान किया था, तथा शिष्य को अपने आचार्य को देवता ही समझने की प्रेरणा दी थी। क्योंकि श्रुति के अनुसार ही केवल आचार्य द्वारा दीक्षित व्यक्ति ही तत्त्वज्ञान का अधिकारी था।[6] वैसे तो समस्त भारतीयदर्शन में गुरु-शिष्य प्रणाली को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। स्मृति, श्रुति, पुराण, सब में यथाप्रसंग गुरु की महिमा बताई गई थी। भगवद्गीता में जिज्ञासु को सुझाव दिया गया था कि उसे तत्त्वज्ञानी लोगों के पास बार-बार जाना चाहिए, प्रश्न करना चाहिए, सेवा करनी चाहिए, तभी गुरु प्रसन्न होकर उपदेश करेंगे।[7] मनु ने गुरु के पास उठने-बैठने के सलीके की बात बताते हुए कहा था कि मन, वाणी, शरीर से शिष्य को गुरु के मुख से निकलने वाले शब्दों की प्रतीक्षा करनी चाहिए।[8] किसी आवेग में आकर गुरुद्रोह या गुरुनिन्दा करने वाले को गधे और कुत्ते की योनि मिलती है।[9] अतः गुरु को कभी भी रुष्ट न करना चाहिए। सन्त इस बात को बखूबी जानते थे कि—

हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहीं ठौर।

बौद्ध, सिद्ध, नाथ, वैष्णव, शैव, शाक्त साधनाओं में भी गुरु का अत्यन्त महत्त्व आंका गया था। योग के आचार्य तो यही समझते थे कि विद्या केवल वही फलवती होती है जो गुरु-मुख से प्राप्त है। अन्यथा समस्त विद्या फलहीन एवं निर्वीय होती है[10] संसार के समस्त श्रेय शिष्य को गुरु के कृपाकटाक्ष से सिद्ध हो जाते हैं। अतः आत्मशुभ चाहने वाले को गुरु की नित्यसेवा करनी चाहिए।[11]

अद्वैतवेदान्त ने तो मूलतः यह स्वीकार किया था कि ब्रह्म को जानने वाला

ब्रह्म ही है। अतः ब्रह्मज्ञानी गुरु ब्रह्म के ही समकक्ष है। ऐसे ब्रह्मवेत्ता गुरु की वाणी ही सन्तों की दृष्टि में भी जिज्ञासु के समस्त भेदों को नष्ट कर देती है—

ब्रह्मरूप अहि ब्रह्मवित ताकी वाणी वेद।
भाषा अथवा संस्कृत करत भेद भ्रम-छेद॥[12]

आचार्य शंकर ने आत्मोपलब्धि के लिए आचार्य अथवा गुरु को एक प्रमुख कारण माना है। वे कहते हैं कि ब्रह्म को तर्क, प्रवचन, मेधा, बहुश्रुतता, तप, यज्ञ आदि से नहीं समझा जा सकता उसके लिए तो आचार्य का उपदेश ही मुख्य है।[13] वस्तुतः यदि शांकरदर्शन का आधार निष्ठा पर आधारित ज्ञान है तो उसमें गुरु को परब्रह्म के रूप में स्मरण करना उस दर्शन की परिपाटी है। सांसारिक कर्मों की ओर से विमुख जिज्ञासु साधक को चाहिए कि वह व्यवहारजगत् की अच्छी तरह परीक्षा करके पूरी तरह विरक्त होकर स्वाध्यायसम्पन्न ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में चला जाए।[14] इसी में शिष्य का सर्वतोमुखी कल्याण है। शंकर कहते हैं कि एक ओर समस्त त्रिलोकी का राज्यभार रख लो दूसरी ओर गुरु की दी हुई ब्रह्मविद्या को रख लो, ब्रह्मविद्या ही गुरुतर सिद्ध होगी।[15] इसी विद्या के दाता के प्रसंग से ही आचार्य की दृष्टि में गुरु का परम माहात्म्य है। वे जोर देकर कहते हैं—

"केवलशास्त्राचार्योपदेशगम्यम्"[16]

वैदिककाल से लेकर उपनिषद्काल तक गुरु-शिष्य की परम्परा अपने अत्यन्त ही स्वस्थरूप में रही है। उसमें गुरु एवं आचार्य का पद जटिल न होकर काफी सरल था। उपनिषदों में हमें ऐसे प्रसंग मिलते हैं जिनमें ऋषि इकट्ठे मिलकर अपनी जिज्ञासाओं के समाधान के लिए गुरु की खोज में प्रवृत्त होते हैं। प्रश्नोपनिषद् में छः मुनि पिप्पलाद् मुनि के पास पूछने के लिए जाते हैं तो पिप्पलाद् बड़े ही ज्ञातृत्व के दम्भ से मुक्तभाव से कह देते हैं कि भाई यदि मैं इस विषय में कुछ जानता होऊँ तो जरूर बताऊँगा।[17] इनमें से एक ऋषि सुकेशा जब सोलह कला वाले (पूर्ण) पुरुष के बारे में कुछ न कुछ जरूर कहने का आग्रह करता है, तब पिप्पलाद् फिर बड़ी सरलता से कहते हैं कि "अगर मैं कुछ भी इस बारे में जानता होता तो कैसे न तुम्हें बताता।"[18] इस प्रकार वैदिक गुरुओं के आत्मनिष्ठ होने की और शिष्यों में निश्छल ज्ञान-वितरण करने की शुद्ध परिपाटी थी। आचार्य शंकर इसी प्रकरण में गुरु की अपनी ज्ञानसम्बन्धी ईमानदारी की ओर निर्देश करते हुए भी कहते हैं कि न्यायपूर्वक प्राप्त योग्य शिष्य के प्रति गुरु को ज्ञान कहना ही चाहिए और किसी भी अवस्था में झूठ न कहना चाहिए।[19] क्योंकि ऋषि लोग अपनी गुरुता को शिष्यों पर थोपते नहीं थे, खुले खुले कहते थे—कि भाई! हमारे अच्छे चरितों को तुम स्वीकार कर लेना। बुरों को छोड़

देना। और हममें से जो आचार के श्रेष्ठ हों उन्हें श्रद्धापूर्वक आश्वासित करना, नमन करना।[२०] इन समस्त प्रसंगों का एक निष्कर्ष तो निकलता ही है कि उस युग के ज्ञानी आचार्यों में गुरुडम की प्रवृत्ति न होकर आचार के प्रति निष्ठा एवं बौद्धिक वातावरण का खुला खुलापन भी रहता था। सत्यकाम ने वन में कई अन्य साधनों द्वारा ज्ञान-प्राप्ति करने पर भी अपने गुरु हारिद्रुमत् गौतम के मुख से ही ब्रह्मज्ञान पाने की ज़िद की। गुरु की गउओं को चराकर लौटने के बाद सत्यकाम यही कहता है कि दूसरों ने अगर मुझे कुछ सिखाया है तो क्या ? वास्तविक ज्ञान तो आपके मुख से श्रवण करने के बाद ही होगा।[२१]

गुरु के प्रति इस अद्वितीय भक्ति की बात जो हमें हिन्दी सन्तों में बड़े ही व्यक्त रूप में प्राप्त होती है। अर्थात् गुरु को अपने उपास्य के साथ ही एकमेक कर देने की प्रवृत्ति, वह हमें श्वेताश्वतर में भी मिलती है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।[२२]

(अर्थात् जिसकी अपने इष्ट के प्रति उत्पन्न भक्ति के समान ही गुरु के प्रति भक्ति है उसी को आत्मा का रहस्य प्रकाशित होता है।) आचार्य इसी मन्त्र का अर्थ देते हुए कहते हैं कि "ऐसी गुरुकृपा को छोड़कर ब्रह्मविद्या की उपलब्धि दुर्लभ है अतः गुरु द्वारा ही किसी सुमेधा एवं उत्तम जिज्ञासु को ब्रह्म का बोध होता है।[२३]

वस्तुतः वेदान्त की यह दृढ़ धारणा रही है कि ब्रह्म और गुरु में ऐक्य है अर्थात् प्रत्यगात्मा ही गुरुरूप में आकर साधक का कल्याण करता है।[२४] अपार संसार-समुद्र में डूबते हुए शिष्य को सहारा एकमात्र गुरु के चरणकमलों की नौका का ही हो सकता है। अतः ऐसे जिज्ञासु जिनका चित्त साधना द्वारा तीव्र मुमुक्षुता की ओर अग्रसर हो चुका है उनके समस्त मलों को दग्ध करके आचार्य के रूप में मानो परमात्मा ही उन्हें अपने स्वरूप से जोड़ लेता है।[२५]

कुछ लोग ऐसी समानताओं को देखकर भले ही यह सन्देह करें कि गुरु के प्रति सन्तों की यह अनन्यनिष्ठा सूफ़ियाना इस्लाम के प्रभाव के परिणामस्वरूप हो किन्तु परिपुष्ट प्रमाणों के आधार पर उसे वैदिक उपनिषदों एवं शांकर वेदान्त में खोजा जा सकता है। निर्गुणिया सन्त-वेदान्त में गुरुभक्ति का यही परम्परा-प्राप्त भारतीय रूप ही मुखरित हुआ है। बाह्य प्रभाव अगर कहीं दृष्टिगत होता है तो वह सन्तों की समसामयिकता की स्वीकृति या प्राचीन परम्परा को ही कुछ नए रूप देने के जो कुछ प्रयास का फल हो सकता है। अन्तर अगर कुछ हो सकता है तो वह यही कि अद्वैतवेदान्त में अन्ततः गुरु का भी महत्त्व ब्रह्म की अपेक्षा से ही है। व्यावहारिक दृष्टि से गुरुपद भी द्वैतराज्य की ही एक अवस्था है। किन्तु इस

व्यावहारिकता में भी गुरु की अक्षुण्ण गरिमा को पैर पैर पर स्वीकार किया गया है।

आचार्य के सम्प्रदाय में अभी तक संन्यासियों की दैनिक नित्यचर्या में सामान्य रूप से सर्वप्रथम शांतिपाठ, फिर भाष्यपाठ, तब परमगुरुओं को नमस्कार, फिर दक्षिणामूर्तिअष्टक का पाठ, फिर आचार्य का पूजन किया जाता है। श्री पद्मपाद से लेकर आचार्य के सभी परवर्ती शिष्यों ने अपने आचार्य शंकर को कभी परमगुरु, कभी सद्‌गुरु, कभी ईश्वर के रूप में वन्दना की है।[२६] गुरु और ईश्वर में अभेद-स्थापना की बात का सन्तों ने बहुत ही प्रयोग किया। इसी के परिणाम-स्वरूप सन्तसाहित्य में सद्‌गुरु शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त करता चला गया है। कबीर, नानक, दादू, रैदास, सुन्दरदास, सहजोबाई, चरणदास आदि सन्तों में गुरु और ब्रह्म में अभेद स्थापना करने का बहुत प्रयत्न है। हाँ ऐसे गुरुओं से वेदान्त ने भी सावधान होने के लिए कहा था और सन्तों ने भी जो गुरु ज्ञानव्यवसायी थे, रहस्य साधनाओं के नाम पर भोले-भाले शिष्यों को ठगने में ही अपने गुरुत्व की सार्थकता समझते थे। ऐसे गुरु जो शिष्य के समस्त दुखों को हर लें उनकी प्राप्ति वेदान्त में भी विरल ही मानी गई थी।[२७] सन्तों ने भी ऐसे लोगों की निन्दा की है जो तत्त्वज्ञान के नाम पर कुछ एक रटी-रटाई बातों से लोगों को भ्रमजाल में डाल रहे थे। योगवासिष्ठ में ऐसे लोगों को ज्ञानव्यवसायी या ज्ञानबन्धु कहा गया है, जो केवल रोटी-रोजी चलाने के लिए ही ज्ञान बेचते फिरते हैं। राम को उपदेश करते हुए वसिष्ठ कहते हैं कि हे राम! मैं ऐसे ज्ञानबन्धुओं की अपेक्षा अज्ञानी को अधिक श्रेष्ठ समझता हूँ,[२८] जिनका ज्ञान उनके आचरण में ढलकर एक नहीं हो गया, लेकिन जो ज्ञानजन्यनिपुणता से अपनी जीविका चला रहे हैं, ऐसे लोगों के जीवन में सन्तों ने भी कथनी और करनी का भारी अन्तर देखा था। इसी से सन्त बाह्याचारप्रिय पण्डितों और मुल्लाओं को कोसते थे।

सन्त जानते थे कि संसार में सच्चे शिष्य और गुरु बहुत कम होते हैं। ऐसा गुरु जो बिना किसी स्वार्थ के चेले का कल्याण कर रहा हो तथा दूसरी ओर चेला जहाँ गुरु के दोषों का पारखी न हो, वहीं ज्ञान की पूर्णता प्राप्त होती है। सन्त रज्जब ने गुरुशिष्य के इस सम्बन्ध की तुलना में कुछ एक सुन्दर उपमान प्रस्तुत किए हैं—

सतगुरु सो जो चाहि बिन, चेला बिन कीया।
यूँ परि दोष न दीजिए, मिलि अमृत रस पीया॥
ज्यूँ ससि कै सरधा नहीं, कोइ कमल विगासै।
मुदित कुमोदिनी आप सों, बांधी उस पासै॥
ज्यूँ दीपक के दिल नहीं को पड़े पतंगा।
तन मन होमैं आप सों मोड़ै नहिं अंगा॥

कमल कोष आपै खुलै, मन मधुकर नाहिं।
भंवर भुलाना आप सों, बींधा यूं मांहि॥
ज्यूं चंदन चाहै नहिं, कोइ विषधर आवै।
जन रज्जब अहि आव सों, सो सोधिर पावै॥[२६]

गुरु की जब ब्राह्मीस्थिति होती है तो वह चेले मूंडने के फेर में नहीं रहता। वह तो अपने स्वरूप में स्थित हो दीप्त हो रहा होता है। उसका कोई प्रयोजन नहीं होता। उसके पास आने वाले सहज ही प्रकाश पाने के अधिकारी हो जाते हैं।

ऐसे गुरु का दिव्य साक्षात्कार एक क्षण के लिए भी चाहे हो वह शिष्य के समस्त कलुषों को धोकर उसे ज्ञानमार्ग का पथिक बना देता है। गुरु की उस परमकृपा की सन्तों ने बार-बार कामना ही की है, जिसके कारण अपने-अपने कर्मों की आग में जल रहे लोग शान्तिजल को प्राप्त कर लेते हैं। जैसे वेदान्त में 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का गुरु के मुख से सुनने का महत्त्व माना गया है, ऐसे ही सन्तों ने भी गुरुमुख से प्राप्त शब्द का महत्त्व आंका है। जैसे छुरी, चाकू तेज करने वाला आदमी मसकले पर चाकू रगड़कर उसमें तेज पैदा कर देता है ऐसे ही सद्गुरु भी शब्द रूप मसकले से ज्ञान पैदा कर देता है।[३०]

सन्त पलटूदास की दृष्टि में ऐसे सन्त गुरु का सर्वोच्च रूप यह है कि वह अपने मन की समस्त कामनाओं का विजयी हो--

सन्त न चाहैं मुक्ति को नहीं पदारथ चार॥
नहिं पदारथ चार मुक्ति संतन की चेरी।
ऋद्धि सिद्धि पर थुकैं स्वर्ग की आस न हेरी॥
तीरथ करहिं न बर्त नहीं कछु मन में इच्छा।
पुन्य तेज परताप संत को लगैं अनिच्छा॥[३१]

अद्वैतवेदान्तियों ने जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं ब्रह्म के रूप में गुरु को देखा था[३२] कबीर और सन्त दूलनदास ने भी गुरु को कुछ उससे कम महत्त्व नहीं दिया। गुरु को गोविन्द के स्तर पर आंकना उन्हें जहाँ अभीष्ट था वहाँ उन्हें गुरु के इस मूल्यांकन के रहस्य का भी ज्ञान था। लोकपरम्परा के अचेतन प्रवाह में बह रहे कबीर को दरअसल गुरु ने ही निकाला था। फिर निकाल कर उसे अद्वितीय पूर्णता के साथ परिचित करा दिया था। अतः कबीर का दृढ़ विश्वास है कि वस्तुतः लोगों को सच्चे गुरु के न मिलने से ही साधुवेष बनाकर दर-दर भीख माँगनी पड़ती है।[३३] वस्तुतः दोनों अध्यात्म साधनाओं में (चाहे वह शांकरवेदान्त है या सन्त-वेदान्त) गुरु की अनिवार्यता को ही स्वीकार नहीं किया गया, बल्कि अपार करुणासमुद्र गुरु की अहेतुकी असीम कृपा को प्रत्यक्ष भागवत कृपा ही माना गया है। समय-समय पर हुए वैदिक ऋषियों उपनिषत्कालीन तत्त्ववेत्ताओं.

बौद्ध सन्तों, अद्वैताचार्यों, भगवद्भक्तों, सन्तों के रूप में भागवत चेतना का ही धरती पर अवतार माना गया है। अतः प्रत्येक युग के जिज्ञासु साधक ने जब भी गुरुकृपा से कोई रहस्यानुभूति प्राप्त की तो वह गुरु की महिमा से अभिभूत हो गया। श्रद्धा ने उकसाया कि गुरु को कुछ ऐसा उपहार दो कि मन की हौस मिट जाए।[34] सुन्दरदास ने समस्त अण्ड-पिण्ड में गुरु को देने योग्य उपहार की खोज की। कोना-कोना खोज मारा। देवलोक की दुर्लभ वस्तुएँ चिन्तामणि, कामधेनु, पारस, कल्पवृक्ष, अपने योगबल से हाथ में उठा-उठाकर देखें। सबकी न्यूनताएँ सामने आने लगीं। असीम कृपा का मूल्य ये नश्वर, निस्सार क्षुद्र वस्तुएँ कैसे हो सकती हैं। गुरुकृपा से उऋण होने की बात उसे आत्मवंचना लगी। विवेक ने कहा "मुक्ति का मूल्य बद्धता नहीं हो सकती। संसार के सभी सम्बन्ध माता, पिता, पत्नी, सन्तति आदि तभी तक सहायक हैं जब तक उनकी स्वार्थ हानि न हो। गुरु-शिष्य तो कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो आत्माओं का एकीकरण है। गुरु का तो स्वभाव है कि बद्ध जीवों के पाश खोलकर उन्हें सशक्त बनाकर खुली सांस ले सकने के लिए अनन्त जीवन की ओर अग्रसर कर दे। इसके लिए न वह मूल्या-कांक्षी है, न मूल्य दे पाना सम्भव ही है।" सन्त ने छानबीन बन्द की और श्रद्धा के लोक से अमित भावभीनी पुष्पांजलि भेंट कर दी। बदले में अपनी न कुछ दे पाने की असमर्थता पर उसे रोना आ गया।[35] उस अहंविगलित स्थिति में गुरु की दिव्य करुणा ने उसे उठाया और छाती से लगाकर स्वात्मरूप यानी ब्रह्मरूप कर दिया। वस्तुतः उऋण होने का प्रश्न तो वहीं उठता है जहाँ गुरु में शिष्य के उद्धार करने का अहम् हो। अध्यात्म-साधना में तो गुरु शिष्य का स्वयं वरण करता है। शिष्य को उसके समस्त दोषों के अतिरिक्त उसकी रचना करता है। निष्कर्षतः यही माना जा सकता है कि शिष्य और कुछ नहीं केवल गुरु की पूर्ण कृति है, रचना है। कृति और कृतिकार के बीच का सम्बन्ध ही दोनों का सम्बन्ध है। सुन्दरदास कहते हैं—

सुन्दर काटै सोधि करि सतगुरु सोना होइ।
सिष सुवरन निर्मल करै टांका रहै न कोई ॥[36]

सन्तों को यह बात पूर्णतः स्वीकार है कि अज्ञानरूप संशय को ज्ञान से मिटाना गुरु ही सिखाता है। अतः गुरु की उपयोगी विशेषता ज्ञान-प्राप्ति में ही है। दरिया (मारवाड़ वाले) कहते हैं—

सतगुरु सब्दां मिट गया, दरिया संशय सोग।
औषद दे हरिनाम का, तन मन किया निरोग ॥[37]

दादू पंथ के सभी लोग गुरु का बहुत ही उच्च स्थान मानते रहे हैं। चरण दास[38], दयाबाई[39], गरीबदास[40], पलटूदास आदि ने तो गुरु को ज्ञानदाता के

अतिरिक्त स्वतंत्र रूप में भी उपास्य मानने का प्रयास किया है। किन्तु कबीर इस दृष्टि से अधिक सचेत और अद्वैतवेदान्त के अधिक निकट हैं। उनका विश्वास है कि गुरु को ज्ञानी और आचारनिष्ठ होना ही चाहिए। अन्यथा—

जाका गुरु भी आंधला, चेला खरा निरंध।
अन्धै अन्धा ठेलिया, दुन्यूं कूप परंत॥[४१]

सिख सम्प्रदाय में गुरु का महत्त्व जिस रूप में आंका गया है वह भी हिन्दी सन्तपरम्परा के आलोक में देखने योग्य है। उनके प्रसिद्ध मूलमन्त्र "इक ओंकार सति गुरु प्रसादि" में स्पष्टतः यह स्वीकार किया गया है कि वह परमसत्ता केवल-मात्र गुरुकृपा से ही जानने योग्य है। अतः 'गुरुरेव परब्रह्म' की शैली में सिख गुरुओं ने भी गुरु और परमात्मा में अभेद स्थापित करते हुए कहा "गुरु मेरी पूजा गुरु गोविन्दु। गुरु मेरा पार ब्रह्मु गुरु भगवत।"[४२] अतः मुक्ति की कामना रखने वाले साधक को गुरु की वाणी को अन्तिम महत्त्व देना पड़ेगा।[४३] क्योंकि गुरु की वाणी सनातन है। दुनिया में सर्वत्र कुछ न कुछ दोष हैं किन्तु एकमात्र परमात्मा और गुरु ही पूर्णतः निर्दोष हैं।[४४] अद्वैतवेदान्ती परम्परा में ऐसे कई अवधूतों सन्यासियों के प्रमाण मिलते हैं जिन्होंने अपने गुरुपद पर किसी एक व्यक्तिमात्र को नहीं बल्कि समस्त जगत् को ही स्थापित किया हुआ था। इस प्रकार उनका सहज ही गुरुपद पर प्रतिष्ठित जगत् से तादात्म्य हो जाता था और वे 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' का यथार्थ अनुभव कर जाते थे। सिद्ध योगियों ने जब नानक से पूछा "तेरा कवन गुरु जिसका तू चेला" तो नानक ने बड़े ही रूपकात्मक ढंग से उत्तर दिया कि जगत् ही मेरा गुरु है।[४५] नानक की इस बात को बाकी के सन्तों ने पूरी तरह गाँठ बाँध लिया था कि सद्गुरु की वाणी को छोड़कर शिष्य के लिए बाकी सब वाणियाँ कच्ची हैं।[४६]

इस प्रकार हम देखते हैं गुरु या सद्गुरु की सन्तों व सिख सन्तों की जो धारणा है वह पूर्णतः भारतीय है, और ज्ञात तथा अज्ञातरूप से यहाँ के हिन्दू-जीवन के संस्कारों के साथ घुली-मिली शांकर अद्वैतवेदांत की चेतना का परिणाम कही जा सकती है।

उपनिषदों ने इस बात को बड़े ही स्पष्ट रूप में माना था कि आत्मतत्त्व का वक्ता होना कोई सरल बात नहीं एक महान् आश्चर्य होना है। फिर कहे हुए आत्मतत्त्व का यथावत् ग्रहण करने वाला शिष्य होना भी एक महती कुशलता है।[४७] वस्तुतः आचार्य शंकर ने भी इस बात का अनुभव जरूर किया था कि हमारी अन्तरात्मा के पूर्ण विकास के लिए केवल पोथीज्ञान ही पर्याप्त नहीं है।[४८] पोथी की बात जब हम जीवन में घटित होती नहीं देखते तो हमें अपनी कथनी और करनी के अन्तर को देखकर ग्लानि हो सकती है। अतः अपने पढ़े-लिखे जीवन में

चरितार्थ करने के लिए निर्जीव पोथियों को छोड़कर जीवित ज्ञानरूप गुरु के पास जाना पड़ता है। विवेकानन्द कहते थे, "जिस व्यक्ति की आत्मा से दूसरी आत्मा में शक्ति का संचार होता है, वह गुरु कहलाता है और जिसकी आत्मा में यह शक्ति संचारित होती है, उसे शिष्य कहते हैं।[४९] इस प्रकार कहना चाहिए कि अद्वैत-वेदान्त और सन्तों की दृष्टि में ज्ञानी गुरु और ज्ञानपिपासु शिष्य का मिलन एक बहुत बड़ी घटना है। पर यह मिलन शिष्य के परम पुण्यों की उपलब्धि का फल होता है कि उसे ऐसा गुरु मिल जाए जो शास्त्रज्ञ भी हो, निष्पाप हो, कामना का मारा न हो और ब्रह्मवेत्ता हो।[५०] कोरे वाचिक ज्ञानी गुरुओं पर तीखा व्यंग्य करते हुए सन्त पलटू कहते हैं—

वाचिक ज्ञान न नीका ज्ञानी, ज्यों कारिख का टीका ॥
बिनु पूंजी को साहु कहावै, कौड़ी घर में नाहिं।
ज्यों चोकर कै लड्डू खावै, का सवाद तेहि मांहि ॥
ज्यों सुवान कुछ देखिकै भूंकै, तिसने तो कछु पाई।
वाकी भूंक सुने जो भूंकै, सो ग्रहमक कहवाई ॥
बातन सेती नहीं होई राजा, नहिं बातन गढ़ टूटै।
मुलुक मंहै तब ग्रमल होइगा, तीर तुपक जब छूटै ॥
बातन से पकवान बनावै, पेट भरे नहिं कोई।
पलटूदास करै सोइ कहना, कहे सेती क्या होई ॥[५१]

सन्दर्भ

१. "If no use is made of the labours of past ages, the world must remain always in the infancy of knowledge."

—Cicero

२. अपुनर्जन्मने यः स्याद् बोधः स ज्ञानशब्दभाक्।
वसनाशनदा शेषा व्यवस्था शिल्पजीविका ॥

—योगवासिष्ठ (निर्वाण प्रकरण) उ०, २२-४

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद् भुक्तये न तु मुक्तये ॥

— शंकरकृत विवेक चूड़ामणि, ६०

३. "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।"

—ऋग्वेद, पुरुष सूक्त मन्त्र

४. "ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद् विमृत्यु रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव।"

—कठोपनिषद् अ० २, बल्ली ३, मन्त्र १८

५. ब्रह्मसूत्र भाष्यम् (काम कोटि कोशस्थानम्) सन् १९५४, पृ० ५१
—मुण्डक उ० ३-२-११

६. "आचार्यदेवो भव, आचार्यवान् पुरुषो वेद" —तैत्तिरीय उ० १-११-१
"आचार्याद्धैवविद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति।" —छान्दोग्य ४-९-३

७. "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।" —भगवद्गीता ४-३४

८. शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।
नियम्य प्रांजलिस्तिष्ठेद् वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥ —मनुस्मृति, २-१९२

९. "परीवादात् खरो भवति, श्वा वै भवति निन्दकः" —वही २-१९४

१०. भवेद् वीर्यवती विद्या गुरुवक्त्रसमुद्भवा, अन्यथा फलहीना स्यान्निर्वीर्याप्यति दुःखदा।" —पेरण्डसंहिता ३-१०

११. "गुरुप्रसादतः सर्वं लभ्यते शुभमात्मनः। तस्मात् सेव्यो गुरुर्नित्यमन्यथा न शुभं भवेत्।" —वही ३।१४

१२. कल्याण (सन्तवाणी अंक), पृ० २६३

१३. "ब्रह्म च एवमाचार्योपदेशपरम्परया एवाभिगन्तव्यम् न तर्कतः प्रवचनमेधा-बहुश्रुततपोयज्ञादिभ्यश्च।" —केन उ० शां० भा० १-३

१४. मुण्डक उ० १-२-१२

१५. "त्रैलोक्यराज्याच्च गुरुतरा विद्या" —छान्दोग्य उ० ८-७-२

१६. "ब्रह्मविद्या केवल शास्त्र और आचार्य से ही जानी जा सकती है।"
—वही ६-१-२

१७. "यदि विज्ञास्यामः सर्वं वो वक्ष्यामः" —प्रश्नोपनिषद् १-२

१८. "यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति" —वही ६-१

१९. "अतो न्यायत उपसन्नाय योग्याय जानता विद्या वक्तव्या अनृतं च न वक्तव्यं सर्वाप्यवस्थासु।" —वही, शां० भा०

२०. "यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।"
—तैत्तिरीय उ० ३-१-११४

२१. छान्दोग्य ४-९-२, पर शांकर भाष्य।

२२. श्वेताश्वतर ६-६-२३

२३. एवं गुरुकृपां विहाय ब्रह्मविद्या दुर्लभेति।
त्वरान्वितस्य मुख्याधिकारिणो महात्मनो उत्तमस्यैते कथिताः ॥
—वही, पर शांकर भाष्य

२४. ज्ञान प्रकास्या गुरु मिल्या, सो जिनि वीसरि जाइ।
जब गोविन्द कृपा करि तब गुरु मिलिया आई ॥
—कबीर, सन्तसुधासार, पृ० ११९, खण्ड-१, दो० ६

२५. परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन ।
योजयति परे तत्वे स दीक्षयाचार्यमूर्तिस्थः ।। —पंचदशी १-१ की टीका

२६. आनन्दघनमद्वन्द्वं निर्विकारं निरंजनम् ।
भजेऽहं भगवत्पादं भवतामभयप्रदम् ।। —मनीषापंचकव्याख्यान
तथा दे० चित्सुखाचार्य कृत —अचार्य प्रशस्ति—
भगवत्पादपादातज पांसवः सन्तु सन्ततम् ।
अपारासारसंसारसागरोत्तारहेतवः ।।
—ब्रह्मसूत्र (कामकोटि कोश स्थानम् सन् १६५४), पृ० ५३

२७. गुरवो बहवस्तान शिष्य वित्तापहारकाः ।
विरला गुरवस्ते ये शिष्य-संतापहारकाः ।।
मिलाइये—झूठे गुरु के पच्छ को तजत न कीजै बार ।
द्वार न पावै सबद का भटकै बारम्बार ।।
—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ६६७।१६

२८. योगवासिष्ठ, निर्वाण प्रकरण उ० २१।१, ३, ४

२६. सन्तकाव्य, पृ० ३७१

३०. "मसकला एक औज़ार है इससे रगड़ने से वस्तुओं पर चमक आ जाती है।"
—सन्तसुधासार, खण्ड-१, पृ० १५६

३१. सन्तकाव्य, पृ० ५२६

३२. गुरु ब्रह्मा गुरु विस्नु है गुरु संकर गुरु साध ।
दूलन गुरु गोविन्द भजु, गुरुमत अगम अगाध ।।
—सन्तसुधासार, खण्ड-२, पृ० ८४

३३. कबीर सतगुरन मिल्या रही अधूरी सीष ।
स्वांग जति का पहरि करि घरि-घरि मांगे भीष ।।
—वही, खण्ड-१, पृ० ११६

३४. राम नाम के पटन्तरे देवे को कछु नाहिं ।
क्या दे गुरु संतोषिये हौस रही मन मांहि ।। —कबीर, वही, पृ० ११८

३५. कल्याण (सन्तवाणी अंक), पृ० २५० पर गुरु महिमा ।

३६. सन्तवानी संग्रह, भाग-२, पृ० १०७।१४

३७. सन्तसुधासार, पृ० ४२२

३८. हरि सेवा कृत सौ बरस गुरु सेवा पल चार ।
तौ भी नहीं बराबरी वेदन कियो विचार ।।
—चरनदास की बानी, पृ० ८

३६. सत गुरु ब्रह्म स्वरूप है मनुष भाव मत जान ।
देस भाव मानै दया, ते है प्रभुसमान ।। —सुन्दरदर्शन, पृ० १७८

४०. वहि देवा को पूजिये सब देयन के देउ।
पलटू चाहै भक्ति जो सद्‌गुर अपना सेव ॥ —सुन्दरदर्शन, पृ० १७८

४१. सन्तसाहित्य (डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल), पृ० १८०

४२. ग्रन्थसाहिब, गोंड महला ५, गुरु अर्जुनदेव की वाणी।

४३. वही

४४. जो जो दीसे सो सो रोगी।
रोग रहित मेरा सतगुर जोगी ॥ —वही, भैरों महला ५
तथा "भुल्लन अन्दर सभु के अमुल्लु गुरु करतारु।" —सिरी राग महला १

४५. 'Our Heritage' by Narain Singh, p. 57

४६. "सति गुरु बाझहु होर कवी सब बाणी" —गुरु अमरदास, वही, पृ० ५६

४७. "आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा" —कठोपनिषद् १-२-७

४८. "शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमण कारणम्" —विवेक चूड़ामणि, ६२

४९. भक्ति योग (श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर प्रकाशन), चतुर्थ संस्करण पृ० २९

५०. "श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः"
—विवेक चूड़ामणि, श्लोक ३४

५१. सन्तसुधासार, खण्ड-२, पृ० २६२, वाचक ज्ञान का अंग।

२

उपासना व भक्तितत्त्व

शांकरवेदान्त को एक सुनियोजित दर्शन मान लेने पर कुछ एक पाश्चात्य एवं भारतीय विचारकों को ऐसा लगता है कि उसमें उपासना व भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। विशुद्ध विचार एवं तर्क के ऊपर आश्रित साधन-प्रणाली भक्तों के साधनक्रम से कोई मेल नहीं खा सकती। दोनों का विरोध एकदम उन्हें दीख पड़ता है। क्योंकि शांकरवेदान्त एकमात्र जीव और ब्रह्म में अभेद सिद्ध करता है। किन्तु जीव और ईश्वर के 'मैं ही ब्रह्म हूँ' के रूप में अद्वैतानुभव को भक्त लोग ज्ञानी का अहंप्रसूत अपराध मानते हैं। भक्ति के लिए ईश्वर का सगुण-रूप अपेक्षित है जबकि ज्ञानी के लिए निर्गुण, शान्त, प्रपंचरहित। किन्तु यदि हम अध्यात्मज्ञान को बुद्धिवादी सम्मत कोरा तर्कज्ञान नहीं मानते, या उसे केवल एक द्वन्द्वात्मक शक्ति नहीं मानते और उसे साधक का दिव्य साक्षात्कार मानते हैं तो निश्चय ही हमें शांकरवेदान्त में पूर्वोक्त शंकाओं का बहुत ही मार्मिक समाधान मिल सकता है।*

वस्तुत: जब कुछ एक लोग यह कहते हैं "कि यदि तू ज्ञान को ही सब कुछ समझ बैठेगा तो ईश्वर कहाँ मिलेगा। क्योंकि ज्ञान एक मध्यस्थ की तरह जीव और ईश्वर के मिलन में अड़चन बन जाएगा। किन्तु प्रेम तो ईश्वर को प्रथम प्रयास में ही पा लेगा।[1] अथवा ज्ञान में धन-दौलत, मान-सम्मान सब कुछ है। पर प्राप्ति की इस सरलता के साथ कठिनाई यह है कि हम अपने को ही नहीं पाते।" ये बातें वस्तुत: ऐसे ज्ञानियों को सामने रखकर कही गई हैं जिनके लिए ज्ञान सिवाय किताबी अभ्यास और थोथी नैतिक साधना एवं वैज्ञानिकता के बावजूद कुछ न था। किन्तु भारतीय ज्ञानपरम्परा में केवलाद्वैती लोग ऐसे ज्ञान की ओर देखते भी नहीं। उनकी दृष्टि में पहले साधक को अपने प्राणों में श्रद्धा को सींचना होता है।[2] क्योंकि मूलत: श्रुति ने श्रद्धा को ज्ञान का प्राणकोष माना है। श्रद्धा से उत्पन्न ज्ञान ही एकमात्र मुक्तज्ञान माना गया है। अत: बे-सिर-पैर के ऊहापोह से बचने के लिए ही भारतीयदर्शन श्रुति का अपने ऊपर पूर्ण शासन मानकर चला। शांकर-दर्शन इस परम्परा का अपवाद नहीं। वृद्धावस्था में भी किसी बूढ़े तोते को

व्याकरण का धातुपाठ याद करते देख करुणासम्पन्न आचार्य ने उसे उपदेश दिया कि मौत सिर पर खड़ी है और यह धातुपाठ तुम्हें कुछ नहीं दे सकेगा। अतः गोविंद का भजन करो, भाई ! गोविंद का भजन करो।[3]

वस्तुतः शांकरवेदान्त जब एक निरा बुद्धिवादी दर्शन न होकर एक जीवन-पद्धति के रूप में हमारे सामने प्रतिष्ठापित होता है तो वह बरसात की गंगा की तरह एक ऐसा व्यापक रूप धारण कर लेता है, कि उसमें कर्मयोग, भक्तियोग, नामसाधना, उच्च नैतिकता आदि सभी साधना के उदात्तरूप स्वतः समाविष्ट हो जाते हैं। फिर आचार्य शंकर ने ३२ वर्ष की छोटी-सी अवस्था में जितना महान् कर्म किया, अपनी समसामयिक सगुण-निर्गुण साधना-पद्धतियों एवं आचारों पर अपने मौलिक ग्रन्थों, भाष्यों, देवस्तुतियों में जो एक सामंजस्य स्थापित किया वह अद्वैतवेदान्त के व्यावहारिक क्षेत्र में अद्‌भुत क्रान्ति थी।

आचार्य शंकर जानते थे कि इस देश की मूलचेतना धर्म पर आधारित है। अतः धर्म के माध्यम से ही लोगों के लिए अद्वैतज्ञान का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। अतः एक व्यापक अर्थ में उन्होंने श्रुतिप्रतिपादित धर्म का समर्थन प्राप्त किया। इस धर्म-साधना के हमें दो रूप मिलते हैं। दोनों में उन्होंने व्यवहारतः जीव और ईश्वर के भेद को स्वीकार किया, और उपासना एवं भक्ति को अपने सम्प्रदाय में महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित किया। धर्मसाधना का एक रूप है प्रार्थना, दूसरा है पूजा, कर्मकाण्ड आदि। बाह्य पूजा आदि आचार्य की दृष्टि में आन्तरिक भक्ति की ओर उन्मुख करने के साधन थे। और आन्तरिक भक्ति एवं प्रार्थना आदि चित्तशुद्धि के मूल कारण थे, तथा सगुणब्रह्म की कृपाप्राप्ति में अत्यन्त सहायक थे। उपनिषदें यह घोषणा पहले कर चुकी थीं कि यह आत्मा कोरे वादविवादों से, बहुश्रुत होने से, या केवल तपस्याओं से लभ्य नहीं। इसके लिए अपेक्षित है ईश्वरानुग्रह।[4] आचार्य ने स्वयं माना था कि तुम्हारे कृपाकटाक्ष के बिना भला तत्त्वबोध कहाँ होगा ? और ईश्वर के अनुग्रह से ही मनुष्य में अद्वैत-ज्ञान पाने की वासना का स्फुरण होता है।[5] अतः ज्ञान की दृढ़ आधारभित्ति तो भक्ति को माना ही गया था। वैसे तो ब्रह्मज्ञान से पूर्व उन्होंने जीवन की समस्त उदात्त वैदिक और लौकिक साधनापद्धतियों को मान्यता दी ही है।[6] उपासना के पूर्वोक्त अंतरंग एवं बाह्यरूपों में से वस्तुतः एक की दूसरे में परिणति और अन्त में समस्त साधनाओं की ज्ञानरूपता में परिणति का क्रम मानने में क्या आपत्ति हो सकती है। पर इस प्रसंग में एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि आचार्य एक उच्चकोटि के दार्शनिक पण्डित ही नहीं थे, एक बहुत बड़े समाज के लोकनायक भी थे। एक लोकनायक की दृष्टि से उन्होंने अपने मार्ग से लोगों को अधिक से अधिक परिचित कराने के लिए अधिक से अधिक उसे सरल बनाने का सचेष्ट प्रयत्न किया था। अतः उन्होंने अपने साधनक्रम में सब तरह के अधिकारी लोगों को

दृष्टि में रखकर दो मार्गों की ओर संकेत किया था। एक ओर तो उन्होंने योग की प्रणाली को स्वीकार करते हुए ध्यानयोग को, दूसरी ओर पौराणिक भक्तिमार्ग को उन्होंने स्वीकार किया था। भक्ति को, उन्होंने यथाशास्त्रसमर्थित किसी आलम्बन को स्वीकार करके, उसमें चित्त को लीन करने की विधि भी कहा था।[७] किन्तु ऐसा कहते हुए उनके आगे विभिन्न सम्प्रदायों में बिखरी हुई प्रतीकोपासनाएँ थीं। प्रतीकोपासक, वैष्णवों, शैवों, शाक्तों, गाणपत्यों, सूर्योपासकों में जो एक कलह बढ़ती जा रही थी उसे मिटाने के लिए उन्होंने मन्दिरों में पंचदेवोपासना को प्रतिष्ठित किया। दूसरी ओर अन्तर्मुखी साधकों के लिए उन्होंने मानसपूजापरक विभिन्न देवी देवताओं के स्तोत्र लिखे। इन स्तोत्रों में उन्होंने अद्भुत समर्पणयोग को व्यक्त किया है। शिव की मानसपूजा के प्रसंग में उनकी यह प्रार्थना लोकप्रसिद्ध है कि "हे शिव ! मेरी आत्मा तुम्हारा रूप है। बुद्धि पार्वती का रूप है। मेरे प्राण तुम्हारे सहचर गण है। मेरा शरीर तुम्हारा ही मन्दिर है। मेरे भोग्य विषय तुम्हारे ही पूजन की सामग्री है। मेरी निद्रा तुम्हारी समाधि का रूप है। मेरे चरणों की प्रतिक्षण होने वाली गति तुम्हारी ही प्रदक्षिणा का रूप है। अतः प्रभो ! मेरा तो आज प्रत्येक कर्म तुम्हारा ही आराधन हो गया है।"[८] मैं समझता हूँ भक्त की यह तल्लीनता ही उसका साँसों का रूप है जिसमें भक्त लोक में प्रतिक्षण रहता हुआ भी अपने इष्ट से विलग नहीं होता।

केवलाद्वैत के अनुसार साधक उपासना की इस स्थिति से अब धीरे-धीरे और ऊपर उठता जा रहा है। अब वह प्रतीक के मानसरूप को भी धीरे-धीरे बदलने लगेगा। इष्ट का स्वरूप उसके लिए उसकी अपनी क्षमता के अनुसार बड़े से बड़ा होता जाएगा। अब जैसे उसने अपनी निरन्तर साधना से अपने इष्ट के लघुस्वरूप को एक महान् व्यापक रूप में देखा है वैसे ही उसे अब अपनी सात्विक आसक्ति से भी मुक्ति पाने के लिए इष्ट को रूपों के छोटे-बड़े घेरों से निकालकर निःस्वरूप विश्वव्याप्त ब्रह्मचेतना के रूप में ध्यान करना होगा। यही वस्तुतः केवलाद्वैत की श्रेष्ठतम अहंग्रह प्रधान निर्गुण भक्ति है। इसमें मुमुक्षु को केवल अपने-अपने अहंकार की सूक्ष्म से सूक्ष्म परतें उतारकर अपने इष्ट के साथ ऐक्य अनुभव करने का आध्यात्मिक प्रयत्न करना होता है। इसी निर्गुणोपासना को केवलाद्वैत-ज्ञान के बाद दूसरे नम्बर पर आदर देता है। किन्तु यह उपासना ज्ञान के प्रभाव में इतनी अधिक होती है कि ज्ञानी लोगों का इसमें भी समान आदर है। इस अहंग्रह उपासना में अन्दर के अहंकार, ममता से स्वयं को पृथक् कर ब्रह्मभाव में लीन होना होता है। वैसे इसे ज्ञानी का व्यावहारिक स्तर पर आध्यात्मिक आचरण भी कहा जा सकता है। किन्तु कुछ भक्त अपनी भक्ति को अभेद-ज्ञान के समान स्तर पर लाते हुए यही कहते हैं कि पराभक्ति और परज्ञान मूलतः दोनों एक ही हैं। नारदभक्तिसूत्र में केवलाद्वैती ढंग पर ही भक्ति को परिभाषित किया

गया है। उनके व्याख्याताओं का यह कहना है कि "मनुष्य का जीवन अपने साथ जिस उत्तरदायित्वपूर्ण प्रश्न को लेकर आया है उसका सदुत्तर ही भक्ति है।" × × ज्ञानी मनुष्यों की अव्यभिचारिणी आत्मनिष्ठा ही ईश्वर भक्ति है। × × × भक्ति साधनावस्था नहीं वह तो सिद्धावस्था है। भक्ति प्राप्तव्य अवस्था नहीं वह तो रक्षणीय अवस्था है।[६]

भक्ति के आचार्य जो ज्ञान की प्रकाशमय अपरोक्षानुभूति से परिचित थे उन्होंने अपने-अपने ढंग से भक्ति की व्याख्या की है। शाण्डिल्य भक्ति को आत्मरति से भिन्न कुछ नहीं मानते।[१०] गीता में, उपनिषदों में, सन्तों में अपनी आत्मा में ही एकमात्र रमण करने वाले ज्ञानी भक्तों एवं सन्तों का कई बार उल्लेख हुआ है। हम इस झगड़े में न पड़कर, कि ज्ञान छोटा या बड़ा है या भक्ति, इस बात पर आयें कि शांकरवेदान्त भक्ति को किस रूप में स्वीकार करता है।

कठोपनिषद् में कहा गया था कि जो साधक विज्ञानवान् नहीं, जिसका मन मार्ग पर आरूढ़ नहीं उसकी इन्द्रियाँ दुष्ट सारथी के घोड़ों की तरह उसके वश में नहीं होतीं।[११] ऐसा व्यक्ति जिज्ञासा के पथ का अधिकारी नहीं। किन्तु जिसका मन भक्ति के माध्यम से भक्ति की उच्चतर सीढ़ियों पर आगे बढ़ता जा रहा है उसके लिए भी आचार्य शंकर ने ब्रह्मोपासना की आवश्यकता बताई है·—

महते हि फलाय ब्रह्मोपासनमिष्यते। —ब्रह्मसूत्रभाष्य १-१-१०-२४[१२]

भक्ति के विषय में अपने विवेक चूड़ामणि ग्रन्थ में उन्होंने दो बातें स्वीकार की हैं। एक तो उन्होंने भक्ति को "मोक्ष की कारण-सामग्री में श्रेष्ठतम कहा है। जिसका अर्थ स्पष्ट है। दूसरी जगह भक्ति को जैसे वे ज्ञान के समकक्ष घोषित करते हुए उसे अपने स्वरूप का अनुसंधान करना ही कहते हैं।"[१३] इस दृष्टि से निर्गुण भक्ति का जो स्वरूप हमारे सामने स्पष्ट होता है वह यह कि केवलाद्वैतियों के प्रतिबिम्बवाद आदि के अनुसार जीव मन के अन्दर ब्रह्म की एकमात्र प्रतिच्छाया है। किन्तु अज्ञान के कारण वह अपना अस्तित्व पृथक् मान बैठा है। वह स्वयं को कर्ता, भोक्ता मान बैठा है। उसका अहंकार ही उसे समस्त बन्धनों में डाल देता है। यदि उसके इस अज्ञान एवं अहंकार का निराकरण हो जाता है तो वह स्वयं को ब्रह्मरूप में ही पाता है। तो उसकी इस भिन्नत्व की प्रतीति की निरोधिका और उसे उसके अपने रूप का अनुभव कराने वाली प्रक्रिया ही निर्गुणभक्ति है। वस्तुतः जब भक्ति को परमप्रेमरूपा[१४] कहा जाता है तो भी विचार से यही सिद्ध होता है कि परमप्रेम केवल अपनी आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं होता। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को यही समझाया है 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'। इसी उपनिषद् में यह भी कहा गया है कि जो अपने से भिन्न किसी अन्य देवता को 'मैं अन्य हूँ और देवता अन्य हैं' इस भाव से भजता

है वह देवताओं का पशु बनकर रह जाता है।[15] अतः शांकर मत के अनुसार आत्मदेव की उपासना ही भक्ति है।

इसी महान् उपासना तक पहुँचने के लिए अद्वैतवेदान्ती विभिन्न अधिकारानुसार उपासनाओं, जैसे सूर्योपासना, ओंकारोपासना आदि ज्ञानोन्मुखी उपासनाओं का विधान करते हैं। ज्ञान की श्रेष्ठता की घोषणा तो आर्यग्रन्थों ने सम्मिलित रूप से की ही थी। गीता ने कहा था 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'[16] श्रुति ने कहा था 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' गोस्वामी तुलसीदास भी 'ग्यान मोच्छप्रद वेद बखाना' कह चुके हैं। किन्तु सभी ने ज्ञानमार्ग की दुरूहता को भी स्वीकार किया है। वस्तुतः अद्वैत ज्ञान की इस दुरूहता का मार्जन करने के लिए ही अद्वैतमत में शुरू से ही उपासना को आदरणीय स्थान पर रखा जाता रहा है। उपनिषदों में सत्यदर्शन के लिए सूर्य से प्रार्थना की गई थी।[17] और एक जगह समर्पण की भाषा में कहा गया था कि तुम्हीं हमारे पिता हो जो हमारी अविद्या के हमें पार ले जाओगे।[18] इस सब के स्पष्टीकरण के लिए आचार्य शंकर की हमें उन व्याख्याओं को देखना चाहिए जिनके मूलमन्त्रों में कहा गया है कि "सूर्य, चाँद, सितारे जिससे प्रकाश माँगकर झिलमिलाते हैं। जो ब्रह्मा को वेदों की रचना की प्रेरणा देता है उस अपनी (साधक की) बुद्धि में प्रकाशित होने वाले देव की शरण में मैं मुमुक्षुभाव से जाता हूँ।"[19] शरणागति का उदात्तभाव इसमें कितना स्पष्ट है। सन्तों की भक्ति में मुस्लिमतत्त्व को खोजने वालों को भारतीय भक्तिभावना के इस रूप को ध्यान में रखना चाहिए। उपनिषदों में जिस ढंग से परमात्मा से प्रकाश की याचना की गई थी, मृत्यु के स्थान पर अमरत्व की याचना की गई थी वह निर्गुण परमात्मा के प्रति ही एक गहरे सम्बन्ध की अनुभूति का फल था। निराकार निर्गुण होने पर भी इस ब्रह्म या परमात्मा को आचार्य शंकर एव सन्तों ने सारी सृष्टि में व्याप्त माना तथा इन विश्व प्रकृति के नानारूपों में रहस्यवादी ढंग से निर्विकार परमात्मा की छवि को निहारा था।[20]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट है। निर्गुण होते हुए भी परमात्मा विश्वशासक और विश्वगोप्ता माना गया है। सन्तों म परमात्मा के इस निर्गुण पुरुषभाव के प्रति अधिक आग्रह है। रहस्यात्मक भाषा में उसे सहस्रशीर्षा, सहस्रपात्, सहस्राक्ष कहा गया है। आचार्य ने इन व्याख्याओं में ब्रह्म की निर्गुणोपासना का तत्त्व ढूँढा है। संत नानक भी उस अनन्त की इन्हीं शब्दों में आराधना करते हैं।[21] उनके अनुयायियों ने भी इसी प्रकार ज्ञान में परमोपकारिणी निर्गुणभक्ति को चित्त की जड़ता को ढला-गलाकर भगवदाकार रूप में परिणत करने वाली चित्त की पुण्यमयी सविकल्पवृत्ति ही कहा है।[22] यह वृत्ति कोई साधारण पुण्यों का फल नहीं। यही वस्तुतः विशेष प्रक्रिया में से गुजर कर ज्ञानरूप में परिणत होकर पूर्णमुक्ति के रूप में फलित होती है। कुछ लोगों की

दृष्टि से भक्ति नित्य एवं अत्यन्त सूक्ष्म है। पराभक्ति का एकमात्र लक्ष्य है—भगवान् को रिझाना। यह हृदय को सुख प्रदान करती एवं अमित आनन्द से भर देती है। इसकी सत्ता स्वतः-सिद्ध है और भक्त के हृदय में भगवान् को विराजित कराकर, उनकी प्रीतियुक्त अर्चना-उपासना तथा भगवत्प्रेम के दिव्य आनन्द का उसको अधिकारी बना देती है। न्यायसिद्धांजन में श्रीवेदान्तदेशिक ने भक्ति को एक प्रकार से ज्ञान का ही परिवर्धित रूप माना है।[२३] किन्तु इन कथनों से भक्ति और ज्ञान के अपने मौलिक सम्बन्धों को तो कोई अन्तर नहीं पड़ता। केवल दोनों को पहले पीछे का क्रम देने का लोभ है। शास्त्रों, आगमों, एवं श्रुति ने जो श्रद्धाजन्य ज्ञान की बात कही थी उसका अर्थ ही भक्तिसम्पन्न ज्ञान था। यही ज्ञान केवलाद्वैतियों का साध्य है। उपनिषदों ने जब ब्रह्म के स्वरूप कथन में 'सच्चिदानन्द' लक्षण का प्रयोग किया था तो उन्हें भी यह स्पष्ट था कि ब्रह्म के सत्स्वरूप के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने पर ही हम उसके चैतन्य-स्वरूप की ओर अग्रसर हो सकते हैं जिसमें एकमात्र आनन्द का ही अधिवास है।

निष्कर्षतः हम यह मान सकते हैं कि उच्चतम उपलब्धि में भक्ति अद्वैतज्ञान की अगाधता में अपनी नामरूपता को छोड़कर विलीन हो जाती है। जहाँ मार्गों की श्रेष्ठता का झगड़ा न रहकर भक्त भी ज्ञानी बन जाता है। और जीवन्मुक्त की भाषा में अनुभव करता है—"मैं ही हरि हूँ। यह सब जगत् नारायणरूप है। ये समस्त कार्य-कारण उस से भिन्न नहीं।"[२४] आचार्य शंकर ने इस प्रकार के पौराणिक भक्ति के श्लोकों कोअपने उपनिषद्भाष्यों में बहुधा उद्धृत किया है जो निर्गुणभक्ति की महती उपलब्धियाँ हैं। आचार्य तो स्वयं अपने दैनिक जीवन में निर्गुणोपासक थे। वे अपनी एक छोटी सी रचना निर्गुणमानसपूजा में कहते हैं "मैं, मणि के समान प्रकाशमान, हृदयकमल में संनिविष्ट उस आत्मज्योतिर्लिंग की श्रद्धारूप नदी के विमल जल के अभिषेकों से तथा नित्यसमाधि के फूलों से, मोक्ष-प्राप्ति के लिए, आराधना करता हूँ।"[२५] हमारी दृष्टि में सन्तों की ऐसी सैंकड़ों वाणियाँ आयेंगी जिनमें उन्होंने भी मानस प्रतीकों द्वारा निर्गुणब्रह्म की कभी चित्त के किसी प्रदेश में कभी सहस्रार में आराधना की है। कबीर ऐसी ही आराधना के पक्ष में हैं जो प्राणों को आत्मज्योति के सम्पर्क में ला दे—

ऐसी आरती त्रिभुवन तारै।
तेज पुंज तहां प्रान उतारै॥
पाती पंच पुहुप करि पूजा, देव निरंजन और न दूजा।
तन मन सीस समरपन कीन्हा, प्रगट जोति तहाँ आतम लीना॥
दीपग ज्ञान सबद धुनि घंटा परम पुरखि तहं देव अनंता।
परम प्रकास सकल उजियारा, कहै कबीर मैं दास तुम्हारा॥[२६]

इस उपासना की सबसे बड़ी बात यह है कि यह निष्काम साधना है।[२७]

आत्मोपलब्धि की कामना कोई कामना नहीं है। कामना बाह्यविषय के प्रति ही हुआ करती है। उपासना का यह निष्काम रूप है जिसमें भक्त विराट् ब्रह्माण्ड में उसकी लीला को देखकर हर्षित होता रहता है। उसे समस्त पर्वत, समुद्र, पृथिवी आकाश आदि प्रभु के ज्ञानस्वरूप का ही विजृम्भण लगते हैं, और समस्त विश्व उसी की आराधना में रत दिखाई देता है। नानक ब्रह्माण्ड में हो रही इस आराधना में शामिल होने का अहसास करते हुए कहते हैं—

गगन मै थालु रवि चंदु दीपक बने, तारिका मंडल मनक मोती।
धूपु मलआनलो पवणु चवरो करे, सगल बन राइ फूलंत जोती॥
कैसी आरती होई भवखंडना तेरी आरती।
अनहता सबद वाजंत भेरी॥[२८]

वस्तुतः निर्गुणोपासना ऐसी ही प्रक्रिया है जिसमें जीवात्मा में परमात्मा के सर्वज्ञता, तृप्ति एवं अनादि बोध आदि धर्मों का सम्रव होता है। आचार्य शंकर इस उपासना को वित्ति (ज्ञान) से भिन्न नहीं मानते। ब्रह्मसूत्र के "आवृत्तिरस-कृदुपदेशात् सूत्र की व्याख्या में वे कहते हैं कि वेदान्तों में वित्ति (ज्ञान) और उपास्ति (उपासना) का परस्पर एक-दूसरे के स्थान पर प्रयोग देखा जाता है। कहीं पर विदि धातु से उपक्रम लिया जाता है और उपास्ति से उपसंहार, कहीं पर उपास्ति से उपक्रम अर्थ है तो विदि से उपसंहार। अतः उपासना और वेदन (ज्ञान) एक ही हो जाते हैं।"[२६] वस्तुतः हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि यदि महान् विचार या चिन्तन हृदय से ही उठा करता है तो फिर हृदय की साधना उपासना और ज्ञान दो विरोधी कोण नहीं हो सकते। अगर ज्ञान का अर्थ एक ज्ञानी की ऐसी चिरन्तन अनुभूति है जो समग्र को अपने में लपेट ले तो ऐसा ज्ञान खण्ड-खण्ड करने वाली बुद्धि में नहीं हृदय में ही उदय होगा। आचार्य ने, उपनिषदों ने, सन्तों ने मिलकर एक स्वर में कहा है कि हमें उस पर-ब्रह्म का चिन्तन, कथन, हृदयाकाश में ध्यानपूर्वक करना चाहिए।

सन्तों में स्वामी रामतीर्थ ने परापूजा की सुन्दर व्याख्या की है। वे कहते हैं—"पदार्थ के आकार, नामरूप आदि से उठकर उसके आनन्द और सत्ता अंश में चित्त जमाना, पद या शब्द से उठकर उसके अर्थ में जुड़ने की तरह चर्मचक्षु से दृश्यमान सूरत को भूलकर ब्रह्म में मग्न होना रूपी जो उपासना है, क्या उसे किसी न किसी नियतप्रतीक द्वारा ही करना चाहिए? जब लिखने का हाथ पक गया, तो चाहे जहाँ लिख सके? ब्रह्मदर्शन की रीति आ गई, तो जहाँ दृष्टि पड़ी कि ब्रह्मानन्द लूटने लगे। प्रतीक-उपासना तब सफल होती है जब वह हमें सर्वत्र ब्रह्म देखने के योग्य बना दे। सारा संसार मन्दिर बन जाए, हर पदार्थ राम की झांकी बन जाए, और हर क्रिया पूजा हो जाए—

जेता चलूं तेती प्रदखिना, जो कुछ करूं सो पूजा।
गृह उद्यान एक सम जान्यो, भाव मिटाइयो दूजा।।[३०]

इसी प्रसंग में ब्रह्मसूत्र में आए एक सूत्र 'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्' में बड़े ही सरल ढंग से समाधान कर दिया गया है कि उपास्य प्रतीक या मूर्ति आदि में साधक की ब्रह्मभावना होनी चाहिए न कि ब्रह्म मे प्रतीकभावना करनी चाहिए।[३१] इससे आगे साधक को अहंग्रह उपासना के अन्तर्गत ब्रह्म को अपनी आत्मा के रूप में बार-बार ध्यान करना चाहिए।[३२] वस्तुतः इन दोनों उपासनाओं का प्रयोजन एक ही है—नामरूपात्मक उपाधि को तोड़ना। श्रुति के अनुसार अकाश को, जल को, सूर्य को, प्राण को ब्रह्म के रूप में उपासित करने का अर्थ यह नहीं कि इन प्रतीकों के साथ ब्रह्म को कहीं जोड़ना है। सन्त रामतीर्थ कहते हैं कि "जैसे यह सर्प काला है, इसमें 'सर्प' भी रहे है और 'काला' भी। किन्तु यहाँ बाध समानाधिकरण का है, जैसे किसी भ्रान्ति वाले को कहें—"यह सर्प रस्सी है, यहाँ रस्सी काले रंग की तरह सर्प के साथ समान सत्ता वाली नहीं है, किन्तु रस्सी ही है, सर्प है नहीं।" इसी तरह सच्ची उपासना वह है कि "धारारूप जल दृष्टि में न रहे, ब्रह्म चित्त में समा जाए।"[३३] × × × आगे वे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं "परन्तु जिसने मूर्तिपूजा इस समझ से की, कि यह जरा-सा पत्थर ही ब्रह्म है, वह हो गया 'पत्थर का कीड़ा'।"[३४]

जो लोग प्रतीक-पूजन को ही सर्वस्व मान बैठे हैं, सन्तों के लिए उनकी स्थिति असह्य है। बाह्योपचार में सन्त अनास्था प्रकट करते हैं। बाह्य पूजन-सामग्री आन्तर आराधना के सम्मुख तुच्छ है। "दूध बछड़े का जूठा है। फूल भंवरे का जूठा, जल मछली से अपवित्र, चन्दन सर्प-विष के सम्पर्क से दूषित, धूप, दीप हमारे अपने सूंघने से उच्छिष्ट होता है, फिर भला तन-मन अर्पण परक पूजा के बिना गोविन्द की और क्या पूजा हो सकती है।"[३५] सन्तों के पूजन का एक ही प्रयोजन है कि उन्हें संसार का कुछ न चाहिए। चाहिए केवल आवागमन के चक्कर से छुटकारा—"कह रैदास निरंजन ध्यावौ। जिस घर जावं सो बहुरि न आवौं।"[३६]

शांकरवेदान्त के व्याख्याता ग्रन्थों में पंचदशी स्वामी विद्यारण्य की महत्त्वपूर्ण रचना है। इसके ध्यानदीप प्रकरण में निर्गुणोपासना का उल्लेखनीय वर्णन है। इसमें क्रमशः ज्ञानवती निर्गुणोपासना और ज्ञान तथा उपासना के सूक्ष्म भेदों पर गहरा विचार किया गया है। विद्यारण्य ने दोनों का भेद स्पष्ट करते हुए कहा है कि वस्तुतः ज्ञान वस्तुतन्त्र है और उपासना कर्तृतन्त्र अर्थात् विषयी के अधीन है। अतः ज्ञान की निरपेक्ष निर्विशेषता का अपना ही महत्त्व है।[३७] उन्होंने भक्ति के पक्ष में दो दृष्टान्त दिए। वे कहते हैं कि जैसे परपुरुष में अनुरक्त कोई

स्त्री घर के कामकाज में लगी होने पर भी घर के कामकाज का आनन्द नहीं पर-संग का ही लेती है, जिससे गृहकार्य में विच्छेद होने की सम्भावना रहती है।[३८] किन्तु आत्मोन्मुखी उपासना ईमानदार गृहिणी की तरह है जो अपने मूल से जुड़े गृहकर्म से क्षणभर भी पृथक् नहीं होती। अतः निष्कर्ष के रूप में केवलाद्वैत के अनुसार भक्ति एवं उपासना जितनी आत्मविज्ञान के समीप आती जाती है, उतनी ही श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर होती जाती है।[३९] फिर यह निर्गुणोपासना तो शनैः-शनैः ब्रह्म-ज्ञान में ही परिणत हो जाती है। इस दृष्टि से नारदीय भक्तिसूत्रों एवम् भागवत पुराण की प्रिय उपासना हमें अद्वैततत्त्व के अधिकाधिक समीप पहुँचती लगती हैं जिनमें पुरुषोत्तम के प्रति अहैतुकी भक्ति को निर्गुणोपासना[४०], तथा जिसकी उच्च-स्थिति में अपनी आत्मा में ही रम जाने की बात[४१] कही गई है। अद्वैतमूला भक्ति का एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण हमें सन्त सुन्दरदास के काव्य में मिलता है। ज्ञानी भक्त का उनकी दृष्टि में लक्षण देखिए --

द्वंद्व विना विचरै वसुधा परि जा घट आतमज्ञान अपारौ।
काम न क्रोध न लोभ न मोह न राग न द्वेष न म्हारौ न थारौ॥
योग न भोग न त्याग न संग्रह देह दशा न ढक्यौ न उघारौ।
सुन्दर कोऊ न जानि सके यह गोकुल गाँव कौ पैंडो ही न्यारौ॥[४२]

इस समस्त विवेचन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए कि सन्तों की वाणी में नामजप, सिमरण, ओंकारोपासना, अहं का विसर्जन अनन्त-पुरुषरूप में ब्रह्म की कल्पना, शरणागति, विराट् ब्रह्माण्ड में ब्रह्म की सत्ता का अनुभव करना, ब्रह्म की मानसपूजा आदि तत्त्व केवलाद्वैती परम्परा से सर्वथा मेल खाते हैं। यह दूसरी बात है कि सन्तों की भक्ति या उपासना में इन तत्त्वों के अतिरिक्त कालान्तर के कारण कुछ और सूफियाना तत्त्व भी शामिल हो गए हों। हमारा मन्तव्य सन्तों की परमपुरुष के प्रति पति-पत्नी-भावना आदि अन्य सम्बन्ध कल्पनाओं को अद्वैत-वेदान्तानुसार घटित करने का नहीं है। केवल इतनी बात है कि आचार्य शंकर ने जिस सार्वभौम सार्वकालिक सत्य की ओर सकेत किया था उसे पूर्णतः या अंशतः समझकर ही सन्तों ने विजातीय साधना पद्धतियों को अंशतः सम्भवतः ग्रहण किया है। अद्वैतवेदान्त तो वस्तुतः विश्व की किन्हीं भी साधना पद्धतियों को आत्मसात् करने की क्षमता रखता है। अतः जिन लोगों को अद्वैतज्ञान परम्परा में भक्ति बेमेल नजर आती हो उन्हें आचार्य की दशश्लोकी की मधुसूदनकृत व्याख्या को देखना चाहिए जिसमें उन्होंने भक्ति को अद्वैतपथ में महत्त्वपूर्ण पद दिया है।[४३] वे जानते थे कि यदि परब्रह्म को केवल ज्ञानरूप ही माना गया तो वह एक कठोर बौद्धिक अनुशासन के अतिरिक्त क्या होगा। इसी से ऋषियों ने उसे ज्योतियों की ज्योति, परमज्योति, सच्चिदानन्द पुरुष के रूप में उपास्य भी बना दिया था। शंकर

के परवर्ती व्याख्याकार भले ही अद्वैतवेदान्त को सख्ती से भक्तिमार्ग से पृथक् करने के फेर में रहे हों, किन्तु शांकर सम्प्रदायों ने अभी तक भी विविध शैव, शाक्त, वैष्णव उपासनाओं के ज्ञान-सहयोगी रूपों को जीवित रखा है।

वेदान्ती और सन्तों के दृष्टिकोण में जो भी अन्तर है वह सहज और कालकृत है। शंकर एक बहुत बड़े दायित्व को लेकर कार्यक्षेत्र में उतरे थे। उनके सामने बिखरे हुए सूत्रों को एक सिरे से जोड़ने की समस्या थी। नाना मतवादों को उन्हें मूल से पकड़कर अपनी ओर खींच लाना था। सन्तों के सामने यह समस्या न थी। उन्हें जो अनुचित लगा उसके प्रति उन्होंने विद्रोह किया। उनके सामने निम्न वर्गीय जीवन था। जीवन का जो पक्ष उनकी पहुँच से बाहर था उसे उन्होंने जोड़ने का विफल प्रयास नहीं किया।

अब हम अद्वैतवेदान्त और सन्त-उपासना के केवल दो पक्षों को यहाँ पर उद्धृत करेंगे। एक तो निर्गुणोपासना में ब्रह्म के अर्थ में विभिन्न नामों का प्रयोग और दूसरे अहंकार के निग्रहण द्वारा चित्तशुद्धि की भावना। केवलाद्वैती वेदान्त का, प्रत्येक सम्प्रदाय से मेल बिठाने के लिए, प्रत्येक सम्प्रदाय के इष्ट को अन्ततः ब्रह्म के साथ मिलाने का प्रयत्न शांकरमत में चला ही आया है। विष्णु या नारायण के नाम को परब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त करते हुए शंकर कहते हैं कि "हे नाथ ! मेरा आपसे अभेद हो जाने पर भी आप ही सब कुछ रहते हैं, अर्थात् मैं आपका ऐसे ही रहता हूँ जैसे लहरें सदा समुद्र की रहती हैं, पर समुद्र कभी भी लहरों पर आश्रित नहीं होता।"[४४] 'भज गोविन्दम्', 'हरिमीडे स्तोत्र' आदि में तथा विष्णुसहस्रनाम पर किए गए आचार्य के भाष्य में भी विष्णु के हजार नामों का ब्रह्मपरक ही अर्थ होता है। ऐसे ही शिव के साथ भी ब्रह्म का अभेद स्थापित किया गया है।[४५] वस्तुतः वेदान्त में नामों के पचड़े में ज्यादा पड़ने की जरूरत ही नहीं समझी गई। क्योंकि नाम तो बुद्धि के दायरे तक ही सीमित हैं। उनसे नामी के मूलस्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अर्वाचीन अद्वैती पंडित अप्पयदीक्षित कहते हैं कि महेश्वर कहो या जगदीश्वर, जनार्दन कहो या अन्तर्यामी, मूलवस्तु में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। नामरूपोपासना तो केवल बुद्धि को रमाने के लिए है।[४६] इसी के समानान्तर आपको सन्तों की वाणी में गोविन्द, माधव, केशव, मुरारि, नारायण, पुरुष, राम आदि बीसियों ब्रह्म की उपासना के लिए प्रचलित वैष्णव नाम मिलेंगे। शैवों, शाक्तों से उनकी पटती न थी। अतः उन नामों को भी उन्होंने नहीं लिया। कबीर, नानक, दादू, सुन्दरदास, रैदास सभी ने उपरोक्त नामों को परमपुरुष के अर्थ में प्रयोग किया। कबीर के संदर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि "हरि, गोविन्द, राम, केशव, माधव आदि पौराणिक नामों को कबीर दास क्वचित् ही सगुण अवतार के अर्थ में व्यवहार करते हैं। एकदम नहीं करते, ऐसा नहीं कहा जा सकता।"[४७] किन्तु यह निश्चित है कि जब सन्त इन नामों को

प्रयोग करते हैं तो उस समय उनका हरि, विष्णु, अल्लाह, निर्गुण, निर्विकार पर-पुरुष ही होता है।

वेदान्त की स्वीकृत उपासना में हम ऊपर अहंग्रह उपासना की चर्चा कर आए हैं जिसका सीधा अर्थ यह है कि जिज्ञासु के मार्ग का अन्तिम, पर नितान्त ही विकट अन्तराय है—उसके मन में छिपा स्थूल तथा सूक्ष्म अहंकार। वेदान्ती इसे नष्ट करने के लिए अपने समस्त विवेक का उपयोग करता है। सन्त भी अहंता के इस अनर्थ से पूरी तरह परिचित हैं—

हउमै नावै नालि विरोधु है दुइ न वसहि इक ठाइ।
हउमै विचि सेवा न होवइ, ता मनु विरथा जाइ।।
नामक सतगुरि मिलिवै हउमें गई, ता सचु बसिआ मनि आइ।
सचु कमावै सचि रहै सचे सेवि समाइ।।[४८]

अहंता का यह मैल सब दुःखों का मूल है। हजार तीर्थ, व्रत, करने पर भी मन का यह अहं नहीं मिटता। गुरु अमरदास कहते हैं कि कर्मों से तो यह मल दूर होना एक ओर रहा, दूना बढ़ता है।[४९] इस 'मैं' को मारने के लिए सभी सन्त कृतसंकल्प हैं। जिस दिन यह अहंकार ढह गया, उसी दिन सत्य का साक्षात्कार होगा—

दादू मेरा बैरी मैं मुवा, मुझे न मारै कोई।
मैं ही मुझ को मारता मैं मरजीवा होई।।[५०]

सन्तों की उपासना का मुख्य लक्ष्य यह 'मरजीवा' की स्थिति भी है। 'मरजीवा' ऐसा व्यक्ति है जो अहंकार को पूर्णतः नष्ट कर चुका है। अतः दादू उपासकों को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि इस अहं को जो समस्त कामनाओं, संकल्पों का मूलस्रोत है, मिटा दे तथा नामोपासना में लग जा, नहीं तो वक्त हाथ से निकल जाएगा।[५१] किन्तु इसे मारना कोई खेल नहीं। यह रक्तबीज की तरह है। इसके एक संकल्प को मारो तो दस और उग जाते हैं। फिर समस्त लोकव्यवहार और कामनाओं का आधार-स्रोत यह अहं ही तो है। इसका मर जाना यानी साधक के अन्तर में समस्त व्यवहारों का ही खत्म हो जाना है। अतः अहं का मरना सहज नहीं। सगुणोपासना में तो इसका नाश कतई सम्भव नहीं। रूप परिवर्तन भले ही सम्भव हो। इसकी समाप्ति के लिए सन्त निश्चलदास भी कहते हैं। वेदान्तियों की निर्गुण आत्मोपासना अथवा पहले ओंकार को ब्रह्मस्वरूप मानकर भजन करना तथा फिर 'वह ओंकार रूप ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार की अनुलव अर्थात् क्षणमात्र का भी अन्तराय डाले बिना बुद्धि-वृत्ति का धाराप्रवाह-रूप में चलना, उपासक के अहंग्रह का एकमात्र कारण बन सकता है।[५२] इस विषय में पिछले सन्तों की ओंकार-उपासना सम्बन्धी लेख देख लेना चाहिए।

अन्त में हम दो सन्तों की इन प्रार्थनाओं के साथ यह विषय बन्द करते हैं—जिनमें निराकार घट-घट व्यापी राम की मानसपूजा का मार्मिक आयोजन किया गया है—

आरति रमता राम की कीजै, अंतर्द्धान निरखि सुख लीजै।
चेतन चौकी सत कूँ आसन, मगन रूप तकिया धरि लीजै॥[५३]

सन्त रज्जब और भी आगे बढ़कर स्वयं ही सब कुछ उसी का उसी को समर्पित कर उस आत्मा में लीन हो जाते हैं—

आरती तुम ऊपरि तेरी। मैं कछु नांहि कहा कहूं मेरी॥
भाव भगति सब तेरी दीन्ही, ता करि सेव तुम्हारी कीन्ही।
मन चित सुरति शब्द सब तेरा, सो तुम लै तुम ही पर फेरा॥
आतम उपजि सोंज सब तुम से, सेवा शक्ति नांहि कछू हम से।
तूं आपेहि प्राणपति पूजा, रज्जब नांहि करन को दूजा॥[५४]

अद्वैत वेदान्तियों और सन्तों के उपासनापरक दृष्टिकोण में वस्तुतः जहाँ एक ओर इष्ट के साथ एक हो जाने की तीव्रता है, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने अपने ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान को भी दुरूह शुष्कता से बचाने के निमित्त उसे एकदम संश्लिष्ट रसमय, आनन्दमय चैतन्य का स्फुरण कहा है।[५५] फलतः हम दोनों के उपासना सम्बन्धी निष्कर्षों को कुछ इस प्रकार रख सकते हैं, जो वेदान्तियों के गुह्य मन्त्र-भूत महावाक्यों का निचोड़ है—

१. 'इस चराचर जगत् में सब ब्रह्म हैं' पहले ऐसी भावना अथवा उपासना करनी चाहिए।
२. फिर उसे निर्गुण निर्विकार ब्रह्म के जड़ माया से सर्वथा ऊपर होने की भावना करे।
३. अब उत्तरोत्तर पूर्णता की ओर अग्रसर होता हुआ 'सम्पूर्ण जड़-चेतन एक ब्रह्म है' और वह ब्रह्म मैं हूँ। और यह सब मेरा ही स्वरूप है ऐसा चिन्तन करे।
४. अन्तिम भावना केवल इतनी है कि नश्वर माया से अतीत निर्विकार आनन्द-घन जो परमात्मा है वह मेरी ही आत्मा है।[५६]

सन्दर्भ

१. "Were knowledge all thy faculty, then
God must be ignored :
Love gains him by first leap" —ब्राउनिंग

* इसी प्रबन्ध का पृ० ६१, टि० १, २

२. "श्रद्धया सत्यमाप्यते" अथवा "श्रद्धावाँल्लभते फलम्"।

३. आचार्य कृत 'चर्पटपंजरिका स्तोत्र'।

४. मुण्डक उ० ३-२-३

५. 'कथं त्वत्कटाक्षं विना तत्वबोधः' अथवा 'ईश्वरानुग्रहादेव पुमानद्वैतवासना'
—कल्याण (उपनिषद् अंक), पृ० १५२

६. "सर्वं व्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मत्वविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः स्वप्नव्यवहारस्येव प्राग्बोधात्। प्राग् ब्रह्मात्मताप्रबोधादुपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः।"
—Shankara's Works: (Memorial edition) Vol. II, p. 311

७. "उपासनान्तु यथाशास्त्रसमर्थितां किंचिदालम्बनमुपादाय तस्मिन्समानचित्तवृत्ति सन्तानकरणं, तद्विलक्षणप्रत्ययान्तरितम्।"—Ibid, Vol. VI, p. 9

८. आत्मा त्वं गिरिजामतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्।
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः॥
संचारः पदयोः प्रदक्षिण-विधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो।
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो तवाराधनम्॥
—स्तोत्ररत्नावली, शिवस्तोत्राणि

९. नारद भक्तिसूत्र (श्री रामावतार सम्पादित), भूमिका।

१०. वही, १, ३, ५

११. वही

१२. "महान् फल की प्राप्ति के लिए ब्रह्मोपासना की जानी चाहिए।"

१३. "मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी"
तथा "स्वात्मतत्वानुसन्धानं भक्तिरित्यपरे जगुः"
—विवेक चूड़ामणि, श्लोक ३२, ३३

१४. "सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा" —नारदभक्ति सूत्र, सूत्र २

१५. "अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं न देवानाम्" —बृह० उ० १-४-१०

१६. "ज्ञान के समान पवित्र संसार में कुछ नहीं है।" —भगवद्गीता ४-३८

१७. बृहदारण्यक उ० ५-१५-१

१८. प्रश्नोपनिषद् ८-६

१९. श्वेताश्वतर, अ० ६, मन्त्र १८ पर शांकर भाष्य।

२०. यो देवोऽग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥
—श्वेताश्वतर उ०, अ० २, मन्त्र १७

२१. सहस तव नैन नन नैन है तोहि कउ, सहसमूर्ति नना एक तोहि।
सहसपद विमल नन एकपद गंध बिन, सहस तव गंध इव चलत मोहि।।
—सन्तकाव्य, पृ० २५०

२२. 'द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्पवृत्तिर्भक्तिः"
—अद्वैतसिद्धि

२३ कल्याण (उपासना अंक), वर्ष ४२, संख्या १, पृ० २४९

२४. अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो।
नान्यत्ततः कारणकार्यजातम्।। —श्वेताश्वतर उ० के अ० १, सम्बन्ध भाष्य में विष्णुपुराण १-२२-८७ से उद्धृत

२५. आराधयामि मणिसन्निभमात्मलिंगम्।
माया-पुरी हृदय-पंकज संन्निविष्टम्।।
श्रद्धानदी विमलचित्तजलाभिषेकैः।
नित्यं समाधिकुसुमैरपुनर्भवाय।।
—Advait Vedant, p. 202, (by M. K. Venkat Ram Iyer)

२६. सन्तकाव्य, पृ० १९५

२७. और कर्म सब कर्म हैं, भक्तिकर्म निष्कर्म।
कहै कबीर पुकारिकै, भक्ति करो तजि मर्म।। —कबीर वचनावली, पृ० ११

२८. वही, पृ० २५०

२९. "वित्त्युपास्त्योश्च वेदान्तेषु व्यतिरेकेण प्रयोगो दृश्यते, क्वचिद् विदिनोपक्रम्योपास्तिनोपसंहरति। क्वचिच्चोपास्तिनोपक्रम्य विदिनोपसंहरति।"
—ब्रह्मसूत्र ४-१-१ पर शांकर भाष्य

३०. भक्तियोग रहस्य, पृ० १ (प्रकाशक श्री रामतीर्थ प्रतिष्ठान सारनाथ, वाराणसी)।

३१. ब्रह्मसूत्र अ० ४, पाद १, सूत्र ५, शांकर भाष्य।

३२. "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" —ब्रह्ममीमांसा ४-१-३

३३. भक्तियोगरहस्य, पृ० ७

३४. वही, पृ० ९

३५. सन्तकाव्य (रैदास की वाणी), पृ० २१५

३६. वही, पृ० २१६

३७. "वस्तुतन्त्रो भवेद् बोधः कर्तृतन्त्रमुपासनम्"
—पंचदशी ध्या० दी० प्र० श्लोक ७४

३८. वही, श्लोक ८४, ८५, ८६

३९. यावद् विज्ञानसामीप्यं तावच्छ्रैष्ठ्यं विवर्धते।
ब्रह्मज्ञानायते साक्षान्निर्गुणोपासनं शनैः।। —वही, श्लोक १२२

४०. लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।। —भागवत पुराण ३-२६-१२

४१. "यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति"
—नारद-भक्ति सूत्र ६

तथा "केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते" —वही ४६

४२. सन्तसुधासार, खण्ड-१, पृ० ६३३

४३. सिद्धान्तबिन्दु, श्लोक ८ की व्याख्या ।

४४. सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन् समुद्रो न तारंगः ।।
—शंकरकृत 'षट्पदी स्तोत्रम्'

४५. शंकरकृत निर्वाणषटक में—"चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्" ।

४६. महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे, जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि ।
न वस्तुभेदप्रतिपत्तिरस्ति मे, तथापि बुद्धि तरुणेन्दुशेखरे ।।
—Advait Vedent, p. 198 (by M. K. V. Iyer).

४७. कबीर, पृ० ११७

४८. सन्तकाव्य, पृ० २६१

४९. वही, पृ० २५९

५०. सन्तसुधासार, सं० १, पृ० ४८९

५१. वही, पृ० ४७३

५२. विचारसागर, तरंग ५, सवैया १६९

५३. सन्तकाव्य, पृ० ४७६

५४. वही, पृ० ३७४

५५. सैन्धवघनवद् अनन्तरमबाह्यमेकरसं ब्रह्मेति विज्ञानं सर्वस्यामुपनिषदि प्रतिपिपादयिषतोऽर्थः ।
तथा— सर्वशाखोपनिषत्सु च ब्रह्मैकत्वविज्ञान निश्चितोऽर्थः ।।
—बृहदारण्यक उ० शां० भा० १-४-८४

५६. कल्याण (उपनिषद् अंक), वर्ष २३, पृ० ८४



जोग जुगुत में भरम न छूटे जब लग आप न सूझे।

—कबीर

३

योग : केवलाद्वैत : सन्तसाहित्य

योग शब्द का प्रचलित अर्थ है—मेल। किन्तु पातंजल योगदर्शन के भाष्यकार व्यास ने इस शब्द का प्रयोग समाधि के अर्थ में ही किया है। यह समाधि या आचार्य शंकर के शब्दों में 'चित्तैकाग्र्य'[१] के भौतिक जगत् में बिखरी हुई मनोवृत्तियों के संकोचन के बिना उपलब्ध नहीं हो सकती। किन्तु जैसा कि योग की परिभाषा में योग का ध्येय 'चित्तवृत्ति निरोध' स्वीकार किया गया है उसे संप्रज्ञात एव असंप्रज्ञात समाधि के रूप में दो प्रकार का माना गया है।[२] यह योगदर्शन का सैद्धान्तिक पक्ष है, जिसमें उपनिषदों से बहती हुई योग की निर्मल धारा का पंतजलि के काल तक पारिभाषिकता में बंध जाना लक्षित होता है। इसी में योगसाधना का दार्शनिक द्वैतवाद या प्रकृतिपुरुषवाद भी आ जाता है जिससे केवलाद्वैत का किंचित् मात्र भी समझौता नहीं है। किन्तु इस असंप्रज्ञात आदि समाधि के अंगरूप में योग का जो स्वरूप जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि हैं[3], वह अद्वैतवेदान्त और सन्तों को समान रूप से स्वीकार्य है।

योग का यह व्यावहारिक रूप भारतीय धर्मसाधना में शुरू से ही स्वीकृत रहा है। कठोपनिषद्[४] में इसके स्पष्ट रूप का निदर्शन हमें इस रूप में मिलता है—कि जब सारी ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर हो जाती हैं, तथा बुद्धि भी निश्चेष्ट हो जाती है, उस ध्यान की परम अवस्था में योगी प्रमादरहित हो जाता है। आचार्य शंकर इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि क्योंकि योग ही उत्पत्ति और विलय-धर्म वाला है। अतः अपाय या विलय की निवृत्ति के लिए हमें योग द्वारा प्रमादरहित हो जाना चाहिए। उनके अनुसार यही योगी को समस्त अनर्थों से विलग करके, अविद्या के आरोप को खोलकर आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित कर देने वाली स्थिति है।[५] 'प्रमाद' क्योंकि अपने स्वरूप का अनुसन्धान करने की दिशा में सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है, अतः प्रमाद को आत्मज्ञानी की मृत्यु कहा गया है।[६]

आचार्य कहते हैं कि जैसे शैवाल को जल पर से एक बार हटा देने पर भी वह शैवाल क्षणभर को रुकते ही फिर पानी को ढांप लेता है ऐसे ही माया ज़रा-सा प्रमाद करने पर भी ज्ञानी के स्वरूप को आवृत कर लेती है।[७] अतः प्रमादरहित आत्मविचार के लिए समाधि अथवा योग से बढ़कर कोई उपकारक वस्तु नहीं।

आचार्य ने श्वेताश्वतर उपनिषद् पर विस्तृत प्रामाणिक भाष्य लिखा है। उसमें योग का अद्वैतवेदान्त के परिप्रेक्ष्य में आचार्य को जो सम्मत स्वरूप है वह बड़ा स्पष्ट है। इस उपनिषद् में योग के आसन और मूलादिबन्ध, प्राणायाम, तथा इन योगक्रियाओं के करने से होने वाले चित्तनैर्मल्य आदि आत्मसाधना के फलों का सूक्ष्म वर्णन है।[८] किन्तु समस्त योगों का ध्येय ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान पाने के लिए योगी को चित्त-शुद्धि प्रदान करना है।[९] इसी ढंग पर हम भगवद्गीता में भी योग का महत्त्वपूर्ण वर्णन उन भागों में पाते हैं जिनमें योग करने के योग्य स्थान ढूँढकर योग द्वारा आत्मविशुद्धि करने का मार्ग बताया गया है[१०] और अर्जुन को कहा गया है कि वह सब इन्द्रिय-द्वारों का संयमन करके, इन्द्रियों को विषयों से हटा करके, मन को हृदय में और प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित करके योग-धारणा में लग जाए।[११]

आचार्य शंकर प्रस्थानत्रयी का भाष्य लिखते हुए इन समस्त अन्तरंग और बहिरंग साधनाओं को ज्ञानप्राप्ति के सहायक रूप में स्वीकार करते गए हैं। क्योंकि औपनिषद् ऋषियों ने, श्रीकृष्ण ने, तथा ब्रह्मसूत्र[१२] में बादरायण ने योग को ज्ञानसाधन के रूप में यथेष्ट सम्मान दिया था। योग के अंगों में भी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह नाम वाले पाँच यम, तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान नाम के पाँच नियम[१३], ये ऐसे सार्वभौम साधना के मार्ग हैं जिन्हें भारत की सभी धर्मप्रणालियों ने स्वीकार किया। योग का यह स्वरूप देश-काल की सीमाओं से ऊपर रहकर सभी को शाश्वतरूप से मान्य रहा है।[१४]

अद्वैतवेदान्त का सबसे अधिक जोर इस बात पर रहा है कि बिना ज्ञान के मुक्ति हो ही नहीं सकती (ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः)। क्योंकि बन्धन का कारण अज्ञान या अविद्या है, अतः उसकी निवृत्ति विद्या या ज्ञान से ही होगी। कर्म चाहे भक्ति-परक हों या योगानुष्ठानपरक वे केवल चित्तशुद्धि के लिए हैं।[१५] विष्णुपुराण में यह ज्ञान दो प्रकार का कहा गया है—एक आगम या शास्त्र से होने वाला, दूसरा विवेक से पैदा होकर परब्रह्म से मिला देने वाला है।[१६] अद्वैतवेदान्ती के आचार के ये दोनों ही अनिवार्य अंग है। स्वाध्याय को विवेकप्राप्ति में हम उपकारक ही मान सकते हैं। किन्तु जहाँ ज्ञान का उदय होना है वह स्थान तो हृदय है। स्वाध्याय के साथ ही जब तक योग के अंगों के अनुष्ठान से चित्त की अशुद्धि का क्षय नहीं हो जाता तब तक ज्ञान की दीप्ति कैसे आ सकती है।[१७] अतः ज्ञानोदय-पर्यन्त योगा-भ्यास करते रहना चाहिए।[१८] आचार्य शंकर ने योगजन्य निर्विकल्प समाधि के

अभ्यास से ही ब्रह्म के स्फुट अनुभव होने की बात स्वीकार की है, क्योंकि अन्यथा मन की चंचलता से ब्रह्मतत्त्व विजातीय प्रतीतियों से मिश्रित हो जाता है।[१९] अतः अद्वैतवेदान्त में जहाँ एक ओर उपनिषदों के स्वाध्याय द्वारा अर्थ को सुनिश्चित करने का आदेश दिया है, वहाँ योग के अभ्यास से अन्तःकरण की निर्मलता मुक्ति के लिए अपरिहार्य मानी है।[२०]

योग और वेदान्त दोनों में पवित्र ज्ञान की उपलब्धि के लिए निरन्तर अभ्यास और वैराग्य का विवेचन किया गया है। अभ्यास को अप्रमाद का समानार्थक मानकर हम यहीं विवेचित कर चुके हैं। अद्वैतवेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित विद्यारण्य स्वामी कहते हैं कि जैसे-जैसे योगाभ्यास से साधक को अपना अहंकार विस्मृत होता जाता है वैसे ही उसे स्वरूपानन्द का अनुभव गहरा होता चला जाता है।[२१]

कामना से व्यामोहित चित्त को वश में करने का मुख्य साधन है वैराग्य। क्योंकि संसार के समस्त विषय नश्वर हैं और परिणामतः इनका भोग अत्यन्त ही पीड़ादायक है अतः मुमुक्षु को इन्द्रियों के विषयों में तथा पत्नी, पुत्र, गृह आदि में अनासक्ति या विरक्ति को ही सामने रखना चाहिए। चित्तनिरोध के लिए योग-दर्शन के सूत्र 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'[२२] की स्पष्ट व्याख्या अद्वैतवेदान्त की साधन-चतुष्टय की धारणा मे निहित है। वस्तुओं के नित्य-अनित्यत्व रूपों का विवेक करते-करते अपनी देह से लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त सम्पूर्ण अनित्य भोग पदार्थों में काकविष्ठा के समान घृणाबुद्धि ही वैराग्य है।[२३] आचार्य कहते हैं कि ज्ञानी को नित्यसुख की प्राप्ति तभी होती है जबकि वह वैराग्य और बोधरूपी पंखों के आधार पर उड़ना सीखकर मुक्तिरूपी महल की अटारी पर नहीं जा बैठता। अत्यन्त वैराग्यवान् को ही समाधि की प्राप्ति होती है। समाधिस्थ को ज्ञान मिलता है। ज्ञान से बन्धमुक्ति हो जाती है।[२४] इस समस्त विवेचन से यही निष्पन्न होता है कि समन्वयशील शांकरवेदान्त ने अपने आचारपक्ष में योग का पूर्ण सन्निवेश स्वीकार किया है। उसके प्रक्रिया ग्रन्थों में तो ध्यान, अभ्यास, प्राणायाम आदि साधनों का सूक्ष्म विवेचन देखकर उनका मत यही लगता है कि यद्यपि मुक्ति आत्मज्ञान से ही सम्भव है, किन्तु आत्मज्ञान बिना योग के नहीं प्राप्त होता।

आचार्य कहीं-कहीं तो योग की साधना-पद्धति को पूरा अद्वैतवेदान्ती रंग देने में कसर नहीं छोड़ते। वेदान्ती साधना के निदिध्यासन नामक क्रम के १५ अंगों का विवेचन करते हुए कहते हैं कि वस्तुतः समस्त योगसाधनों की सफलता ब्रह्मदृष्टि के साथ जुड़े रहकर ही है। अतः साधक को चाहिए कि दृष्टि को ज्ञान-मयी करके जगत् को ब्रह्ममय देखे, वही सच्ची दृष्टि है, न कि नाक के अग्रभाग पर टिकी रहने वाली दृष्टि को ही बना रखे।[२५] उन्होंने समस्त योग को आत्म-ज्ञानोन्मुख मानते हुए स्पष्ट किया है कि 'सब ब्रह्म ही है' ऐसे ज्ञान से इन्द्रियसमूह

का संयत हो जाना ही वास्तविक यम है।[२६] इसी के सतत अभ्यास से हमें ज्ञान की सजातीय वृत्ति को प्रवाहित करना चाहिए तथा ज्ञानविरोधी विजातीय वृत्ति का निरोध करना चाहिए। यही नियम हैं।[२७] प्रपंच के जगत् रूप का त्याग कर उसे चित्त रूप देखना ही वास्तविक त्याग है।[२८] मन-वाणी के परे ब्रह्म का जो मौन है उसी का योगी सेवन करें।[२९] आसन वही ठीक है जिसमें सुखपूर्वक ब्रह्मचिन्तन हो सके।[३०] जिस समय चित्त समब्रह्म में लीन हो जाए उसी समय अंगों की समता समझनी चाहिए। अन्यथा सूखे काठ वाले वृक्ष के समान अंगों की निश्चलता का नाम समता नहीं है।[३१]

योग के रेचक, पूरक कुम्भक प्राणायामों की वेदान्तपरक व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि प्रपंच का अन्दर से रेचन करना या निकाल फेंकना ही रेचक है तथा 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस वृत्ति से स्वयं को पूरित करना ही पूरक है।[३२] फिर उस ब्रह्माकार वृत्ति की निश्चलता ही कुम्भक प्राणायाम है। अज्ञानियों के लिए नाक दबाते रहना ही प्राणायाम है।[३३] इस प्रकार निर्विकार तथा ब्रह्माकार वृत्ति से पूर्णतया वृत्तिहीन ज्ञानसमाधि को प्राप्त करके साधक समस्त साधनों से छूटकर सिद्ध योगिराज हो जाता है।[३४] यहीं पर आचार्य ने योग के अनुसार ही समाधि के अनुसन्धानरहितता, आलस्य, भोग-लालसा, लय, तम, विक्षेप, शून्यता आदि विघ्नों का निर्देश किया है तथा उनसे बचने के लिए निरन्तर पूर्णत्व के अभ्यास करने को कहा है।[३५] निदिध्यासन के प्रकरण में इन सब योगांगों का यथोचित विवेचन करके आचार्य ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि इन योगांगों से युक्त तथा हठयोग से मिश्रित राजयोग मैंने कुछ क्षीणवासना वाले लोगों के लिए कहा है।[३६] अतः यह न समझना चाहिए कि उपरोक्त कथनों में ब्रह्मज्ञान के नाम पर योगानुष्ठान को छोड़ देने की बात कही गई है। किन्तु सांख्यपरक योग के द्वैतवादी अन्तिम सिद्धान्त का अद्वैतवेदान्त खुलकर विरोध करता है।[३७]

वास्तव में योग के नानारूप भारतीय जीवन में प्रचलित रहे हैं। किन्तु नादयोग, हठयोग, ध्यानयोग, समत्वयोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि योग के रूपों की चरम परिणति अद्वैतवेदान्त के अनुसार सिद्धिप्राप्ति आदि में न होकर ज्ञानरूप में होनी चाहिए। आचार्य के इस दृष्टिकोण की उनके बाद की योगोपनिषदों में झलक है। अद्वयतारक, अमृतबिन्दु, तेजोबिन्दु, ध्यानबिन्दु, नादबिन्दु, योग-शिखा, ब्रह्मविद्या, हंस, दर्शन आदि छोटी-छोटी योग की उपनिषदों में प्रायः आत्मज्ञान अथवा जीवब्रह्मैक्यज्ञान को ही अंतिम ध्येय के रूप में स्वीकार किया गया है।[३८] यहाँ तक कि उनकी विषय-विवेचन-शैली भी पूर्णतः अद्वैतवेदान्तानुगामिनी है। दूसरी ओर आचार्य ने योग को जितनी सूक्ष्मता से स्वीकार किया उसका पता हमें उनके जीवन और उनके पद्मपाद आदि शिष्यों के जीवन से चलता है। कहा जाता है कि योगसिद्धियों के बल पर ही आचार्य ने जंगल में मरे

हुए राजा डमरूक के मृत शरीर में योग की 'परकाय-प्रवेश' नामक क्रिया के द्वारा अपने प्राणों का संचार कर दिया था। और भी उनके कई योग-चमत्कार प्रसिद्ध हैं।

सन्तों पर योगियों का बहुत बड़ा प्रभाव हिन्दी के विद्वानों द्वारा स्वीकार किया जाता है। डॉ० रामखेलावन पाण्डेय स्वर्गीय डॉ० बडथ्वाल के इस दृष्टि-कोण से सहमत जान पड़ते हैं कि निर्गुण सम्प्रदाय योग का ही परिवर्तित रूप है।[३९] क्योंकि योगपरक वाणियों एवं हठयोग की इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, षट्चक्र, कुण्ड-लिनी आदि योग परिभाषाओं के सन्तों की वाणी में कई जगह मिलने से यह अनुमान काफी हद तक सही प्रतीत होता है। किन्तु एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि सन्तों का दृष्टिकोण भले ही सिद्धों या नाथयोगियों का परिवर्तित रूप रहा हो, किन्तु परिवर्धित वह ब्रह्मात्मवाद से ही हुआ है। जोगी की बहुत-सी क्रियाओं के प्रति अनास्था दिखाते हुए कबीर वरन् यह न कहते "कि असली 'जोगी' वह नहीं है जो मुद्रा, निरति, सुरति, सींगी धारण करता है। असली योगी तो वही है जो निर्विकल्पकता की स्थिति में रहता है, जिसकी नजर में 'दुनी' (जगत्) का स्फुरण बन्द हो जाता, और जो पूर्णचैतन्य के आसन पर स्थित हो जाता है। जो अन्तर्मुख होकर ब्रह्माग्नि में समस्त भौतिकता को दग्ध कर डालता है।"[४०]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों का बहुत बड़ा परिश्रम योग की सिद्धि-मात्र में उलझी दृष्टि को अथवा योगसमाधि को ब्रह्मज्ञान से जोड़ देने में रहा है। कबीर कहते हैं—

अब मैं पाइबौ रे पाइबौ ब्रह्मगिआन।
सहज समाधें सुख में रहिबौ, कोटि कलप विश्राम॥[४१]

इस समाधि में उन्हें जो आत्मज्ञान की उपलब्धि होती है, उसे आप कबीर के ही शब्दों में देखिए—

आपें तब आपा निरख्या अपनपैं आपा सूझ्या।
आपैं कहत सुनत पुनि अपना अपनपैं आपा बूझ्या॥[४२]

सन्तों की दृष्टि में भी योग का फल अपने आपको बूझना है।

प्रस्तुत अध्ययन में हमें सन्तों द्वारा प्रयुक्त 'अवधू जोगी' की धारणा को भी देख लेना चाहिए। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने[४३] कबीर के 'अवधू या अवधूत' शब्दों पर गहरा विमर्श करते हुए सिद्ध किया है कि सच्चा अवधूत योगी कबीर साहिब का आदर्श है। इसी कारण यद्यपि इन योगियों के सम्प्रदाय के सिद्धों को ही कबीरदास 'अवधू' कहते हैं तथापि वे साधारण योगी और अवधूत के फर्क को बराबर याद रखते हैं। आचार्य द्विवेदी ने 'बौद्धगान ओ दोहा' के चर्यापदों के आधार पर सहजयान और वज्रयान नामक बौद्ध तांत्रिक मतों में

वर्णित 'अवधूती वृत्ति' का इस दिशा में उल्लेख किया है।[४४] इसी प्रसंग में हमें अद्वैतवेदान्ती अवधूत योगी की धारणा को भी समझ लेना चाहिए। अव उपसर्ग 'ञ् कम्पने' धातु से क्त प्रत्यय आकर अवधूत शब्द निष्पन्न होता है, जिसका शब्दार्थ कम्पित किया हुआ, त्याग किया हुआ, होता है। रघुवंश में इस शब्द का प्रयोग 'घृणित' के अर्थ में हुआ है।[४५] संन्यासियों में इस शब्द का प्रयोग सांसारिक बन्धनों तथा विषयवासनाओं से रहित एवं वर्णाश्रम धर्म से ऊपर उठे ज्ञानी के लिए है। आत्मचैतन्य में ही अवस्थित ज्ञानी को अवधूत कहा जाता है।[४६] या 'अ' से अक्षरता या अविनाशिता, 'व' से वरेण्यता, 'धूत' मानो संसार बन्धनों को दूर करने से एवं 'तत्त्वमसि' महावाक्य के उस (योगी) में चरितार्थ होने से योगी अवधूत कहा जाता है।[४७] वस्तुतः वेदान्त के अनुसार ऐसा प्रपंचातीत व्यक्ति ही अवधूत है जिसने संन्यास के जटा, मुण्डन, काषाय वस्त्रों तक का भी त्याग कर दिया है, और सब अवस्थाओं से निर्मुक्त हो गया है।[४८]

अवधूत के इस पारिभाषिक अर्थ के अतिरिक्त उसके आचरण का जो एक प्राचीन रूप हमें महाभारत में मिलता है, उसे हमें शान्तिपर्व में प्रह्लाद और अवधूत के वार्ता-प्रसंग में देखना चाहिए। वहाँ पर अवधूत अपनी 'आजगर वृत्ति' (अजगर जैसी) का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं 'कि मैं सुख और दुःख, हानि या लाभ, राग-द्वेष, मृत्यु और जीवन, इन सबको तत्त्वरूप से विधि के निश्चित किए हुए देखकर अत्यन्त, सहज, पवित्र, कर्महीन स्थिति में हो गया हूँ।" आप चाहें तो इसी अवधूत वृत्ति का रूप सन्त मलूकदास की इस उक्ति में पा सकते हैं— "अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम। दास मलूका कह गए सबके दाता राम॥" सम्भवतः शास्त्रीय दृष्टि से अवधूती वृत्ति संसार की ओर परम नैराश्य-पूर्ण दृष्टि है।

अस्तु, कबीर का या कुछ अन्य सन्तों का योग भले ही नाथपंथी योग का परिवर्तित रूप रहा हो, किन्तु सन्त दादू दयाल के मत का दृष्टिकोण मूलतः ज्ञान-वादी है। इसी से डॉ० बडथ्वाल ने कुछ लोगों को दादूमत को योग से अत्यधिक जोड़ते देखकर कहा है कि "दादू ने तीन दृष्टियों का उल्लेख किया है जिन्हें उन्होंने चर्मदृष्टि, आत्मदृष्टि, ब्रह्मदृष्टि कहा है। इन्हें योग की दृष्टियों (नासाग्रदृष्टि तथा भ्रूमध्यदृष्टि) के साथ नहीं गड़बड़ाना चाहिए। ये योगाभ्यास की दृष्टियाँ न होकर ज्ञानभूमिका-सूचक दृष्टियाँ हैं।"[४९] यहाँ उन्होंने चर्मदृष्टि का सबंध भौतिक जगत् और बौद्धिक ज्ञान से जोड़ा है। आत्मदृष्टि का शब्दब्रह्म से तथा ब्रह्मदृष्टि की बर्गसां की अन्तर्वृत्ति (इन्ट्यूशन) और हक्सले की तीसरी वस्तु (थर्डथिंग्) के साथ तुलना करते हुए उसे स्वानुभूति की परम दशा माना है। पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुकूल हम इन दृष्टियों में से प्रथम में फिजिकल और साइकिकल, दूसरी में मेण्टल तथा तीसरी में स्पिरिचुअल दशाओं का समावेश कर सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि हमें सन्तों के साहित्य में शब्दयोग या लययोग-सम्बन्धी अनेक कथन मिलते हैं तथा सन्तों की रुचि भी उस ओर रही है, किन्तु शब्दयोग को चरमध्येय के रूप में सन्तों के दो एक सम्प्रदायों ने ही पकड़ा है। अतः मूलयोग जो अष्टांगयोग के नाम से प्रसिद्ध है उसकी हम अद्वैतवेदान्त और सन्तों में समान स्वीकृतियाँ देखते हैं।

यह तो स्पष्ट है कि अद्वैतवेदान्ती विचार-पद्धति के तीन मुख्य क्रम माने गए हैं— श्रवण, मनन, निदिध्यासन। शांकर अद्वैत के प्रकांड ज्ञाता सदानन्द निदिध्यासन की व्याख्या करते हुए कहते हैं—"विजातीय देहादिप्रत्ययरहिताद्वितीय वस्तु सजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्"[५०] अर्थात् विरोधी देह आदि के विचारों से रहित अद्वितीय वस्तु ब्रह्म के विषय में अनुकूल विचारधारा के प्रवाह को निदिध्यासन कहते हैं। इस अनुकूल विचारधारा प्रवाह के लिए उन्होंने सविकल्पक एवं निर्विकल्पक योग की समाधियों का तथा उसके अंगभूत अष्टांगयोग का योगसम्मत विवेचन किया है। निर्विकल्पक समाधि के लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद नाम के विघ्नों को अद्वैत-चिन्तन में परमबाधक माना है।[५१] यह समाधि अष्टांगयोग-साधना का अन्तिम अंग है। पंतजलि कहते हैं कि ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येयाकार हो जाता है तब भेद मिटकर स्वरूपशून्यता जैसी चित्तस्थिति ही समाधि है।[५२] आचार्य इसे अपने सत् लक्ष्य पर चित्त की एकाग्रता को ही समाधि या समाधान कहते हैं।[५३] आचार्य लक्षण करते हुए उसे चरम ध्येयनिष्ठा के रूप में स्वीकार करते हैं। सन्त भी उसे इसी रूप में कई जगह ग्रहण करते हैं। कबीर कहते हैं कि "अरे मन ! अब तुम जहाँ चाहो जाओ। अब तो तू जहाँ भी जाएगा वहीं तुझे अपना ध्येय सूझेगा। जहाँ भी जाएगा, वहीं ज्ञान का द्वार खुल जाएगा।[५४] इस समाधि-दशा में कबीर को तन की सुधि भी भूल जाती है और समाधि-सुख के समुद्र में डूबकर वे कहते हैं—

लीन निरन्तर बपु बिसराया, कहै कबीर सुखसागर पाया।[५५]

वस्तुतः मन के भ्रम को नष्ट करने के लिए उसे बहिर्मुखता से मुक्त करके उसी से ज्ञान प्राप्त करना होता है। जब मन की समस्त वृत्तियाँ मन में ही उदय हुई ब्रह्माकारवृत्ति के रूप में सिकुड़कर एक हो जाती है, तो वह ध्येयाकार चित्त-वृत्ति ज्ञानोदय कर वहीं डूब जाती है जैसे कतक (निर्मली बूटी के बीज) मैले पानी को निर्मल कर फिर स्वयं भी खत्म हो जाती हैं।[५६] अतः मुक्ति की प्राप्ति में भी अन्त तक खेल तो सारा मन का है। देखिए कबीर इस रहस्य को कैसे स्पष्ट करते हैं—"वे कहते हैं कि मन का स्वभाव मन में ही व्याप्त है। मन के मारने से अभिप्राय उसे नष्ट करना नहीं। क्योंकि वस्तुतः मुक्ति भी उसी की होती है।[५७] अतः सन्तों के अनुसार भी मन को ही मोक्षप्राप्ति के लिए स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर

लाना है। मन को सूक्ष्म करने का कारण यद्यपि विचार सर्वश्रेष्ठ है फिर भी इस दिशा में योगप्रक्रियाओं का सहारा भी लिया जा सकता है। इसके लिए पवन-साधन या प्राणायाम आदि यौगिक क्रिया कबीर को उपयुक्त लगती है—

संतहु मन पवनै सुखु बनिया। किछु जोग परापति गनिग्रा ॥[५८]

सैद्धान्तिक रूप से सन्त कभी भी योगियों के ईश्वरवाद को अपना परम-साध्य नहीं मान सके। डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने अपने सुन्दरदर्शन ग्रन्थ में अनेक उदाहरण देकर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सन्त सुन्दरदास ने अष्टांगयोग-साधना को पूर्णरूप से स्वीकार किया था। किन्तु लेखक डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत के इस मत से पूर्णतः सहमत है कि "सन्त लोग अष्टांगयोग-साधना में सिद्धान्तरूप से विश्वास नहीं करते थे। उन्होंने उसकी जो चर्चा की है वह केवल पृष्ठभूमि के रूप में ही की है।"[५९] क्योंकि वस्तुतः जब योगक्रियाएँ दैनिक व्यायाम बनकर रह जाती हैं और ज्ञान अथवा विचार से ज्ञानी वंचित रह जाता है तब उसे योगसमाधि की अनुपयोगिता स्पष्ट होने लगती है—

सून्य में समाधि लाइ, मन मारियतु।
ऐसे ऐसे करत, करत केते दिन बीते।
सुन्दर कहत अजहूं, विचारिपतु है।
कारो ही न पीरो न तौ, तातो ही न सीरो कछु।
हाथ न परत ताते हाथ झारियतु है ॥[६०]

फिर भी साधक और ज्ञानी के लिए शारीरिक और मानसिक स्वस्थता एवं पवित्र आचार तथा ज्ञानयोग्य चित्त की वासनाओं को सूक्ष्मातिसूक्ष्म करने के लिए योग की उपयोगिता असन्दिग्ध है। अतः यद्यपि ज्ञानी सन्त के लिए आत्म-ज्ञान ही उपलभ्य है, किन्तु वह आत्मज्ञान बिना योगसाधना के उत्पन्न नहीं होता।[६१] यह योगसाधना चाहे ज्ञान-योग हो, भक्तियोग हो, कर्मयोग हो, या सिद्धों नाथों की कोई हठयोग सम्बन्धी प्रक्रिया हो। अतः सन्तों ने भी इसे आत्मज्ञान के सहायक रूप में ही स्वीकार किया है। सुन्दरदास, मलूकदास, तुलसी साहिब की रचनाओं में इन प्रभावों को स्पष्ट देखा जा सकता है। सन्त सुन्दरदास ने यमों की व्याख्यात्मक चर्चा की है—

प्रथम अहिंसा सत्य हि जानि सोय सुन्यागै।
ब्रह्मचर्य दृढ़ गहै क्षमा वृत्ति सो अनुरागै ॥
दया बड़ो गुन होइ आर्ज्जव हृदय सुआनै।
मिताहार पुनि करै शौच नीको विधि जानै ॥[६२]

सन्त तुलसी साहिब इस अष्टांगयोग की महिमा का जहाँ परमयोग की प्राप्तिरूप

फल बताते हैं[६३] वहाँ मलूकदास भी सन्तों को यमों को अपनाने पर बल देते हैं—

सन्त अहिंसा ब्रह्मचर्य परधन तजब विकार।
दया आर्जव छमा सौच पुनि संग्रह् नित्याहार ।।[६४]

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, इन नियमों की चर्चा भी तत्त्व की ओर उन्मुख साधक के लाभ के लिए सुन्दरदास ने की है।[६५] वैसे सन्तों के आदर्श सन्त की परिभाषा में और अद्वैतवेदान्तियों के साधनचतुष्टय में इनका समावेश हो सकता है।

अद्वैतवेदान्त के अनुसार सदानन्द ने आसन की परिभाषा देते हुए कहा है कि हाथ-पैरों की विशेष स्थितियों के ज्ञापक पद्म और स्वस्तिक आदि आसन ज्ञानसाधना में कर्तव्य है।[६६] सुन्दरदास आसन को मोक्ष के किवाड़ खोलने में उपयुक्त समझकर सिद्धासन और पद्मासन का वर्णन करते हैं।[६७] इस विषय में यारी साहिब का भी योग की युक्ति द्वारा ध्यान में बैठने का सन्देश देखने योग्य है—

जोगी जुगति जोग कमाव।
सुखमना पर बैठि आसन, सहज ध्यान लगाव ।।[६८]

सन्त पलटू ने भी आठों पहर पद्मासन में स्थित रहकर आत्मचिन्तन का उपदेश किया है।[६९] सन्त भीखा और दरिया साहिब ने भी सामान्य रूप से आसनसिद्धि का सुझाव दिया है।

वेदान्त में प्राणायाम को लेकर उसे प्राणनिग्रह का विशेष साधन माना गया है और उसके रेचक, कुम्भक, पूरक तीन भेदों का उल्लेख भी है।[७०] प्राणायाम की उपयोगिता को कबीर, सुन्दरदास, तुलसी, गुलाल साहिब, यारी साहिब ने स्पष्ट स्वीकार किया है।[७१] उन्होंने प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान वायुओं का जिक्र किया है। वस्तुतः चित्त को स्थिर रखने के लिए प्राण के बहिर्मुख स्पन्दनों को थामते ही योगी का चित्त थम जाता है। इसी क्रम से हमें सन्तों के काव्य में चित्त की गतियों को जगत् की ओर से स्तम्भित करके प्रत्याहार, ध्यान धारणा समाधि द्वारा अद्वितीय वस्तु आत्मा या ब्रह्म की ओर उसके एकाग्र वृत्ति प्रवाह को चलाने का समर्थन किया गया है। इसके अतिरिक्त योग की प्रणवजप-पद्धति की हम अद्वैतवेदान्त और सन्तों के साहित्य में तुलनात्मक विवेचना अपने 'ओंकार' नामक अध्याय में कर चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही अभिप्राय है कि शंकर की दृष्टि में और सन्तों की दृष्टि में योग एक बहुत व्यापक ज्ञानोन्मुख प्रयत्न है। आचार्य ने वेदान्त के साथ उसे भगवद्गीता के आलोक में ग्रहण किया था। अतः ज्ञानप्राप्ति में सहायक योग की ओर उनकी दृष्टि अकृतज्ञ की नहीं है। वे कहते हैं—"तद्ज्ञानं स्वयमेव योगसंसिद्धो योगेन कर्मयोगेन समाधियोगेन च

संसिद्धः संस्कृतः योग्यतामापन्नो मुमुक्षुः कालेन महता आत्मनि विन्दति"[७२] अर्थात् कर्मयोग या समाधियोग द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाने से मुमुक्षु आत्मज्ञान को समय आने पर स्वयं ही पा लेता है। अतः योग नितान्त ज्ञानियों और सन्तों की दृष्टि में एक स्पृहणीय साधना है जो उन्हें अलभ्य आत्मज्ञान जैसी दिव्य उपलब्धि का साक्षात्कार करा देता है—

"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

—भगवद्गीता ४-३८

सन्दर्भ

१. पातजंल योगप्रदीप, पृ० १४१

२. समाधिपाद, सू० १७, १८

३. "यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टांगानि।"

—योगदर्शन २-२९

४. यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति……॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ —वही, २-३-१०, ११

५. "एतस्यां ह्यवस्थायां अविद्याध्यारोपणवर्जितस्वरूप प्रतिष्ठ आत्मा।…… अप्रमत्तः प्रमादवर्जितः समाधानं प्रति नित्यं यत्नवान् तदा तस्मिन्काले यदैव प्रवृत्तयोगो भवतीति। अतोऽपायपरिहाराय अप्रमादः कर्तव्यः।"

—वही, शां० भा०

६. विवेक चूड़ामणि, श्लोक ३२२

७. वही, श्लोक ३२५

८. श्वेताश्वतर उपनिषद्, अ० २, मन्त्र ८-१३

९. वही, मन्त्र १५

१०. भगवद्गीता, अ० ६, श्लोक ११-१३

११. "मूर्ध्न्याधाय प्राणमास्थितो योगधारणाम्।" —वही, अ० ८-१२

१२. ब्रह्मसूत्र ४-१-७, ८, ९, १०

१३. योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३०, ३२

१४. वही, सूत्र ३१ में पाँच यमों को सार्वभौम महाव्रत कहा गया है।

१५. विवेक चूड़ामणि, श्लोक ११

१६. "आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तदुच्यते।" —वही, ६-५-६१

१७. "योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिः।" —योगदर्शन २-२८

१८. "आविवेकख्यातेः" —वही

१९. निर्विकल्पक समाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्वमवगम्यते ध्रुवम् ।
अन्यथा चलतयामनोगतेः प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ।।
—विवेक चूड़ामणि, श्लोक ३६६

२०. वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः ।
संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्वाः ।। —मुण्डक उ०, ३-२-६

२१. पंचदशी, ब्रह्मानन्दे योगानन्द प्रकरणम्, श्लोक ९८

२२. योगदर्शन १-१२, १५ अर्थात् देखे-सुने सभी विषयों में तृष्णा की समाप्ति से होने वाला वशीकार ही वैराग्य का लक्षण है।

२३. अपरोक्षानुभूति, श्लोक ४

२४. विवेक चूड़ामणि, श्लोक ३७६

२५. अपरोक्षानुभूति, श्लोक ११६

२६. वही, श्लोक १०४

२७. वही, श्लोक १०५

२८. वही, श्लोक १०६

२९. वही, श्लोक १०७, १०८

३०. वही, श्लोक ११२

३१. वही, श्लोक ११५

३२. वही, श्लोक ११९

३३. वही, श्लोक १२०

३४. वही, श्लोक १२४, १२६

३५. वही, श्लोक १२७, १२८, १२९

३६. वही, श्लोक १४३

३७. ब्रह्मसूत्र १-१-५-११ और २-१-१-३ पर शांकर भाष्य।

३८. कल्याण (योगांक), पृ० १०४ पर "योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्ष-कर्मणि।"

३९. मध्यकालीन सन्तसाहित्य, पृ० ३७५

४०. कबीर, पृ० २४ "आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित।"

४१. वही, पृ० ६५

४२. वही

४३. वही, पृ० ३०

४४. वही, पृ० २४

४५. सर्ग १९, श्लोक ४३

४६. यो विलध्याश्रमान् वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान् ।
अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स उच्यते ।।
—संस्कृत हिन्दी कोश, शिवराम वामन आप्टे, सन् १९६६
४७. अक्षरत्वात् वरेण्यत्वात् धूतसंसारबंधनात् ।
तत्वमस्यर्थसिद्धत्वात् अवधूतोऽभिधीयते ।। —वही
४८. सर्वतन्त्रसिद्धान्त पदार्थ लक्षण संग्रह, पृ० ४०
(ज्योतिष प्रकाश मुद्रणालय, काशी प्रकाशन), सं० २०१६
४९. चमदृष्टि देखे बहुत करि, आतमदृष्टी एक ।
ब्रह्मदृष्टी परिचय भया, दादू बैठा देख ।।
—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० २०७, १९६३
५०. वेदान्तसार, पृ० ६५
५१. वही, पृ० ६६
५२. "तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः"
-- योगदर्शन, विभूतिपाद, सूत्र ३
५३. "चित्तैकाग्र्यं तु सल्लक्ष्ये समाधानमिति स्मृतम्"
—अपरोक्षानुभूति, श्लोक ८
५४. सन्तकाव्य, पृ० १७७
५५. वही
५६. "कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येत् जले कतकरेणुवत्"
- आत्मबोध (शंकरकृत), श्लोक ५
५७. सन्तकाव्य १७२
५८. वही, पृ० १७३
५९. "हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि"
(डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत), पृ० ४९४
६०. सुन्दरविलास, पृ० १६६
६१. "आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात् तच्च ज्ञानाद् ऋते नहि"
—स्कन्द पुराण का० खं० ४१-४२
६२. सुन्दरदर्शन (डॉ० त्रि० ना० दी०), पृ० २९
६३. घटरामायण, भाग-१, पृ० ३०
६४. सुन्दरदर्शन, पृ० ३०
६५. वही, पृ० ३२
६६. वेदान्तसार, पृ० ६५
६७. सुन्दरदर्शन, पृ० ३८, ३९

६८. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० ४८५
६९. वही
७०. "प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामाः" —वेदान्तसार, पृ० ६५
७१. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० ४८६, ४८७
७२. भगवद्गीता ४-३८ पर शांकर भाष्य।



४

आचार-दर्शन

भारतीय धर्मदृष्टि में आचार शब्द का जो अर्थ है वह है व्यक्ति द्वारा अनुभूत सत्य को व्यावहारिक जीवन में उतार लेना। 'कथनी' और 'करनी' जब तक एक होकर 'रहनी' के रूप में परिणत नहीं हो जाती तब तक व्यक्ति आचार-हीन ही माना जाएगा। कोई बहुत बड़ा विद्वान् होने से, वेदज्ञ होने से या व्यवहार-कुशल होने से ही सच्ची सन्तों की 'रहनी' नहीं रह सकता। अतः यह यहाँ के सभी धर्मों ने मान लिया था—'आचारः परमोधर्मः'। फिर ऐसे आचार से हीन व्यक्ति को वेद भी स्वयं शुद्ध नहीं कर सकता।[1] इस दृष्टि से आचार शब्द केवलमात्र नैतिक आचरण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। शांकर सम्प्रदाय के शान्ति पाठ में यह प्रार्थना की जाती है कि "मेरी वाणी मन में प्रतिष्ठित हो और मन वाणी में। मेरा सुना और गुना हुआ मुझे न छोड़ जाए। मैं अपने स्वाध्याय किए हुए के अनुसार अपना जीवन बिताऊँ। मैं ऋत और सत्य के संरक्षण में जीऊँ।"[2] इसलिए व्यक्ति के अन्दर और बाहिर के जीवन की असंगति को मिटाकर उसे उसके निश्चित किए हुए आदर्शों को कोरे बौद्धिक स्तर से खींचकर उसके जीवन में जीने योग्य बना दिया जाता है। जीवन्मुक्त की कल्पना इस सम्भावना को अधिकाधिक समर्थित करती है। क्योंकि कोई व्यक्ति आचारहीन होकर वैद्य, विद्वान्, कलाकार, शिल्पी, वैज्ञानिक तो हो सकता है किन्तु ज्ञानी सन्त नहीं हो सकता। इन्हीं अर्थों में हम पाश्चात्य दार्शनिक और नैतिक जीवन जीने वाले सन्तों की दो अलग-अलग कोटियाँ अपने यहाँ नहीं पाते। इसीलिए ज्ञान हमारे यहाँ केवल शास्त्रीय बोध के अर्थ में कभी प्रयुक्त नहीं हुआ अपितु स्वयं जीने की वस्तु रहा है। अगर नैतिकता चाहे वह पूर्व की हो या पश्चिम की, एक बात को स्वीकार करती है—कि जीवन की पूर्णता मन, वाणी, कर्म के एक धाराप्रवाह में बहकर संत के जीवन में आती है तो अद्वैतवेदान्त की नैतिकता विश्व की सर्वश्रेष्ठ नैतिकता मानी जा सकती है।

इस युग के कुछ एक पाश्चात्य विचारकों ने शांकर वेदान्त के नैतिकपक्ष को काफी दुर्बल समझा है। क्योंकि अद्वितीय ब्रह्म को मानने के बाद एक निश्चित

नैतिकता की गुंजाइश उसमें कम होती उन्हें नजर आती है। गफ का कहना है कि उपनिषदों के कथनानुसार "यहाँ के ऋषि मुनि दैवीय जीवन में भाग लेने का प्रयत्न, केवल पवित्र भावना, उच्च विचार एवं कठोर परिश्रम द्वारा नहीं, और न ही सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा सत्कार्य द्वारा, अपितु एकान्तवास, अनासक्ति निष्क्रियता एवं समाधि द्वारा ही करते हैं।"[3] यूकन वेदान्त-चिन्तन में संसार से कोरा पलायन देखकर समझने का यह भ्रम कर बैठते हैं कि उपनिषदों का लक्ष्य अधिकतर संसार में घुसकर उस पर विजय पाना उतना नहीं, जितना कि उससे अनासक्ति एवं मुक्ति पाना है।[4] कुछ और हमारे इन वेदान्त के अध्येताओं में से डॉ० राधाकृष्णन् ने ड्यूसन[5] के मत को विस्तार से उद्धृत करते हुए कहा है कि "ज्ञानियों के लिए सदाचार का कोई अर्थ नहीं। अज्ञानियों के लिए भी इसका कोई अर्थ नहीं। क्योंकि ज्ञान पहले से ही विद्यमान सत्ता का होता है। उसका अनुभव होता है। अतः नैतिक आचरण प्रत्यक्षतः ज्ञानी के लिए कोई अर्थ नहीं रखता।" इन मतों के मूल में एक ही दुर्बलता है कि इन महानुभावों ने समस्त हिन्दू नैतिकता को किताबों में ही देखा है। फलतः हिन्दू नैतिकता के केवल जीने योग्य पक्ष को शायद बिलकुल भी न देख पाए हों। भारतीय आचार या कर्तव्याकर्तव्य-विवेक सम्बन्धी दृष्टि के विस्तार को तो हम छोड़ें, केवल अपने यहाँ के ज्ञानी की परमोदार आचरणशीलता का अंकन जो वेदान्त-ग्रन्थों में पाते हैं वह आचार्य शंकर के शब्दों में यह है कि "ऐसे लोग जिनकी कामनाएँ शान्त हो गई हैं तथा जो स्वयं संसार समुद्र को तैरकर पार कर चुके हैं वे बिना किसी कारण के लोककल्याण में लगे रहते हैं।"[6] अद्वैतवेदान्त का यह महान् आधार हम उसके प्रस्थानत्रय अर्थात् भगवद्गीता, उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र में पैर पैर फैल हुआ पाएँगे। पर प्रश्न यह है कि क्या वेदान्त-चेतना आचार का अर्थ पूरी तरह से पाश्चात्य आचारशास्त्र वाला स्वीकार करती है। अगर नहीं तो केवल इसलिए क्योंकि उनका आचार मन, बुद्धि, आत्मा के संयुक्त प्रकाश की अभिव्यक्ति है, केवल कुछ लोगों के जीने के समझौतों या पाप-पुण्य, नरक-स्वर्ग के कृत्रिम भयों अथवा ईश्वर-दण्ड की क्षमता के परिणामस्वरूप नहीं बना है। स्वामी विवेकानन्द कहते थे "वेदान्त पाप स्वीकार नहीं करता, भ्रम स्वीकार करता है। और वेदान्त कहता है कि सबसे बड़ा भ्रम है—अपने को दुर्बल, पापी, हत-भाग्य कहना—यह कहना कि मुझ में कुछ भी शक्ति नहीं है।"[7] अतः अद्वैतवादी नीतिशास्त्र को परखने से पूर्व हमें एक नये और पुराने विचारकों के निर्धारित नैतिक मानदण्डों को भी समझ लेना चाहिए।[8]*

आज जब नैतिक मूल्यों की चर्चा की जाती है तो हमारे सम्मुख दो तरह के मूल्य सम्बन्धी प्रश्न उठे हैं। एक तो यह कि क्या ये मूल्य विषयीगत है या विषयगत। पाश्चात्य नीतिविदों में स्पिनोजा, लोट्ज आदि विद्वानों ने मूल्यों को विषयीगत मानते हुए उन्हें परिवर्तन योग्य एवं मानव के अपने मन की तुष्टि से

संबद्ध माना। क्योंकि वस्तु का अपना कोई मूल्य नहीं होता उन्हें मूल्य तो हमारी पसन्द देती है। इसके विपरीत सोचने वालों में जी. एफ. मूर तथा लेयर्ड का कहना है कि मूल्य वस्तु का निजी अन्तरंग गुण है। जिसे मूल्य की अनुभूति नहीं उसे उसका बोध कराया ही नहीं जा सकता।[९] आधुनिक मनुष्य की बढ़ती हुई कठिनाइयों का मूल कारण भी यही है कि उसने मूल्यों को सापेक्ष मान लिया है जिससे मूल्यों की यथार्थता पर से उसका विश्वास उठ गया, और वह प्रतिदिन अत्यधिक बौद्धिकता में उलझता चला जा रहा है।[१०] नीतिज्ञों के उन आदर्शों पर उसका विश्वास नहीं रहा जो बुद्धि के लिए सत्य, कर्म के लिए शिव, और अनुभूति के लिए सुन्दर को उपास्य मानते रहे हैं। चरम आदर्श के रूप में आज हमारे पास कुछ नहीं रहा।

नैतिकता की औचित्यमूलक व्याख्या करने वालों में से प्लेटो ने कहा था कि आदर्श व्यक्ति वह है जो देवताओं का ऋण चुकाता है, कृतज्ञ है। काण्ट ने नैतिकता के निरपेक्ष कानून को सराहते हुए कहा कि हमें ऐसा नहीं करना चाहिए जो औरों के प्रतिकूल हों (आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्)। बिशप बटलर ने मनुष्य को आत्मप्रेम और 'परहितसम्पादन' के बीच उचित सामंजस्य स्थापित करने के लिए कहा है। हैनरी सिजविक ने अपने और पराये हितों का समान महत्व समझने को नैतिकता कहा।[११] डॉ० देवराज इन समस्त मतों को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि ये "उस उच्चतर नीतिवाद से भिन्न हैं जो अपने हितों का त्याग करते हुए परहित-चिन्तन की शिक्षा देता है।"[१२] किन्तु समस्या फिर यही रहती है कि आत्मीय स्वार्थों की रक्षा करते हुए हम परहित-सम्पादन करें कैसे? कैसे दोनों में सामजस्य स्थापित करें?

आचार्य शंकर के अनुसार इसका एक ही उत्तर हो सकता है कि नैतिकता सम्बन्धी समस्त प्रश्नों का समाधान है आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार। उनका नीतिशास्त्र मोक्षरूप मानवीय परम अर्थ का निर्धारण करता है। उनकी नैतिकता का अर्थ है कि मनुष्य को ज्ञान द्वारा स्वतन्त्र कर दिया जाना चाहिए। किन्तु व्यक्ति की यह स्वतन्त्रता किसी प्रकार के व्यक्ति या समाज के संघर्ष की पृष्ठभूमि नहीं बल्कि व्यक्ति का अपने भौतिक और मानस अधिकारों का पूर्ण उपसंहार करते चले जाना है और अपने अज्ञान से पृथक् हो जाना है। समस्त कर्मों को धनत्याग में, समस्त व्रतों को भोगत्याग में, समस्त तपों को सुखत्याग में और अन्ततः सर्वत्याग में सब कुछ समाप्त करके ही ज्ञानी कृतकृत्य होता है।[१३] अतः ज्ञानी का परम ध्येय है उसकी अपनी मुक्ति, जो एकदम उसकी व्यक्तिगत उपलब्धि है। वह ज्ञानी के सैकड़ों सहस्रों पुण्यों का फल है।[१४] इस ज्ञानोदय के बाद ही उसके कर्मों में, जीवन में एक ऐसी दिव्यता आती है जो अहैतुकी करुणा, लोकमंगल, कर्तव्यों का औचित्यपूर्ण बोध एवं नैतिक पवित्रता से स्वतः ओतप्रोत रहती है। क्योंकि

उन स्वरूपप्राप्त महात्माओं के लिए आचरण कोई प्रयत्न-साध्य नहीं होता बल्कि छाती में आती-जाती सांसों की तरह सहज होता है। उसकी नैतिकता अन्दर से अंकुरित होती है उसमें किसी प्रकार के बाह्य आडम्बर या ऊपरी कामचलाऊ बौद्धिक या शास्त्रीय समझौतों का कोई स्थान नहीं होता। कुछ भी बाहिर से ओढ़ना नहीं होता। जैसे सूर्य किसी के लिए दीप्त नहीं होता, जैसे नदियाँ, समुद्र, फूल, पर्वत समस्त प्रकृति प्रयोजनहीन होकर मानव मात्र पर प्रकाश तृप्ति एवं सुख की वर्षा करते हैं ऐसे ही लोककल्याणकृत ज्ञानी का स्वभाव हो जाता है। आचार्य यही बात अपने श्लोक में यूं कहते हैं—

> अयं स्वभावः स्वत एव यत्परश्रमापनोदप्रवणं महात्मनाम्।
> सुधांशुरेष स्वयमर्क कर्कश प्रभाभितप्तामवति क्षितिं किल ॥[१५]

वे लोग जो अभेदज्ञानी होने का यह अर्थ करते हों कि उसकी दृष्टि में पाप-पुण्य की धारणा के नष्ट हो जाने से नैतिकता की अपेक्षा स्वेच्छाचार ही बढ़ता चला जाता है, उन्हें विद्यारण्य मुनि के इस कथन को भी ध्यान में रखना चाहिए "कि आत्मतत्त्व को जानकर भी स्वार्थमयी वासनाओं का परित्याग ज्ञानी यदि नहीं कर पाया तो कुत्ते के मलभक्षण और ऐसे ज्ञानी के विषयसेवन में क्या अन्तर है। क्योंकि ज्ञानसम्पन्न हो जाने पर भी उसे लोकमर्यादा की यथासम्भव रक्षा करनी होगी।"[१६]

वस्तुतः पश्चिमी नीतिविदों में प्लेटो के 'दार्शनिक शासक', अरस्तू के 'मनस्वी व्यक्ति', स्टोइको के 'विवेकी पुरुष', इसाईयों के 'सन्त', नीत्शे के 'अति-मानव आदि सभी पूर्णमानव की कल्पनाओं में से अद्वैती जीवन्मुक्त की कल्पना अत्यधिक पूर्णता के समीप और दार्शनिक है। जीवन्मुक्त व्यक्ति ईश्वरवादी नैतिकता से बहुत ऊपर है। उसे शंकर ने अहैतुकी मानव करुणा का समुद्र और शरणापन्नों का सदा बन्धु कहा है।[१७] वह जान चुका है कि यदि परमेश्वर सद्-वृत्ति का पूर्णरूप है तो नैतिकता स्वयंसिद्ध है।

किन्तु इस प्रसंग में एक अन्य बात भी ध्यान देने योग्य है। आचार्य कहते हैं कि परम आदर्श मोक्षप्राप्ति है। इस मोक्षप्राप्ति के लिए सबको महान् यत्न करना चाहिए।[१८] वे धर्मशास्त्री पंडितों की तरह आदेश नहीं देते, सुझाव देते हैं। उनका आचार-दर्शन इसी कारण नियतिवाद से पीड़ित नहीं। अतः व्यक्तिस्वातंत्र्य के वे पक्षपाती हैं। पाश्चात्य नीतिशास्त्र ईश्वरीय नियति से अधिक पीड़ित रहा है। इस विषय में श्री रामानन्द तिवारी का मत उल्लेखनीय है —"प्रत्येक कर्म का नैतिक परिणाम होता है यह एक नियति है। हाथ से निकले तीर की तरह ही उसे अमोघ माना जाता है। किन्तु वेदान्त मानता है कि चरित्र के रूप में वह नियति हमें प्रभावित करती है, किन्तु संकल्प द्वारा इन प्रभावों का अतिक्रमण

किया जा सकता है, और इस अतिक्रमण की सम्भावना में ही मानव-जीवन के उद्धार की आशा निहित है।"[१९] वेदान्त की आशावादिनी दृष्टि में हमारे सभी कर्मों और अकर्मों की सत्ता केवल व्यावहारिक स्तर पर है उनकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं। पुरुष की सत्ता ही एकमात्र परमार्थ है। अतः कर्म पुरुषाधीन है। आचार्य का कहना है कि कोई शास्त्र हमसे जबर्दस्ती काम नहीं करवा सकता। हमारे में सद्सद्विवेक की शक्ति है इससे रहित हमारा पुरुषार्थ भ्रष्ट है।[२०] अद्वैत-वेदान्त की इसी विशेषता को स्पष्ट करते हुए रामानन्द तिवारी कहते हैं कि "कृत को अकृत करना हमारे हाथ में न हो किन्तु भव्य का निर्धारण हमारे अधिकार में है।"[२१] इस दृष्टिकोण को कि ईश्वर ही सब कुछ अच्छे-बुरे कर्म करवाता है[२२], देख लेना चाहिए। ईश्वर की मान्यता शांकरवेदान्त की गौण प्रतिपत्ति यानी नम्बर दो है। क्योंकि ईश्वर का पारमार्थिक अस्तित्व वेदान्त स्वीकार ही नहीं करता। यही कारण है कि कठोपनिषद् में आचार्य ने 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' मंत्र का अर्थ करते हुए 'एष' का अर्थ वैष्णवों की तरह ईश्वर नहीं, 'साधक' अर्थ किया है। अर्थात् जिस आत्मा को यह साधक वरण कर लेता है उसी के आगे आत्मा का रहस्य प्रकाशित हो उठता है।[२३] हमें स्पष्ट हो जाता है कि अद्वैतवादी आचार-दर्शन की जड़ कहीं बहुत गहरे में है। अन्य दर्शनों की तरह वेदान्त ने कभी भी शुभ और अशुभ को चरम मूल्य नहीं माना। उनका आत्मा शुभाशुभ से सर्वथा परे है।[२४] ऐसे आत्मज्ञ पुरुष "उसी प्रकार गुणों का प्रसार करते हैं जैसे नक्षत्र प्रकाश विकीर्ण करते हैं, और पुष्प सौरभ।"[२५] इस प्रकार वेदान्त और नैतिकता में विरोध न होकर हमारी व्यावहारिक सत्ता के आध्यात्मिक सत्ता में परिणत हो जाने पर हमारी नैतिकता का भी आध्यात्मिकता में पर्यवसान हो जाता है।

अब हम इस प्रसंग में कर्तव्यपालन और साधुता के प्रश्न को भी ले सकते हैं। यदि नैतिकता का अर्थ कोरा कर्त्तव्यपालन ही समझा जाए तो हम कहेंगे कि साधु-सन्तों का चरित्र नैतिकता के दायरे से बाहर चला जाएगा। आचार्य शंकर कहते हैं—'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः।' ज्ञानी के कर्तव्य सब भस्म हो जाते हैं। उसका केवल एक कर्तव्य, शायद उसे कर्तव्य भी कह सकें या नहीं, रह जाता है। वह है क्षणभर के लिए भी ब्रह्मवृत्ति को खण्डित न होने देना। उसके इसी ब्रह्मात्मैक्य-भाव की अभिव्यक्ति ही उसका आचरण है। डॉ० रामानन्द तिवारी कहते हैं—"आचरण तो भावना की अभिव्यक्ति है। अतः केवल कर्मप्रधान होकर 'टु डू' (करना चाहिए) की भावना से प्रेरित होना गलत है, 'टु बी' अर्थात् (हमें क्या होना चाहिए) की भावना ही मूल नैतिकता है।"[२६] इस प्रकार साधुता स्वयं अपने में एक उच्च नैतिकता बन जाती है जिसमें पाश्चात्य सत्य, शिव, सुन्दर के समान ही निश्रेयस् की उच्चतम उपलब्धि के रूप में कल्पना की गई है।[२७]

केवलाद्वैत में आचार का साधना-सम्बन्धी स्वरूप

मनुष्य की समस्त कठिनाइयों का मूल अज्ञान मान लिया गया। इस अज्ञान के मार्जन के लिए साधक को साधन-चतुष्टय और षट्सम्पत्ति की राह से गुजरना होता है। ज्ञान की राह पर चलने वाले को पहले इन साधनों से सम्पन्न होने को कहा है। प्रथम साधन है, नित्य और अनित्य वस्तुओं में विवेक करना। दूसरा नम्बर है वैराग्य का। तीसरे शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान ये छः सम्पत्तियाँ हैं। चौथा मुमुक्षुता है।[२८] श्रुति ने संक्षेप में साधक के लिए जिन आवश्यक आचारों का वर्णन किया था उनमें तप, दम, और कर्म को सत्य-प्राप्ति की दृढ़ पृष्ठभूमि कहा था।[२९] फिर ब्रह्मचर्य, दान, इन्द्रिय दमन करने और दयालु बनने का भी उपदेश किया गया था। दुश्चरित, अशान्त, असमाहित व्यक्ति को ज्ञान का अधिकारी नहीं माना गया था। आचार्य ने उन्हीं को एक क्रम में उपस्थापित करने का सुन्दर प्रयत्न किया है। उपनिषदों ने यद्यपि सत्कर्मों की सूची नहीं दी थी तो भी उन्होंने सौम्य लोकाचार का सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत किया था। शिक्षा पूर्ण होने पर आचार्य शिष्य को कहता था "बेटा हमारे अनिन्द्य कर्मों का ही सेवन करना। दूसरों का नहीं। यदि तुम्हें कोई सन्देह प्राप्त हो तो ब्रह्मनिष्ठ, ज्ञानी, युक्तिसम्पन्न, धर्मज्ञ लोगों के आचरण का अनुगमन करना।"[३०] अपने इसी उदार आचार के कारण उन्होंने प्रायः जिज्ञासु के लिए उन्हीं कर्मों का विधान किया जो उसे अभेदभावना की ओर ले जाएँ। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने औपनिषद् नीतिशास्त्र के कर्तव्या-कर्तव्यविवेक का निष्कर्ष निकालते हुए यही कहा है कि "जो काम अभेद-भावना की ओर ले जाता है, वह सत्कर्म है, कर्तव्य है, करणीय है। जो काम भेद-भावना पर अवलम्बित है और भेद-भावना को पुष्ट करता है, वह अकरणीय है, दुष्कर्म है।"[३१]

वेदान्त के अनुसार नैतिकता हमारे धर्म के एक अंग में समा जाती है। उसकी दृष्टि से धर्म केवल शुभ, उचित, सदाचार, न्याय और आचारनीति ही नहीं है, बल्कि अन्य प्राणियों के साथ, प्रकृति और ईश्वर के साथ मनुष्य के जितने भी सम्बन्ध हैं उन सबका सम्पूर्ण नियमन है।[३२]

अद्वैतवेदान्त के कर्तव्यशास्त्र के आलोचकों को यह भी विचार करना चाहिए कि ब्रह्मविद्या कर्मनिष्ठ गृहस्थी सन्तों की विद्या रही है। जिन लोगों ने इस सत्यसमूह का साक्षात्कार किया था वे वन अथवा पहाड़ी गुफाओं में नहीं रहते थे, साथ ही वे सामान्य मनुष्य भी न थे, वरन् वे ऐसे लोग थे जो विशेष रूप से कर्मठ जीवन बिताते थे, जिन्हें सैन्यपरिचालन करना पड़ता था, जिन्हें सिंहासन पर बैठकर प्रजावर्ग का हानि-लाभ देखना होता था।[३३] छान्दोग्य में वनवासी ऋषि उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु पांचाल नरेश प्रवाहणि के पास जब ब्रह्मविद्या के

लिए जाता है तो राजा कहता है कि यह ब्रह्मविद्या केवल राजाओं को ही ज्ञात थी ब्राह्मणो को इसका ज्ञान भी न था। स्पष्ट होता है कि वेदान्तपरम्परा का साथ निकम्मे या आलसी लोगों का नहीं जगत् में दायित्वपूर्ण जीवन बिताने वाले गृहस्थी सन्तों का बहुत मात्रा में रहा है। आचार्य शंकर और उनके शिष्य स्वयं महान् कर्मनिष्ठ आचारों एवं उपासनाओं को अपने जीवन में धारण किए थे। और अपनी सम्प्रदाय-परम्परा में भी उन्होंने संन्यासियों की सभी शाखाओं, विशेषकर दण्डियों के आचार-नियमों का निर्धारण किया। बात यह है कि यहाँ के मनीषियों की दृढ़ धारणा रही है कि सत् आचार से ही धर्म की उत्पत्ति होती है, और धर्म से परमफल निश्रेयस् की प्राप्ति होती है।[34] अत: आचार आध्यात्मिकता के वृक्ष की जड़ है। इसी कारण हमें वेदान्त की नैतिकता व्यक्ति और समाज दोनों के लिए आचार-शासन की व्यवस्था करती नजर आती है। व्यक्ति का चरम नैतिक रूप[35] वेदान्ती सन्तों के सामने यह था कि जब तक व्यक्ति दिव्यता के स्तर पर नहीं पहुँच जाता उसके समस्त कर्म किसी भय अथवा बौद्धिक द्वन्द्व से ही प्रसूत होंगे। उसके सच्चे और स्वतन्त्र कर्मों की अभिव्यक्ति तभी होती है जब वह मिथ्या मान्यताओं के ऊपर उठकर निर्भय होकर उचित और अनुचित के प्रति क्रमशः आदर और विद्रोह दे पाता है—

द्वंद्व बिना बिचरै बसुधापरि जा घट आतमज्ञान अपारौ।
काम न क्रोध न लोभ न मोह न राग न द्वेष न म्हारौ न थारौ।।[36]

ऐसी स्थिति में सभी ज्ञानी सन्त इस बात पर ही जोर देते रहे हैं कि कर्मों की शुद्धि के लिए हमें कर्मों के मूलस्रोत चित्त को ही वासनाओं की गार निकाल कर निर्मल बना देना चाहिए। तब उसका प्रत्येक कर्म लोकसंग्रहोन्मुख ही होगा। उसकी लोक-करुणा सापेक्ष न रहकर अनंत-करुणा, अहैतुकी-करुणा के रूप में बदल जाएगी। उसके अन्दर का प्रकाश उसके कर्मों के रास्ते बाहर आकर विश्व को आलोकित करता है। उसकी नैतिकता तब लोकसापेक्ष अर्थात् संसार के स्वार्थान्ध एवं वासनांध लोगों की नैतिकता पर आश्रित नहीं रहेगी। वह सत्य को सत्य कहेगा। क्योंकि सत्य ही उसका सर्वस्व है।[37] आचार्य शंकर के इस आचरण से दमघोट नैतिकतावादियों को बड़ी कोफ्त हुई थी कि संन्यासी अपनी माँ का दाह-संस्कार करने आ पहुँचा है, जो कि शास्त्र-बाह्य है। किन्तु शंकर ने कभी भी अपने और बाहर के लोगों के संकीर्ण विरोधों की परवाह नहीं की। शैवों, शाक्तों, तांत्रिकों के विरोध उन्हें डरा नहीं सके। कारण स्पष्ट है कि इन सभी ज्ञानी सन्तों की नैतिकता का मूलमंत्र ही यह रहा है कि 'सिर सौंपकर ही' सत्य पाया जा सकता है। कबीर ने बड़े-बड़े लोक और समाज के बड़े-बड़े आघात सत्य के आधार पर ही तो खाये। पूर्ण निर्भयता उनकी नैतिकता में बसी हुई थी।

त्याग और वैराग्य का परम आदर्श उनके सामने 'सती' थी। पंचदशीकार ने भी 'गृहकृत्यव्यसनिनी[३८] सती नारी का आदर्श साधना में प्रमुख रखा था। सन्तों ने तो बहुत ही अधिक मात्रा में सती के निरीह, निस्पृह त्याग और आत्मार्पण का गान किया है।[३९] तो जो व्यक्ति हृदय से सत्य को अपना सर्वस्व सौंप चुका है उसके जीवन मे स्पष्टता, शुद्धहृदयता, बौद्धिक खुलापन, सत्यान्वेषिणी प्रतिभा, अन्याय का विरोध करने वाला साहसी मन, सिद्धान्तों की निर्भय घोषणा, तथा अन्याय से पीड़ित लोगों का सशक्त सरक्षण ये सब बातें आ ही जाती हैं। अपना सर्वस्व-होम ज्ञान की पहले दर्जे की शर्त है। कबीर कहते हैं कि मैंने अपना सर्वस्व फूँक दिया है। अब जो मेरे साथ चलेगा उसको भी पहले सर्वस्वरहित करूँगा।[४०] अद्वैतवेदान्त मूलतः इस सर्वत्याग पर जोर देता है। लेकिन इस सर्वस्व-होम का अर्थ यह नहीं करना चाहिए कि सिर्फ घरबार छोड़कर मौज मनाने के लिए जंगल में जा बैठना चाहिए। यह होम पहले हमारी वासनाओं, एवं सकाम कर्मों का ब्रह्माग्नि में होना चाहिए। सन्त कहते है कि "ब्रह्माग्नि और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं, ब्रह्माग्नि द्वारा सभी मनोविकार जल जाते हैं और मन सब प्रकार से निर्मल तथा विशुद्ध होकर ब्रह्ममय हो जाता है। पाप-पुण्य की भावनाएँ भ्रम जन्य हैं और वे भी उक्त ब्रह्माग्नि के प्रकाश में पड़कर नष्ट हो जाती हैं।"[४१]

श्रवण, मनन, विदिध्यासन तीनों ही अद्वैत की अपनी सम्प्रदाय-सम्बन्धी नैतिकता के सर्वप्रमुख अंग है। ज्ञान पाने के लिए जिस नैतिकता की अपेक्षा ज्ञानी साधक से होनी चाहिए, उसका एक विधिवत रूप इन तीनों साधनों के अन्तर्गत आ जाता है। श्रवण-ज्ञान-प्राप्ति के लिए जिस प्रकार के श्रोता और वक्ता की अपेक्षा रहती है उस प्रक्रिया में सन्त केवलाद्वैत के पूर्ण अनुगामी हैं। ज्ञान का वक्ता श्रुति के अनुसार "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽत्मन्येवात्मानं पश्यति"[४२] है। सन्तों को गुरु का यह सर्वोच्च नैतिकता वाला रूप एकदम पसन्द है—

सदा प्रसन्न सुभाव प्रगट सर्वोपरि राजय।
तृप्त ज्ञान विज्ञान अचल कूटस्थ विराजय॥
सुख निधान सर्वज्ञ मान अपमान न मानै।
सारासार विवेक सकल मिथ्या भ्रम मानै॥
पुनि भिद्यन्ते हृदि-ग्रन्थिकों छिद्यन्ते सब संशयं॥[४३]

ऐसे ज्ञानियों से तत्त्वश्रवण करने के लिए जैसे आचार्य शिष्यों को जोर देकर कहते थे[४४] ऐसे ही सन्तों ने सत्सग और श्रवण द्वारा अद्वैतवेदान्त को मूल से पकड़ लिया था। किन्तु सुने हुए को धारण करने की सामर्थ्य जब तक जिज्ञासु में नहीं आती, तब तक सुना सुनाया सब व्यर्थ। अतः आचार्य श्रुत को मनन करना नितान्त

जरूरी समझते थे। सुने हुए ज्ञान को ठोस रूप तो विचार और मनन से ही मिलता है।[४५]

अद्वैतवेदान्त के साधक की नैतिकता का अन्तिम रूप निदिध्यासन है। इसमें साधक का विचारे हुए को धारण करना है। गुरु के द्वारा उपदिष्ट तथ्यों पर चित्त को पूर्णतया समाहित कर देना होता है।[४६] इसी के अभ्यास से साधक में स्वयंप्रकाश अन्तःप्रज्ञा या साक्षात् आत्मज्ञान का उदय होता है। इस निदिध्यासन-पर्यन्त वेदान्त का जो भी आचार है वह पूर्ण चित्तशुद्धि के लिए है।[४७] क्योंकि सत्वसम्पन्न निर्मल चित्त में ही साधक को स्वरूप-दर्शन होना है। अतः चित्त-निर्मलता के लिए सन्तों ने तो बेजोड़ परिश्रम किया है। बड़ी साधनाएँ की हैं।

हमारे समस्त व्यक्तिगत एवं समाजनिष्ठ कर्मों का मूलस्रोत चित्त सन्तों की दृष्टि में भी सहज ही पकड़ में नहीं आता। समस्त वासनाओं, संकल्पों विकल्पों को जन्म देकर यह हमें साधना के मार्ग से बार-बार विचलित करता है। माया का यह सबसे बड़ा मोहरा है। देखिए, सन्त रज्जब इससे कितने परेशान हैं—

मन की प्यास प्रचण्ड न जाई ॥
माया बहुत बहुत बिलसै, तृप्ति नहीं निरताई ॥
ज्यूं जलधार असंख्य अवनिथल, परत न सो ठहराई ।
तैसे यहु मन भरया भूख सों, देखि परखि सुधि पाई ।।[४८]

यह मन काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, अहंकार जैसी दुर्वृत्तियों से भरा रहता है। इन वृत्तियों में से भी काम और अहंकार लोभ और ममत्व सन्तों की साधना के परम शत्रु हैं। बाकी सब वृत्तियाँ इन्हीं में समाविष्ट हो जाती हैं।

काम का समस्त विस्तार द्वैतपूर्ण है। विषय और विषयी के रूप में ही काम का आविर्भाव होता है। वेद से लेकर अब तक की अध्यात्म-साधना का निष्कर्ष यही रहा है कि यह सृष्टि ही सारी एकमात्र काम की उत्पत्ति है। ऋग्वेद की दार्शनिक भाषा में कहा गया था "कि सबसे पहले सृष्टि में काम उत्पन्न हुआ था। मन इसका बीज था।"[४९] यह काम सर्वत्र समाया हुआ है। इस तथ्य को स्मृतियों ने भी स्वीकार किया कि काम समस्त-विश्व की मूलप्रेरणा है। मनु कहते है[५०] कि जगत् में एक भी ऐसी क्रिया नहीं जो बिना 'काम' के हो। रागवृत्ति के कारण ही जगत् के सब जीव जुड़े हुए हैं। हमारे समस्त प्रेम-सम्बन्ध चाहे वे देवता के प्रति हों चाहे वे ज्ञान, ध्यान, कवित्व, माँ, बहिन, पुत्र, पुत्री, पिता, मित्र आदि के प्रति हों। यह समस्त आकर्षण फ्रायड के शब्दों में काम-शक्ति (लिबिडो) का ही परिणाम है।[५१] इसी कामशक्ति से प्रेरित व्यक्ति एकता से ऊबकर मिथुनभाव (द्वैत) में आना चाहता है। इस मिथुनभाव में आने का परिणाम ही मैथुन है।

जिसमें वह बहिर्मुख होते-होते अपने मूलअद्वैत आत्मचैतन्य को विस्मृत कर देता है। बस यहीं से उसके समस्त दुखों का प्रसार बढ़ता ही चला जाता है। आचार्य शंकर की वरिष्ठ प्रज्ञा ने बड़े ही सरल ढंग से व्यक्त किया है

"भगवान् शिव (या आत्मा) पहले निपट अकेले थे। कुछ काल बाद इच्छा (काम) उठने पर विषयों को खोजने लगे जैसे मेरे स्त्री हो, सन्तान हो तथा उनके संरक्षण के लिए धन हो। उन्हीं पत्नी पुत्रादि के लिए वे प्राणों की भी परवाह न करके नाना कर्म करने लगे। उन्हीं को उन्होंने अपना सर्वश्रेष्ठ ध्येय माना। फिर इनमें से जब एक भी वस्तु का अभाव होने लगा तो अपने को अपूर्ण मानकर दुखी होने लगे।"[५२] इस श्लोकार्थ के क्रम में हम ध्यान से देखें तो सबसे पहले आत्मा में काम के कारण दारैषणा का उदय हुआ। क्योंकि स्त्री में ही अपने को सींचकर पुरुष सन्तानरूप में फैलता चला जाता है। जितना यह विस्तार बढ़ता है उतनी ही उसके आत्मानन्द की सघनता कम होती चली जाती है। विषय-कामना प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है। अपनी पत्नी मात्र से ही उसके काम की और यदृच्छा प्राप्त धन से उसकी काम और लोभ की ज्वालाएँ तृप्त नहीं होतीं। वह दूसरों की ओर भी झपटता है। सन्तों ने विषय-कामना को इसीलिए धिक्कारा है—

परनारी-राता फिरें, चोरी बिढ़ता खांहि।
दिवस चारि सरसा रहैं, अंति समूला जांहि॥
एक कनक और कामिनी, दोऊ अगनि की झाल।
देखें ही तन प्रज्लै, परस्यां ह्वै पैमाल॥[५३]

कबीर कहते हैं कि यह काम का विषय ऐसा है कि कामी लोग इन्द्रियों के स्वाद में पड़कर समस्त लज्जा को तिलांजलि दे देते हैं। विषयी को विषय की तलाश में नींद, खाना, पीना, बिस्तर आदि सब भूल जाता है।[५४] विषयी के विषयों के साथ इस बहुमुखी संघर्ष को देखकर सन्त उसे इस दुर्घर्ष काम से बचाने का आदेश देते हैं—"अरे मनुष्य! इस परस्त्री रूप विषय से डरो। मत देखो उसे। विषय के रूप में उस डायन ने जिसकी ओर भी देखा वह उसे ही खा गई।"[५५] किन्तु ऐसे वचनों को देखकर हमें सन्तों या वेदान्तियों के प्रति यह धारणा नहीं बना लेनी चाहिए कि उन्होंने बिना गहराई में गए नारीनिन्दा की है। वस्तुतः विषयी की दृष्टि में छाए उस कामी के कल्पित नारीरूप की भयंकरता का उन्होंने वर्णन किया है। ऑब्जेक्टिव (विषयगत) दृष्टि से वस्तुओं को देखने के लिए वेदान्त आग्रह करता है। नारी के रूप में नारी से किसी का कोई विरोध नहीं। माता या बहिन भी स्त्री हैं किन्तु उनके स्त्रीत्व के प्रति हमारा दृष्टिकोण विषयगत रहता है। फलतः हमें कोई उत्तेजना नहीं होती। सन्त नारीमात्र के प्रति हमारे

भोक्ता होने के दृष्टिकोण को कोसते हुए 'मातृवत्परदारेषु' की भावना को ही प्रोत्साहन देते हैं। हमारे कामी मन के सम्पर्क में आकर नारी का जो बिम्ब कामी मन में उभरता है वह हमारी नस-नस में उत्तेजना भर देता है। वह कामी को तो भले कुछ सुख दे पर वे हमारे ही पापी मन की उपज कामिनी के मलिन बिम्ब से सदा डरते रहने के लिए कहते हैं—

परनारी पैनी छुरी, मति कोइ लाओ अंग।
रावन के दस सिर गए, परनारी के संग।।[५६]

वेदान्ती साधक जानते थे कि इस दुर्घट काम की बार-बार तृप्ति नहीं होती तो क्रोध उठता है[५७] और वह मनुष्य के समस्त विवेक को खा जाता है, और विनाश के गर्त में हम चले जाते हैं—

क्रोध महाचन्डाल है जानत यह सब कोय।
ताके अंग बरनन करूं, सुनियो सुरत समोय।।
जेहि घट आवै धूम से, करै बहुत ही ख्वार।
पति खोवै बुधि कूं हनै, कहा पुरुष कह नार।।[५८]

यही कारण है कि सन्त क्रोध, मद, मोह, इन सभी बुराइयों के जन्मदाता काम के प्रवेश होते ही साधक को सावधान होने का मंत्र देते हैं—"सीन-सचेत जो आवै काम।"[५९] वस्तुतः काम, क्रोध और लोभ तीनों ही नरक द्वार हैं।[६०]

काम के साथ ही लोभ का भी प्रवेश होता है। हम जिस वस्तु को चाहते हैं उस पर लुभा जाते हैं तो बस फिर उसे पाने के लिए दुनियाँ का हर कहर ढाने को तैयार हो जाते हैं। आज के या पुराने समस्त आर्थिक शोषणों का मूल कारण लोभ ही है। श्रुति ने बहुत पहले हमें समझाया था—"किसी के धन की ओर लोभ से देखो भी नहीं। यह समस्त जगत् ईश्वर की रचना है। जितना या जो कुछ भोगना है उसे त्याग-भाव से ही भोगो।"[६१] किन्तु मनुष्य को यह सत्य बार-बार भूला। फलतः साधु-सन्तों को बार-बार निर्देश करना पड़ा है। एक ओर शंकर जब मरणोन्मुख बे-दाँत और झुर्राए हुए बूढ़ों को इस धनतृष्णा से पागल देखते थे तो आक्रोश में कह देते थे 'मूढ़ जहीहि धनागमतृष्णाम्' अर्थात् ऐ मूर्ख! धन की तृष्णा छोड़। यह धन किसका हुआ। गोविन्द का भजन कर।[६२] सन्तों ने इसे 'कनक और कामिनी' के प्रसंग में काफी स्पष्ट किया है। सन्त पलटूदास ने ऐसे छद्म धार्मिकों को देखकर बड़ा दुःख प्रकट किया था, जो 'भगति' की आड़ लेकर सूद, ब्याज इकट्ठा करने की धुन में गरीबों की खाल ही उतार लेते हैं—

करते बट्टा ब्याज कसब है जगत् का।
माया में है लीन, बहाना भगति का।।

कहीं तनिक नहिं छुइ गया वैराग है।
अरे हाँ, पलटू जनमें पूत कपूत, लगाया दाग है ।।[६३]

अद्वैतवेदान्तियों और सन्तों की नैतिकता अहंकार को साधना के सबसे बड़े दूसरे अन्तराय के रूप में देखती है। अहंकार सम्भवतः माया की काम से भी पहली सृष्टि है। उत्पन्न होने के बाद बच्चा एक सूक्ष्म प्रकार के अहंकार के घेरे में ही सर्वप्रथम आता है। धीरे-धीरे उसका माता-पिता के साथ, जो उसकी आकांक्षाओं की विभिन्न पूर्तियाँ करते हैं, उसका ममत्व प्रगाढ़तर होता चला जाता है। ऐसे ही प्रेय-वस्तुओं के प्रति, उसकी उन्हें अपने कब्जे में करने की चाह (सेन्स ऑफ पोज़ेशन) बलवती होती चली जाती है। यौवन में यही अधिकार-भावना के रूप में उसमें बलवती होकर उसमें मद का संचार कर उसे अधिकार का भूखा, लोलुप, कामी, सब कुछ बना देती है। इस प्रकार मनुष्य के फिर सभी कर्म 'आत्मोन्मुख' ही हो जाते हैं। किन्तु यह 'आत्म' माया की रचना है जिसे हम अहंकार कहते हैं, ब्रह्म नहीं। जिस तरह से वृक्ष अपने विशाल तने के आधार पर खड़ा होकर फैलता चला जाता है, ऐसे ही अहंकार के आधार पर यह मानव-देह बढ़ता है।[६४] देह के हर रेशे में अहंकार का ही रस खेल रहा है। आचार्य कहते हैं कि कर्तृत्व और भोक्तृत्व तथा 'मैं' पन का अभिमान ही अहंकार है। यही सत्व, रज, तम गुणों के योग से अनुकूल विषय मिल जाने पर सुखी और प्रतिकूलता से मनुष्य को दुःखी करता है। सुख और दुःख इस अहंकार के ही धर्म हैं आत्मा के नहीं।[६५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य की अनात्मदृष्टि और बहिर्मुखता के लिए सबसे बड़ा जिम्मेवार अहंकार ही है। मुमुक्षु को इस अहंकार के सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप से भी परे रहना चाहिए। ब्रह्मात्मैक्य-प्राप्ति में इसी को सबसे बड़ा बाधक देखकर सन्त कहते हैं—

जहाँ राम तहं 'मैं' नहीं, 'मैं' तहाँ नाहीं राम।
दादू महल बारीक है, दूजे को नहीं ठाम ।।
दादू आपा जब लगें, तब लग दूजा होइ।
जब यहु आपा मिटि गया, तब दूजा नहिं कोइ ।।[६६]

अतः इस आत्माभिमान को सन्तों ने प्रत्येक स्तर पर छोड़ देने के लिए कहा है। इस मानव के अन्तःकरण में उठने वाले विभिन्न रूपों का सन्त चरनदास वर्णन करते हैं—

रूपवन्त गरबावे कोइ मो सम दृष्टि न आवै।
तरुनापा गरबाना, बहु अंधरा होवे राना ।।

कहै धनमद में परबीना, सब मेरे ही आधीना।
कहै कुल अभिमानी सूचा, मैं सब जातिन में ऊँचा॥
वह विद्या गर्व जो भारी, करे बाद विवाद अनारी॥[६७]

मनुष्य की देह में चल रहे माया के विभिन्न षड्यन्त्रों में से यह उसका अंतरंग षड्यन्त्र है। विषय-कामना इसके सभी सदस्यों की माँग है। विषय-तृष्णा की खोज में ये मनुष्य से क्या-क्या करवाते हैं। वह एक ज्ञानी के लिए असहनीय स्थिति है। यह कैसा कुचक्र है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि विषयों के जाल में पतंगे को तो अग्निशिला का रूप दिखाकर फूंका जाता है, हाथी को हथिनी के स्पर्श का लोभ देकर सदा के लिए बन्दी बना दिया जाता है। भ्रमर को कमल-गन्ध के लोभ में कैद किया जाता है, मछली को रस चाखने के लोभ में उसके गले में कांटा चुभो दिया जाता है। और भोले मृग को व्याध की मधुर ध्वनि सुनने के अपराध में मृत्युदण्ड दिया जाता है। फिर यह मनुष्य जो एक साथ पाँचों विषयों का कामी होने का दम भरता है इसका क्या होगा?[६८] यह सोचकर आचार्य झट उसे विषयाकांक्षा के त्याग का सुझाव देते हैं।[६९] अद्वैतदर्शन की नैतिकता का यह मूलभूत प्रश्न है कि शम, दम, वैराग्य, उपरति तितिक्षा इन साधनों से पहले विषयनिवृत्त होकर धीरे-धीरे अभ्यास से अपने अहंकार आदि को भी समेटता चला जाए। क्योंकि ये सब विषय जो देखने में प्रिय हैं अन्त में सब घातक हैं।[७०] इन विषयरूप विषों को धोखे में पीता रहने वाला बच कैसे सकता है। अद्वैती-सन्त मनुष्य को उसके विनाश से बचाने के लिए उसे सावधान करना अपना नैतिक अधिकार मानते रहे हैं—

'दादू' जिन विष पीवै बावरे, दिन दिन बाढ़ै रोग।
देखत ही मर जाइगा, तजि विषया रस भोग॥
'दादू' स्वाद लागि संसार सब, देख परले जाइ।
इन्द्री स्वारथ सांच तजि, सबै बंधाणै आइ॥[७१]

वस्तुतः उपनिषदों ने जो श्रेय और प्रेय दो जीने के मार्ग मनुष्य के सामने विवेचित किए हैं। उन्हीं के अन्दर अद्वैतवेदान्त का समस्त आचारशास्त्र आ जाता है। प्रेयमार्ग यानी इन्द्रियतृप्ति का मार्ग जो देखने में अमृतोपम है और परिणाम में विषोपम उसकी वर्जना कर सत्य और श्रेय के मार्ग पर चलने का निर्देश करके ऋषि एवं तत्त्वद्रष्टा लोग मानव-हित सम्पादन में लगे रहते हैं। उनका नैतिक लक्ष्य निष्काम मानव-हित सम्पादन ही है।

जॉन ड्यूई ने अपनी पुस्तक 'थ्योरी ऑफ दी मॉरल लाइफ' में बड़े अधिकार पूर्ण ढंग से नैतिकता को विवेक और ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में आलोचित करते हुए कहा है कि प्रेय की कामना बहुत ही अपरिपक्व मन का परिणाम है। मनुष्य जब

अधिक परिपक्व हो जाता है तब उसकी अभिवृत्ति (रवैया) स्वतः-स्फूर्त के बजाय विमर्शात्मक और आलोचनात्मक हो जाती है। सबसे पहले किसी भी वस्तु के प्रति हमारा रुख आकर्षण या विकर्षण के रूप में प्रकट होता है, हम या तो उस वस्तु को पसन्द करते हैं या नापसन्द। उसके बाद अनुभव यह प्रश्न उठाता है कि क्या वह वस्तु सचमुच वैसी ही है?[७२] हमारा अनुभव हमें बलात् महसूस कराता है कि बच्चा जिस मिठाई के पीछे व्याकुल है वह उसके स्वास्थ्य के लिए हित-कारक नहीं। किन्तु सही अनुभव तो अन्तर्विवेक का परिणाम है। सन्तों के पास इस प्रकार की नैतिक-पर्यालोचनशीलता पर्याप्त मात्रा में है। मनुष्य को निश्रेयस् रूप उसके परम आदर्श के प्रति उन्मुख करके वे उसे अपने आपको किसी भी तात्कालिक तृष्णा या आवेश में अनुचित रूप से बहने नहीं देना चाहते। इसे हम उन आत्मज्ञानियों की 'नैतिक आत्मचेतना' कह सकते है।

किन्तु नैतिकता का अर्थ यहाँ दूसरे के प्रति कोरी उपदेशबाजी से और वाचिक ज्ञान से भी नहीं। आचार्य शंकर ने बड़े-बड़े षट्शास्त्रियों को आत्मज्ञाना-नुकूल आचरण के अभाव में कुर्सी से उतार दिया था।[७३] 'कथनी' और 'करनी' जब तक एक नहीं हो जाती तब तक साधना का फल कहाँ? इसलिए आचरण की श्रेष्ठता तो प्रत्येक ज्ञानी से अपेक्षित है। पलटू कहते हैं कि---

वाचक ज्ञान न नीका ज्ञानी, ज्यों कालिख का टीका।
विनु पूंजी को साहु कहावै, कौड़ी घर में नाहीं।।[७४]

इसलिए आत्मज्ञान पाने के लिए पहले स्वयं को मारना पड़ता है, आत्म-विजय करनी होती है तब सन्त के रूप में जो प्रकाश आता है वह उससे मानव मात्र को उस आलोक से निष्प्रयोजनभाव से आलोकित करता फिरता है। वह जान लेता है कि सारी धरती अब उसी की है। सब उसी के हैं वह सभी का है। फिर भेद-भाव, घृणा-द्वेष, पक्षपात किससे और क्यों? सन्त के इस सहज-नैतिकता वाले रूप को सन्त चरनदास परिभाषित करते हुए कहते हैं---

मन मारे तन बस करै, साधै सकल सरीर।
फिकिर फारि कफनी करै ताका नाम फकीर।।[७५]

यह उसकी नैतिकता की पहली शर्त है कि पहले स्वयं मिथ्या के प्रपंच से बाहिर आए और तब दूसरों को निकाले। यही उसका लोक-कल्याण है। वह अपने लिए कुछ माँगता नहीं अपने समस्त अधिकारों के सभी दावे छोड़ देता है। वह सिर्फ लोक-संग्रह के लिए ही जीता है।[७६] क्योंकि उसका अपना तो कोई प्रयोजन होता नहीं। मानवमात्र की सेवा वह प्रभु की सेवा के रूप में ही करता है या अपनी सेवा के रूप में करता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाला आदर्श सन्त का ही आदर्श है, जो वाणी से ही नहीं अन्दर से यह जानता है कि---

पिरथी परमेसुर की सारी।
कोइ राजा अपणे सिर पर, भार लेहु मत भारी ॥[७७]

इस प्रकार यह बात बड़ी स्पष्ट होती है कि अद्वैतवेदान्ती ज्ञानी या सन्त की नैतिकता शास्त्रोक्त नैतिकताओं से बहुत ऊपर की है। वह ईश्वरीय नैतिकता है जो मानव-कल्याण के लिए उतरती है। उनकी आध्यात्मिक आचरणनिष्ठा को सामान्य आदमी समझ भले नहीं पाता किन्तु फल तो प्राप्त करता ही है। आचार्य शंकर ने मुण्डकउपनिषद् के अपने भाष्य में एक श्लोक को उद्धृत करते हुए कहा कि ज्ञानियों की गतिविधियों की एक सूची हम (पश्चिमी नीतिविदों की तरह) तैयार नहीं कर सकते क्योंकि उनके आचरण ऐसे ही अदृश्य होते हैं जैसे आकाश में पक्षियों की और जल में मछलियों की गतियों की छाप के कोई अवशेष बचे नहीं रहते हैं।[७८] जीवन्मुक्त ऐसे ज्ञानियों का समभाव कभी बिगड़ता नहीं। चाहे सज्जन उनकी पूजा करें या दुर्जन उन्हें पीड़ित करें।[७९] कबीर ऐसे ही स्थितप्रज्ञ ज्ञानी को अपने जीवन का चरम आदर्श मानते थे।[८०]

नैतिकता के पाप-पुण्य की समस्या का मूलतः समाधान यहीं आकर होता है, जहाँ रजोगुण की पूर्ण शान्ति हो जाने पर, गुणातीत आत्मचैतन्य में प्रतिष्ठित हो जाने पर साधक निर्मल हो जाता है। क्योंकि काम और क्रोध ही तो रजोगुण से पैदा होकर बड़े-बड़े पापाचार करवाते हैं।[८१] ये ही हमारी देह में तथा हमारी प्रत्येक इन्द्रिय के अर्थ मे राग-द्वेष रूप में अवस्थित होकर साधक को लूट लेते हैं।[८२] अतः समस्त अनैतिकताओं का जन्म वेदान्त में विषयासक्ति से ही माना जाता है, प्रारब्ध, ईश्वरेच्छा या गीता के "गुण गुणों में वर्तते हैं, तुम इनका ध्यान न करो"[८३] आदि वाक्यों द्वारा नहीं।

निष्कर्षतः हम अद्वैतवेदान्त की समूची नैतिकता का निम्नलिखित संक्षिप्त स्वरूप अपने सामने पाते हैं—

१. अद्वैतमत में द्वैत दो प्रकार का है—शास्त्रीय और अशास्त्रीय। शास्त्रीय द्वैत कर्म और उपासना में रहने वाला है, जिसे ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया में अस्थायी तौर पर स्वीकार भी कर लिया जाता है।

२. अशास्त्रीय द्वैत तीव्र और मन्द दो प्रकार का है। काम-क्रोध आदि तीव्र द्वैत हैं। जब कि मनोराज्य मन्द द्वैत है।[८४] ज्ञान की सिद्धि के लिए इन दोनों द्वैतों को शान्त और समाहित चित्त द्वारा पहले ही हटा देना चाहिए।[८५] नहीं तो ज्ञानी यथेच्छाचार के पाप से मुक्त नहीं होगा। फलतः द्वैत से पूर्णनिवृत्त ऐसे कर्म जो हमें व्यक्तिगत साधना के तौर पर मुक्ति या ब्रह्मात्मैक्य की ओर, तथा लोकस्तर पर सब प्राणियों में अपनी ही आत्मा के दर्शन पर प्राणिमात्र से अभेद-भावना की ओर अग्रसर करते हैं वे ही अद्वैतवेदान्त की नैतिकता के प्रतिनिधि कर्म हैं। वे ही सन्तों के कर्म हैं।

सन्दर्भ

१. "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" ।

२. वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थ । श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधिष्यामि । ऋत वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि । —ऐतरेय उपनिषद्, शान्तिपाठ

३. भारतीयदर्शन, भाग-१, डॉ० राधाकृष्णन् लिखित, पृ० २०१ (राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली १९६६)

४. वही

५. वही, पृ० २०६

६. विवेक चूड़ामणि, श्लोक ३९

७. व्यावहारिक जीवन में वेदान्त, पृ० ८

८. "An examination of the place of reason in ethics", Cambridge 1950, p. 19 —Tulmine

९. पाश्चात्यदर्शनदर्पण, पृ० १७९-८०

* टिप्पणी ८ भूल से लग गई है ।

१०. "An examination of the place of reason in ethics", Cambridge 1950, p. 19 —Tulmine

११. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ० २९६-९७

१२. वही

१३. द्रव्यत्यागे तु कर्माणि, भोगत्यागे व्रतान्यपि ।
सुखत्यागे तपोयोगं सर्वत्यागे समापना ॥

१४. "मुक्तिर्नो शतकोटि जन्मसु कृतै पुण्यैर्विना लभ्यते"
—विवेक चूड़ामणि, श्लोक २

१५. वही, श्लोक ४०

१६. बुद्धाद्वैतस्वतत्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥ —पंचदशी ४-५५
तथा—"एवं ध्यानैकनिष्ठोऽपि लेशाल्लौकिकमारमेत् ।
तत्ववित्वविरोधित्वाल्लौकिकं सम्यगाचरेत् ॥ —वही ९-८७

१७. "अहैतुक दयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम्" —विवेक चूड़ामणि, श्लोक ३५

१८. "तस्माल्लाभे महान् यत्न आस्थेयः" —बृहदारण्यक उ० शां० भा० १-४-८
तथा—"Bradeley says that where there is no 'ought' there is no morality and that the 'ought' has a necessary place in the moral life"
—Advait Vedant, p. 169

१९. शंकराचार्य का आचारदर्शन, पृ० ७०
२०. "पुरुषाधीनत्वात्मलाभात्कर्तव्यस्य कर्त्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म" —ब्रह्मसूत्र शां० भा० १-१-२
तथा—"तावदेव पुरुषार्थो यावदन्तः करणं तदीयं कार्याकार्य विवेकयोग्यम्" —गीता शां० भा० १२-६७
२१. शंकराचार्य का आचारदर्शन, पृ० ७४
२२. "एष (ईश्वरः) ह्येवासाधु कर्म कारयति" —कौषीतकि उ० ३-९
२३. कठ० उ० शां० भा० १-२-२३
२४. 'Appcarence and reality' by Bredley, p. 437
२५. Indian Philosophy, Vol. I, p. 629
२६. शंकराचार्य का आचारदर्शन, पृ० ८२
२७. वही, पृ० ८१
२८. विवेक चूड़ामणि, श्लोक १९, २०
२९. "तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वांगानि सत्यमायतनम्" —केन उ०, खण्ड-४, मन्त्र ८
३०. तैत्तिरीय उ० अनुवाक् ११, शीक्षावल्ली
३१. कल्याण उपनिषद् अंक, पृ० ३५
३२. गीताप्रबन्ध (अरविन्द घोष), पृ० २६९
३३. विवेकानन्द, व्यावहारिक वेदान्त, पृ० ९
३४. "आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरुच्यतः" —विष्णु सहस्रनाम
३५. कबीर, (आ० ह० द्वि० लिखित), पृ० २७३, पद ७०

सील संतोष सदा समदृष्टि, रहनि गहनि में पूरा।
ताके दरस परस भय भाजे, होइ कलेस सब दूरा ॥

३६. सन्तसुधासार, पृ० ६३३
३७. सन्तसुधासार, कबीरवाणी, सांच को अंग, पृ० १४६
३८. पंचदशी, प्र० ९, श्लोक ८६ (ध्या० दी० प्र०)
३९. सन्तसुधासार, पृ० १३१

पतिबरता पतिकौं भजैं, और न आन सुहाय।
सिंह बचा जो लंघना, तो भी घास न खाय ॥

उस समृथ का दास हौं, कदेउ न होइ अकाज।
पतिबरता नांगी रहै तो उस ही पुरिस को लाज ॥

४०. सन्तकाव्य, पृ० २०५, मिलाइये—'ज्ञानाग्निदग्धसर्वकर्माणि'
४१. जब पाप पुंनि भ्रम जारी।
तब भयौ प्रकास मुरारी ॥ —वही, पृ० १६४

४२. बृहदारण्यक उ०, ४-४-२३ पर शांकर भाष्य।
४३. सन्तसुधासार, पृ० ५७५
४४. Shankara's Works (Memorial edition), Vol. XI, p. 143
"ये हि सम्यग्दर्शिनः तैरुपदिष्ट ज्ञानं कार्यक्षम भवति, नेतरत्"।
४५. अपरोक्षानुभूति, श्लोक ११
४६. तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञानं कुर्वीत।
केवलं सत्वशुद्धिमात्रमेव फलम्॥ —बृहदारण्यक उ० ४-४-२१
४७. Shankara's Works, Vol. XI, p. 162
तथा—"संस्कृतस्य हि विशुद्धसत्बस्य आत्मज्ञानमंजसैवोपजायते"
—Shankara's Works, Vol. VI, p. 43
४८. सन्तकाव्य, पृ० ३७२
४९. "कामस्तदग्रे समवर्तताऽधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्"
—ऋग्वेद, नासदायसूक्त, मन्त्र ४
५०. अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद् यद् हि कुरुते किंचित् तत् तत्कामस्य चेष्टितम्॥
—मनुस्मृति, अ० २, श्लोक ४
५१. Freud, Beyond the pleasure Principle, p. 64, "Thus the libido of our sexual instincts with Eros of poets and philosophers, which holds together all living things."
५२. शंकराचार्यकृत 'शतश्लोकी', श्लोक ३१
५३. सन्तसुधासार, कबीरकृत 'कामी नर को अंग', खण्ड-१, पृ० १४४
५४. वही
५५. चरनदास की बानी, पृ० २०, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।
५६. सन्तसुधासार, भाग-१, पृ० १४५
५७. भगवद्गीता अ० २, श्लोक ६२ तथा ३-३७
५८. चरनदास की बानी, पृ० २१, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।
५९. यारी साहिब की बानी, पृ० १० (वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
६०. त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभ स्तस्मादेत त्त्रयं त्यजेत्॥
—भगवद्गीता, १६-२१
६१. ईशोपनिषद्, मन्त्र १
६२. 'चर्पटपंजरी स्तोत्रम्' —शांकरकृत
६३. सन्तसुधासार, भाग-२, पृ० २४७
६४. योगवासिष्ठ, उपशम प्र०, १६-३, ४

६५. अहंकारः स विज्ञेयः कर्ताभोक्ताऽभिमान्ययम् ॥
विषयाणामानुकूल्ये सुखी दुःखी विपर्यये।
सुखं दुखं च तद्धर्मः सदानन्दस्य नात्मनः ॥
—विवेक चूड़ामणि, श्लोक १०६, १०७

६६. कल्याण (सन्तवाणी अंक), वर्ष २९, संख्या १, पृ० २४७

६७. चरनदास की बानी (वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० २४

६८. विवेक चूड़ामणि, श्लोक ७८ से मिलाइये—
म्रिग मीन भ्रिग पतंग कुचर एक दोख बिनास।
पंच दोख असाध जामहिं ताकी केतिक आस ॥
—आदिग्रन्थ, रैदास, रागु आसा १

६९. विषयाशामहापाशाद् यो विमुक्तः सुदुस्त्यजात्।
स एव कल्पते मुक्त्यै नान्यः षट्शास्त्रवेद्यपि ॥
—विवेक चूड़ामणि, श्लोक ८०

७०. दोषेण तीव्रो विषयः कृष्णसर्पविषादपि।
विषं निहन्ति भोक्तारं द्रष्टारं चक्षुषाप्ययम् ॥ —वही, श्लोक ७९

७१. कल्याण (सन्तवाणी अंक), पृ० २४५

७२. नैतिक जीवन का सिद्धान्त, पृ० ११६ (आतमाराम एण्ड संस प्रकाशन दिल्ली)

७३. विवेक चूड़ामणि, श्लोक ८०

७४. सन्तसुधासार, खण्ड-२, पृ० २६२

७५. कल्याण (सन्तवाणी अंक), पृ० २६८

७६. ज्ञानी लोकसंग्रह को करत व्यौहार विधि।
अंतहकरण में सुपन की सी दौर है ॥
—सन्तसुधासार, भाग-१, पृ० ६३२

७७. कल्याण (सन्तवाणी अंक), सन्त बखना जी, पृ० २६१

७८. शकुनीनामिवाकाशे जले वारिचरानिव।
यथा पदं न दृश्यते तथा ज्ञानविदां गतिः ॥ —Advait Vedant, p. 193

७९. "साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन् पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः समभावो भवेद् यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते।" —वही

८०. निरबैरी निहकामता, साईं सेती नेह।
विषिया सूंन्यारा रहै, संतनिका अंग एह ॥ —सन्तकाव्य, पृ० २०३

८१. भगवद्गीता ३-३६, ३७

८२. "इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ"। —वही ३-४

८३. वही

८४. पंचदशी, द्वैत विवेक प्रकरण, श्लोक ४९

८५. "उभयं तत्वबोधात् प्राङ् निवार्यं बोधसिद्धये"। —वही, श्लोक ५०

उपसंहार

अद्वैतवेदान्त की सिद्धान्त एवं साधनासम्बन्धी पूर्वोक्त समानताओं को देखते हुए अब हमें विचार करना होगा कि क्या ये समानताएँ आकस्मिक हैं ? या इनमें कोई तारतम्य भी रहा है। कबीर आदि सन्त यदि पूरी तरह अनपढ़ थे तो उन्होंने प्रचण्ड नैयायिक उदयन[1] की ही तरह भाषा में प्रचलित समस्त दर्शन-प्रणालियों की ब्योरेवार पारिभाषिकताओं को कहीं कहीं देने का साहस किया कैसे ? कबीर के शब्दों में छः दर्शनों का सार एक पद्य में देखिए—

मीमांसा कहे सब कर्म ही है। वैशेषिक समय को ध्यावता है।
न्यायवादी कर्तार ठाने। पतंजली योग बखानता है।।
सांख्यवादी नित्यानित्य कहें। वेदान्ती ब्रह्म अनुमानता है।
कहहिं कबीर ये चहुं दिशि दुंद मची। सो दुंद ही सब गावाता है।।[2]

इस पद्य को यदि हम स्पष्ट करें तो पता चलता है कि सन्तों को भारतीय दार्शनिक दृष्टियों का प्रत्यक्षतः या अनुमानतः अथवा रामानन्द आदि गुरुओं साधु-सन्तों के आप्त वचनों से पता जरूर था। कठिनाई सिर्फ यह थी कि ये दर्शन अत्यधिक पारिभाषिक हुए जा रहे थे, अथवा कुछ लोगों के द्वारा बौद्धिक कुश्तियां लड़ने के काम में लाये जा रहे थे। परमार्थ जो उनका मूल प्रयोजन था उससे कहीं परे उन्हें लौकिक राग-द्वेष, विजय-पराजय आदि भावों के पीछे ले जाया जा रहा था। इसी दार्शनिक द्वन्द्व या झगड़ेबाजी से सन्त बचना चाहते थे। भेदवादी दृष्टि उन्हें अप्रिय थी। इसी से उन्होंने सन्तों में भी प्रचलित प्रपंचोन्मुख जोगी, जगम, सेवड़ा आदि छः वेषधारियों को भी 'षट दरसन' कहकर निंदित ठहराया[3]—

झूठे बनिज कियो झूठो सन पूंजी सबै मिलि हरि।
षटदरसन मिलि पंथ चलायो तिरदेवा अधिकारी।।

किन्तु यदि हम 'षटदरसन' का अर्थ न्याय, मीमांसा आदि ही करें तो हमें या तो यह मानना होगा कि उनका उन्हें ज्ञान था जो पाक्षिक सत्य ही हो सकता है। या फिर दूसरे यह हो सकता है कि आस्तिक दर्शन विरोधी सिद्धों नाथों द्वारा 'षटदरसन' शब्द मत-सम्बन्धी वादविवाद के अर्थ में सन्तों तक पहुँचा होगा।

मूलचिन्तन तो उनका है ही शंकर-मतानुसारी अभेदचिन्तन, जो कदाचित् वेदान्त के उस समय प्रचलित विशिष्टाद्वैत द्वैताऽद्वैत, अचिन्त्याद्वैत या द्वैत मतों को प्रिय नहीं था।

अद्वैतचिन्तन अथवा जीवब्रह्मैक्यसाधन जो सन्तों का परमसाध्य है वह सिवाय शांकर चिन्तन के इतनी दृढ़ता से अन्यत्र कहीं भी प्रतिपादित नहीं किया गया था। स्वयं उपनिषदों में भी सीधे तौर पर कहीं भी अभेदप्रतिपादक वचन अद्वैतवेदान्तपरक ढंग से शंकर से पहले व्याख्यात नहीं किए जा सकते थे। उनमें भेद और अभेद दोनों के प्रतिपादक वचन थे। उनमे एकसूत्रता ले आने का श्रेय केवल शांकर उपनिषद्भाष्य और ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य को है। हिन्दी के बहुत से विद्वान् यह तो मानते हैं[४] कि सन्तों पर उपनिषदों का प्रभाव है। फिर उपनिषदों का प्रभाव दिखाने के लिए सन्तों के कथनों और उपनिषदों के कुछ मंत्रों का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत करते हैं, किन्तु यह भूल जाते हैं कि आधुनिक इतिहासविदों को सम्मत तीन-चार हजार वर्ष पूर्व लिखित इन उपनिषदों का प्रभाव अनपढ़ सन्तों तक पहुँचा कैसे? सन्त क्या भाषावैज्ञानिक थे या वैय्याकरण? वेदकालीन उपनिषदों की वह भाषा जिसका आज भी लौकिक संस्कृत के पढ़ने वालों को कुछ पता नहीं चलता। उसे सन्तों ने कैसे जाना? डॉ० राम खेलावन पाण्डेय कहते हैं कि—"अद्वैतवाद के बीज मंत्रसंहिताओं में प्राप्त हैं, उपनिषदों में अद्वैतपरक श्रुतियाँ हैं। बौद्ध माध्यमिक और योगाचार अद्वैतवादी थे। स्फोटवाद अद्वैत-समर्थक है। शैव और शाक्त-मत भी अद्वैतवादी हैं। अद्वैतवाद इन मतों से प्राचीन है। इसकी अखण्डित धारा जो प्राचीनकाल से प्रवाहित हो रही थी उसे सन्तकवि ने अपनी मानववादी स्थापनाओं के उपयुक्त पाया था।" औपनिषद उत्स के समर्थन में गुलाल साहिब का यह पद उद्धृत किया जाता है—

निरगुन मत सोई वेद को अंता। ब्रह्म सरूप अध्यातम संता।
जहंवा दुविधा भावन कोई। अध्यातम वेदान्त मत सोई ।।[५]

डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने सन्तों के सिद्धान्तों पर उपनिषदों का स्पष्ट प्रभाव स्वीकार किया है। एक ओर वे कहते हैं कि "दादू ने वेदान्तों के सर्वप्रिय दृष्टान्त का आसरा लेकर कहा, दूध में घी की तरह परमात्मा विश्व में सर्वत्र व्याप्त है।"[६] यहीं पर डॉ० बड़थ्वाल बृहदारण्यकोपनिषद् के कथनों से संतों के कथनों की तुलना भी करते हैं। फिर निष्कर्ष के रूप में कहते हैं "कि सन्त-सम्प्रदाय में आकर अगर वेदान्त में कुछ अन्तर पड़ गया है तो वह इतना ही है कि कहीं कहीं सूफीकाव्य के प्रभाव के कारण (कई) उक्तियाँ बाहर से भौतिक प्रेम के गहरे रंग में रंग गई हैं। प्रेम की भावना से उपनिषद् भी अछूते नहीं।"[७]

उपनिषदों के सिद्धान्तों का सन्तवाणी पर जो प्रभाव पड़ा है, निश्चय ही

हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। किन्तु प्रश्न यह है कि उपनिषदों के ब्रह्मवादी, आत्माद्वैतवादी या मायावादी कथनों का ही प्रभाव उन पर क्यों पड़ा? क्या कोई बीच में ऐसी कड़ी है जिसने जनमानस को प्रभावित करके उपनिषदों में से केवल ब्रह्मवाद या केवलाद्वैत चिन्तन को लेकर भारतीय इतिहास के मध्यकाल को अपने व्यक्तित्व से रंग दिया? निश्चय ही हमें आचार्य शंकर की ३२ वर्ष की छोटी-सी आयु में विकास-प्राप्त, तथा अखिल भारत में गलित गह्यसाधनाओं में फँसी बौद्ध विचारधारा एवं अन्य निर्द्वन्द्व विचरण करने वाली प्रपंचपरक साधनाओं की विरोधिनी महीयसी प्रतिभा को, औपनिषद अद्वैतवेदान्त के प्रचार द्वारा, समस्त मध्यकालीन वातावरण को मुखरित कर देने का श्रेय देना पड़ेगा। लेखक डॉ० बड़थ्वाल के इस अनुमान से पूर्ण सहमत हैं[८] "कि मध्ययुग के आचार्यों के कारण सारा धार्मिक वातावरण वेदान्त से ओतप्रोत हो गया था, जैसा कि आज भी है। इसी वातावरण में अबाध साँस लेने के कारण वह (अद्वैतचिन्तन) इन अपढ़ साधु सन्तों के अस्तित्व का अभिन्न अंग सा हो गया।" किन्तु उस समय रामानुज आदि वैष्णव, शैव, शाक्त, वेदान्तियों के वेदान्त भी उठ रहे थे। सन्तों ने उनमें से सिद्धान्तदृष्टि से केवल आत्माद्वैत या ब्रह्माद्वैत को तथा आचार की दृष्टि से वैष्णव वेदान्त को ही क्यों चुना? क्योंकि वह उनकी और युग की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल रहा होगा। दोनों का ही प्रचार मिश्रित रूप से साधुओं सन्तों द्वारा जन-भाषा के माध्यम से सन्तों के समय में हो रहा था। हमारे सांस्कृतिक इतिहास में धर्मपरायण लोगों की यह बराबर प्रवृत्ति रही है कि विचार हम भले ही अपनी सामान्य भाषा में करें किन्तु अपने विचारे हुए की परीक्षा के लिए संस्कृत के आप्तवचनों को ही प्रमाण जरूर मानें। फलतः लोकभाषाओं का संस्कृत से तब कोई विरोध नहीं था। वैष्णवों की कथाएँ (सत्यनारायण जैसी) मूलतः संस्कृत में लिखी जाती थी, लोगों को हिन्दी में सुनाई जाती थीं। आज भी वही प्रथा है।

इस प्रकार उपनिषदों के बिखरे हुए विचारों को, गीता की परस्पर विरोधिनी उक्तियों को एक समन्वित सूत्र में पिरो देने का तथा केवलाद्वैती पद्धति पर व्याख्यान करने का विराट् प्रयत्न मध्यकाल में सर्वप्रथम आचार्य शंकर के हाथों हुआ। उसके फैले हुए प्रभावों को देखकर ही लोकप्रिय वैष्णव आचार्यों को अपने युग में पहले केवलाद्वैत का ही खण्डन करना होता था। किन्तु वैष्णव भी अपने सम्प्रदाय के आधारस्तम्भ श्रीमद्भागवत में इन केवलाद्वैती प्रभावों से बच नहीं सके। वस्तुतः पुराने समय में किसी भी मत के विचारों के फैलाने का काम आज की तरह पैम्फलेटबाजी या धार्मिक संस्थाओं द्वारा किताबें मुफ्त बाँटने से नहीं होता था। मुद्रणकला के अभाव में प्रत्येक सम्प्रदाय को वादविवाद-प्रतियोगिताओं, विचारगोष्ठियों एवं उपदेशों द्वारा ही अपने सिद्धान्तों का जनता में प्रचार करना होता था। धर्मग्रन्थ या सम्प्रदायों के प्रतिष्ठित ग्रन्थ तो खास खास

अधिकारी विद्वानों के पास ही रहते थे। ज्ञान का सही स्रोत तो गुरुमुख ही होता था। पुस्तकों में पड़ी विद्या पर आश्रित रहना तब के ज्ञानी के लिए असम्भव था।[९] उसके तो गुरु द्वारा परीक्षित और श्रवण तथा मनन द्वारा धारण की हुई विद्या ही काम आती थी। इसी से ऋषियों के काल से लेकर अब तक शांकर मत में जो दैनिक प्रार्थना की जाती है उसका मुख्य अंग है 'श्रुतं मे मा प्रहासीः', अर्थात् मेरा सुना हुआ मुझे न छोड़ जाए।[१०] ब्रह्मतत्त्व को समझने का तो फिर एकमात्र साक्षात् साधन श्रवण ही था। पुस्तकों का निर्जीव ज्ञान गुरुरूप व्यक्ति का सम्पर्क पाकर ही पहले सजीव होता है, फिर सजीव होकर श्रवण द्वारा शिष्य के मानस में संचरित होकर साधक का श्रेय करता है। ऐसे ही अनुभव-ज्ञान पर श्रुति भी, शंकर भी, सन्त भी बार बार जोर देते हैं –

अनुभव साक्षात ज्ञान प्रलय की अगिन सम।
सुंदर कहत द्वैत प्रपंच बिलात है॥[११]

इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आचार्य शंकर एक अनुभवी के साथ-साथ प्रकाण्ड विद्वान् भी थे। उनके सामने विरोधी तर्कों से घबरा उठने का कोई प्रश्न नहीं था। वैसे तर्क को आत्मज्ञान की स्थिति में वे कोई अतिरिक्त महत्व नहीं देते थे। किन्तु उन्हें हम विरोधी या अविरोधी वाद-विवादपूर्ण दर्शनों या दृष्टियों को पूरी तरह प्रमाणों की कसौटी पर परखते हुए पाते हैं। अतः छः दर्शन या षट्शास्त्र उनकी दृष्टि में सत्य के प्रति विभिन्न पक्षपातपूर्ण दृष्टियाँ होने पर भी अंशतः सत्योन्मुखी हैं। वस्तुतः सन्तों के समय तक आस्तिक दर्शनों में भारी परिवर्तन हो चुका था। शंकर के समय (सातवीं शताब्दी) तक अभी वैदिक-दर्शन इतना उग्र तार्किक नहीं हुआ था। यह तो दसवीं शताब्दी गंगेश उपाध्याय के साथ ही जब नव्यन्याय की पडितों में सर्वत्र दुंदुभि बजने लगी थी,[१२] तथा वेदान्त ने जिस तर्क को अपने अनुभव-ज्ञान से पहले अप्रतिष्ठित करार दिया था[१३] वही तर्क एक विशिष्ट शैली का आधार लेकर जब परवर्ती सभी वेदान्त जैसी दर्शन शैलियों एवं रसगंगाधर जैसी साहित्यिक कृतियों पर हावी होने लगा, अर्थात् 'विद्या विवादाय' का दृष्टिकोण बढ़ता जा रहा था उस समय सन्तों ने षट्शास्त्र को कोसने के रूप में पंडित व्यक्तित्व की इस दूषित प्रवृत्ति को ही अमान्य ठहराया होगा। इस प्रवृत्ति की ओर से अरुचि ही षट्शास्त्र-निन्दा के रूप में सन्तकाव्य में व्यक्त हुई है—

सुंदर कहत षट्शास्त्र मांहि भयो वाव।
जाके अनुभव ज्ञान बाव में न बह्यो है॥[१४]

किन्तु इन शास्त्रों के दृष्टिकोणों का उन्हें परिचय बिल्कुल न था ऐसा कैसे कहा जा सकता है। प्रभाव तो बड़ी सूक्ष्म वस्तु है। मनुष्य कई बातों को

अप्रामाणिक तौर पर कई बार सुनता कहीं और से है और उसको अपने अनुसार ढालता कहीं और है।

रही बात शंकर की साम्प्रदायिकता की। सम्प्रदाय प्राचीन तत्त्वज्ञों की दृष्टि में मातृसंस्था (Mother institution) होता था। उसके बिना जिज्ञासु अध्यात्म-पथ पर अग्रसर हो ही नहीं सकता था। सम्प्रदायों का रूप अधिकाधिक पारिभाषिक होता चला जाए यह दूसरी बात है। किन्तु सम्प्रदाय को मजहब के अर्थ में लेना सर्वथा उचित नहीं। सम्प्रदाय मजहब से बिल्कुल भिन्न है। कबीर और दादू जैसे सन्त जो सदैव 'पषापषी' (पक्ष विपक्ष) से बचने में लगे रहे उन्हीं के चेले आगे नई साम्प्रदायिकता के पचड़ों में पड़कर उनके कर्मों के साथ अलौकिक चमत्कारों को गूँथने लगे। संन्यासियों के जहाँ गिरि, पुरी, भारती, तीर्थ, सरस्वती, दण्डी, हंस आदि आचार्य ने दस सम्प्रदाय खड़े किए थे वहाँ सन्तों के कबीरपंथ, नानकपंथ, दादूपंथ, लालपंथ, निरंजनी सम्प्रदाय, बावरीपंथ, मलूकपंथ, बाबा लालीमत, धामी सम्प्रदाय, दरियापंथ, आदि कम से कम सोलह सम्प्रदायों की स्थापनाएँ आज सुनने में आती हैं। इनमें से भी फिर एक एक पंथ के कई कई पंथ हुए। ऐतिहासिक ज्ञान के अभाव में इन पंथों के कई चेलों ने गुरु को अतिरिक्त महत्व देने की दृष्टि से कहीं उनसे गोरखनाथ और कहीं दत्तात्रेय कहीं शंकराचार्य से गोष्ठियाँ करवा दी हैं। ज्ञानतिलक में ऐसे ही कबीर द्वारा शंकराचार्य को दिए ज्ञान की बेसिर-पैर की बात किसी ने कह दी है—"पद छुछुम (सूक्ष्म) कहा कबीर गोसाइ। संकराचार्ज को चेताआ। गुस्ट संपुरन।"[१५] किन्तु इसमें कबीर का क्या दोष? पंथ या मार्ग तो आने वाली पीढ़ी की सुविधा के लिए निकाले जाते हैं, वे चाहे शंकर के द्वारा प्रवर्तित हों या किसी सन्त के द्वारा। कबीर कहते हैं कि यदि पथिक विचारपूर्वक न चला करें और विपथ पर चलकर भ्रष्ट हो जाएँ तो पथ (या मार्ग) का क्या दोष?

राह बिचारी क्या करै, पंथि न चलै बिचारि।
आपन मारग छांडिकै, फिरै उजारि उजारि॥[१६]

सन्दर्भ

१. य शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः॥

२. पचग्रन्थी (टकसार) शब्द झूलना १, पृ० २८७ (राम रहस्य विरचित, गरीबदास कृत गुजराती तत्वदीपिका सहित, स्वयं वेद कार्यालय, सीमावाद बड़ौदा से प्रकाशित, (सन् १९४२)।

३. विचारदास : बीजक सटिप्पण, पृ० २०४, (विचारदासकृत बिरलटीका, रामनारायण लाल, इलाहबाद, सन् १६२८)।
४. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय : डॉ० बड़थ्वाल "इसमें सन्देह नहीं कि उपनिषदों के सिद्धान्तों और उपदेशों से (सन्त) सर्वथा परिचित थे।"
५. मध्यकालीन सन्तसाहित्य, पृ० ३६८
६. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० १५६
७. वही, पृ० २११
८. वही
९. "पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगतं धनम्। कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम्"।
१०. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृ० ५० : काम कोटि कोशस्थानम्, सन् १९५४
११. सुन्दरविलास, पृ० १६४ (वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
१२. भारतीय दर्शन (बलदेव उपाध्याय)
१३. "पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठा भवन्ति"

—ब्र० सू० शां० भा० २-१-११

१४. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० ३७८ पर उद्धृत।
१५. मध्यकालीन सन्तसाहित्य, पृ० ३६९ पर उद्धृत।
१६. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ३५९

परिशिष्ट

केवलाद्वैत के एक सन्त व्याख्याता :

'निश्चलदास'

जैसा कि प्रायः देखा जाता है कि लक्ष्य-ग्रन्थों की रचना के बाद उनके बिखरे अनुभवों एवं चिन्तन को एक शास्त्रीय मर्यादा देने का प्रश्न उठा करता है। ताकि एक ही विषय का सम्पादन करने वाली विभिन्न रचनाओं के सिद्धान्तों में कोई एकसूत्रता स्पष्ट रूप में चिन्तन के धरातल पर खोजी जा सके। साहित्यिक क्षेत्र में लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण की समस्या लक्ष्यग्रन्थों के पर्याप्त परिपक्व विकास होने के बाद ही सामने आया करती है। हिन्दी साहित्य में १९वीं शताब्दी तक अद्वैतवेदान्ती प्रभाव के परिणामस्वरूप सन्तसाहित्य का एक विस्तृत रूप सामने आ चुका था। कबीर, दादू, रैदास, सुन्दरदास, चरणदास, दरिया साहिब, भीखा, यारी, पलटू आदि अनेक सन्त विभिन्न दृष्टान्तों द्वारा जीव और ब्रह्म की एकता, जगत् की असत्यता, विषयों की असारता, माया का जीवों के प्रति अनाचार आदि विषयों पर अपना ऐकमत्य सिद्ध कर चुके थे। सन्तों के भी सम्प्रदाय उत्तरी भारत में स्थान-स्थान पर चल रहे थे। कबीर पंथ, दादू सम्प्रदाय, सिख सम्प्रदाय, उदासी सम्प्रदाय, नादयोगपरक राधास्वामी मत आदि विभिन्न मत अपनी-अपनी साम्प्रदायिक परम्पराओं को बना रहे थे। गुरु के महत्त्व-गान के साथ-साथ उसके अनुभवों की रहस्यमयता को प्राप्त करने के लिए शिष्य को गुरु की अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर बताई गई राह पर चलने का निर्देश सभी सन्त करते थे।

किन्तु यहाँ सम्प्रदाय का अर्थ उसके हीनतर अर्थ यानी कट्टरपन्थिता के रूप में नहीं करना चाहिए। सम्प्रदाय का जन्म तो हर समाज में उसी वक्त हो जाता जब एक गुरु-पद की स्थापना की जाती है। गुरु के बताए ढंग से जीना और साधना को स्वीकार करना एवं साधना द्वारा उपलब्ध अनुभवों का लोक-कल्याण के लिए प्रचार करना एक सम्प्रदाय को जन्म देता है। अध्यात्म-साधना के मार्ग में आचार्य शंकर एक क्षण को भी संप्रदाय को न जानने वाले शास्त्रवेत्ता ज्ञानी के

साथ चलने का निषेध करते हैं।[1]

सन्तों के इन सम्प्रदायों में कुछ एक नए रहस्यपूर्ण ढंग के साधना-मार्गों की भी परिकल्पना हो चुकी थी। जैसे कि पिपीलिका, मीन और विहंगम मार्ग उनकी दृष्टि में एक नया ही गुरु द्वारा बोध्य अर्थ रखते थे।[2] अतः यदि हम गुरु के द्वारा वसीयत के रूप में शिष्य को दिये गए विचार-समुदाय का नाम सम्प्रदाय रख सकते हैं, तो यह एक अध्यात्म-मार्ग की अनिवार्य आवश्यकता है। इसका संकीर्ण धार्मिकतापूर्ण राग-द्वेष से कोई सम्बन्ध हो नहीं सकता।

हिन्दी के इन सन्तों के आज भी उत्तर भारत में फैले मठों में या डेरों में उपरोक्त प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। सन्त दादू दयाल जिनका अद्वैतवेदान्त से काफी गम्भीर परिचय लगता है, उनके सम्प्रदाय में हम देखते हैं कि सुन्दरदास जैसे अद्वैतवेदान्त का प्रौढ़ शास्त्रीय ज्ञान रखने वाले सन्त हो चुके थे। इसी सम्प्रदाय की परम्परा ने शांकर वेदान्त के प्रबुद्ध ज्ञाता सन्त निश्चलदास को जन्म दिया। शांकर वेदान्त के जैसे शास्त्रीय स्वरूप के विवेचन के प्रयत्न इन्होंने अपनी हिन्दी रचनाओं में किए हैं, वे इनके प्रकाण्ड पाण्डित्य के साथ इनकी लोकोपकारिणी सन्त-प्रकृति के भी अनुकूल ही हैं।

जाट के घर में जन्म लेकर भी इन्होंने जितनी संस्कार-सम्पन्नता प्राप्त की वह हिन्दी अद्वैतचिन्तन के क्षेत्र में अपूर्व है। उनके प्रारम्भिक जीवन के विषय में कहा जाता है कि वे हिसार जिले घनाणा गाँव में पैदा हुए थे। पिता ने अपनी अकेली इस सन्तान को विरक्त होकर देहली में 'खारी बावड़ी' बाजार के भवानी शंकर छत्ते में दादूपन्थी महात्माओं के डेरे को अर्पित कर दिया।[3] बालक की विलक्षण प्रतिभा से प्रभावित डेरे के गुरु ने उसे संस्कृत के विशेष अध्ययन के लिए पहले जालन्धर भेजा, फिर बनारस। बनारस में काफी देर रहकर ही सन्त निश्चलदास ने वेद, वेदांग, न्याय, वेदान्त, व्याकरण की शिक्षा प्राप्त की। अपनी इस प्रौढ़ दार्शनिक शिक्षा एवं जीवन के अनुभवों के आधार पर उन्होंने हिन्दी साहित्य को अद्वैतवेदान्त के 'विचारसागर' एवं 'वृत्तिप्रभाकर' नाम के दो अमूल्य ग्रन्थरत्न प्रदान किए।[4]

उनकी इन दोनों रचनाओं में से पद्यबद्ध रीति से लिखे गए विचारसागर का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ की पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष वाली गहन विश्लेषण-प्रधान शैली तथा समस्त केवलाद्वैती चिन्तन को एक ही ग्रन्थ में समेटने का अपूर्व प्रयास, दोनों ही प्रशंसनीय है। वेदान्त-प्रक्रिया की पूर्ण स्पष्टता का प्रयत्न इस हिन्दी-ग्रन्थ में है, जो कि मूलतः ही हिन्दी में लिखा गया है। विभिन्न शास्त्रों के ज्ञाता होते हुए भी इन ग्रन्थों के हिन्दी में ही लिखने का कारण निश्चलदास का संस्कृत से विरोध नहीं रहा, बल्कि गोस्वामी तुलसीदास की रामकथा के हिन्दी में लिखे जाने के प्रयोजन की तरह ही सन्त निश्चलदास ने भी अद्वैतवेदान्त को

जनमात्र तक पहुँचाने के लिए यह प्रयत्न किया। जैसे गोस्वामी जी ने अपने रामचरित मानस की रचना से पूर्व संस्कृत की दुर्बोधता को देखकर 'नाना वेदों शास्त्रों के पारंगत' होते हुए भी जनता की भाषा में ही रामकथा के माध्यम से जनता को समस्त निगम व आगम-सम्मत[५] विचारों को दिया, और पाण्डित्य के मोह को त्यागकर लोक-कल्याण[६] का मार्ग अपनाया उसी प्रकार सन्त निश्चलदास ने भी अपनी दार्शनिक मेधा को हिन्दी के मन्दिर में अर्पित किया, और सन्तों की प्रसिद्ध उक्ति कि "संस्कृत तो कुएँ का पानी है जिसे पीने की सामर्थ्य किसी भी साधनहीन व्यक्ति में नहीं होती" के अनुसार सर्वजनग्राह्य जनभाषा की बहती धारा में निश्चलदास ने इस अद्वैतचिन्तन के अमृत को घोल दिया।[७] अपने ग्रन्थ का प्रयोजन लिखते हुए वे कहते है कि "देववाणी संस्कृत में तो अद्वैतवेदान्त के ब्रह्मसूत्र, उस पर शांकर भाष्य, फिर सुरेश्वर आदि आचार्यों के वार्तिक आदि बहुत से ग्रन्थ हैं। किन्तु मैं साधारण बुद्धि वाले लोगों के बोध के लिए 'भाषा' में ही लिख रहा हूँ।"[८]

सन्त निश्चलदास के इन दोनों ग्रन्थों पर आचार्य शंकर की दोनों दार्शनिक शैलियों का पूर्ण प्रभाव है। एक तो आचार्य ने अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों को अत्यन्त ही सुबोध बना देने की दिशा में जो छोटे-छोटे विवेक चूड़ामणि, उपदेश-साहस्री, आत्मबोध, अपरोक्षानुभूति आदि लघुकाय ग्रन्थों की काव्यशैली में रचना की थी। दूसरी ओर उन्होंने दिग्गज पण्डितों के मदमर्दन के लिए प्रौढ़ तार्किक शंका-समाधान वाली विस्तारपूर्ण दार्शनिक शैली का आश्रय अपने उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र एवं भगवद्‌गीता के भाष्यों में लिया था। इन दोनों शैलियों का समावेश निश्चलदास ने अपने 'विचारसागर' में किया है। इसी से यह ग्रन्थ अधिक साधकों को प्रिय रहा है, जबकि वृत्ति-प्रभाकार प्रौढ़ तर्कपूर्ण दार्शनिक प्रखरता के बावजूद हिन्दी में लिखित होने पर भी पर्याप्त कठिन ही रहा है। वे समस्त आध्यात्मिक सम्प्रदाय शास्त्रों के अध्ययन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि शंकर-मत ही सर्वश्रेष्ठ दर्शन-प्रणाली है[९], यद्यपि उन पर शंकरोत्तर केवलाद्वैती पण्डितों की प्रतिबिम्बवादी अवच्छेदवादी आभासवादी दुरूह तर्कशैलियों का भी प्रभाव है।

वैसे उनका समस्त चिन्तन विचारसागर में पूर्णता प्रस्फुटित हुआ है, किन्तु फिर भी उसमें जो कुछ त्रुटि निश्चलदास को नजर आई उसका परिमार्जन उन्होंने वृत्ति-प्रभाकर में कर दिया है। अतः हमारे यहाँ विवेच्य में उन पर संक्षिप्त चिन्तन इन दोनों ग्रन्थों के सिद्धान्तों के आधार पर ही होगा।

विचारसागर को उन्होंने सात तरंगों मे विभाजित किया है। प्रथम तरंग में तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्मज्ञान के अधिकारी का वर्णन, तथा ज्ञान-प्राप्ति के विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा, समाधान, तितिक्षा, उपरति मोक्ष की इच्छा, एवं श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि बहिरंग एवं अंतरंग साधनों का वर्णन किया गया है।

द्वितीय तरंग में मोक्ष की इच्छा के औचित्य एवं जीव और ब्रह्म की एकता की सम्भावना पर पूर्वपक्षी के द्वारा शंकाएँ उठवाई हैं। पूर्वपक्षी का कहना है कि क्योंकि ब्रह्म क्लेशरहित एवं व्यापक है। और जीव क्लेशसहित और परिच्छिन्न है अतः दो विरोधी सत्ताओं का ऐक्य बन ही नहीं सकता। इन शंकाओं का तर्कपूर्ण खण्डन करते हुए यहीं आचार्य शकर के द्वारा लिखित ब्रह्मसूत्र के अध्यास भाष्य के अनुसार अध्यास एवं अध्यास की सामग्री का भी विवेचन किया गया है। इस अध्यास के स्वरूप विवेचन में निश्चलदास ने एक मर्मज्ञ अद्वैतवादी की तरह संक्षेपशारीरककार के अनुसार अध्यास या भ्रान्ति के जनक प्रभातृ-दोष, प्रमाण-दोष, प्रमेय-दोषों को खण्डित करते हुए सिद्ध किया है कि आत्मा में प्रपंच की भ्रान्ति का कारण न तो प्रमाता के अन्तःकरण का विक्षेप है, न किसी प्रत्यक्षादि प्रमाण की कोई खराबी है न ही प्रमेयों (मानी आत्मा और प्रपंच) का कोई आपसी सादृश्य। आत्मा में प्रपंच का अध्यास बिना किसी दोष के ऐसे ही हो जाता है जैसे नेत्रादि में सब दोषों का अभाव होने पर भी आकाश में नीलिमा आदि का सबको अध्यास हो जाता है।[१०] यही अद्वैतियों की अनिवर्चनीय ख्याति है।

इसके बाद फिर नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से मोक्ष की सिद्धि मानने वाले मीमांसकों के एकभविकवाद का यह कहकर खण्डन कर दिया गया है कि "जैसे स्वप्नविषै जो मिथ्यापदार्थ प्रतीत होवे है तिन की जाग्रत बिना निवृत्ति होवे नहीं, तैसे बंध बी मिथ्या प्रतीत होवे है ताकी बी ज्ञानरूप जाग्रत बिना निवृत्ति होवे नहीं।"[११]

तीसरी तरंग में केवल मात्र गुरु शिष्य के लक्षण एवं गुरु की अनिवार्य सेवा आदि का ही शास्त्रीय वर्णन है। शास्त्रीय चिन्तन की दृष्टि से चौथी तरंग का बहुत महत्त्व है। इसमें निश्चलदास ने आत्मा की आनन्दरूपता को लेकर और सांसारिक विषयों में आनन्दाभास को देखकर एक महत्त्वपूर्ण निर्णय दिया है कि आनन्द वस्तुतः विषय में होता ही नहीं। वह तो जहाँ भी जिस रूप में भी होता है आत्मा में ही होता है। विषयानन्द और स्वरूपानन्द इस दृष्टि में मूलतः परस्पर भिन्न नहीं। बस केवल भ्रान्त दृष्टि के कारण ही मनुष्य आनन्द को आत्मा में न मानकर विषय में समझ बैठता है।[१२] इसी प्रसंग में उन्होंने फिर अध्यास या भ्रान्ति को स्पष्ट करने के लिए भ्रान्तिविषयक शून्यवादियों के असत्ख्यातिवाद का, विज्ञानवादियों के आत्मख्यातिवाद का, नैयायिकों और वैशेषिकों के अन्यथा-ख्यातिवाद का खण्डन करके केवलाद्वैत के अनिर्वचनीयख्यातिवाद की सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठा की है।[१३] कि अद्वैतवेदान्त के अनुसार जीव को ही अपने स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण अधिष्ठान आत्मा में ही अविद्या के कारण जगत् की प्रतीति होती है। अतः जगत् एक ओर जीवगत अविद्या का परिणाम है दूसरी ओर वह चेतना का विवर्त है—

तब निजरूप अज्ञान तें, ह्वै मिथ्या जग भान।
अधिष्ठान आधार तूं, रज्जू भुजंग समान ॥[१४]

इसी तरंग में फिर निश्चलदास ने प्रक्रिया की स्पष्टता के लिए एक ही ब्रह्मचेतना के, अज्ञानी की अपेक्षा से, उपाधिभेद से कूटस्थ जीव, ईश, ब्रह्म ये चार भेद किए हैं। इन चारों का घटाकाश, जलाकाश, मेघाकाश, महाकाश के दृष्टान्त से स्पष्टीकरण किया है[१५], और कहा है कि 'अहं ब्रह्म' इस प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना मुमुक्षु की दृष्टि में बसी हुई एक ही चैतन्य की ये चार भेदक उपाधियाँ खण्डित नहीं होती।[१६] चेतना में तो कोई भेद है नहीं वह तो अद्वितीय है अभिन्न है, किन्तु ये सब अज्ञान, आवरण, भ्रान्ति, परोक्षज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान, दुखनाश और हर्ष ये सातों अवस्थाएँ चैतन्य से आभासित अन्तःकरण या अन्तःकरण में पड़े हुए चैतन्य के आभास में ही उठा करती हैं।[१७] इसी प्रसंग में फिर निश्चलदास ने शांकर मत में ब्रह्म और माया के सम्बन्ध की समस्या को लेकर समाधान करते आ रहे आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद में से आभासवाद को ही आचार्य का निर्दुष्ट दृष्टिकोण बताया है।[१८]

पाँचवीं तरंग में शांकर मत की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए समस्त कामासक्तियों की दुखरूपता वर्णित की है। तथा सत्ता की प्रातिभासिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक कोटियों की सुविशद चर्चा की है और परमार्थ-सत्ता को ही वास्तव घोषित किया है। फिर संस्कृत के प्रकाण्ड दार्शनिक वाचस्पति के इस मत को अनुपयुक्त कहा है कि अज्ञान या माया ईश्वर या ब्रह्म के आश्रित न रहकर जीव के आश्रित है। क्योंकि 'मैं ब्रह्म को नहीं जानता' अज्ञानी का यह कथन सिद्ध करता है कि 'न जानना' जीव में है। ये अज्ञान जीवों की अनेकता के कारण स्वयं भी असंख्य हैं।[१९] किन्तु निश्चलदास कहते हैं कि इस दृष्टि से तो ईश्वर भी जीव की कल्पना या अज्ञान का फल ही सिद्ध होगा, जो कि वेद-विरुद्ध है। जीव का जीवत्व तो स्वयं अज्ञान से पैदा हुआ है। जीव के सहारे फिर वह कैसे रह सकता है। किन्तु अज्ञान बिना आश्रय भी नहीं रह सकता। फलतः उसे शुद्ध ब्रह्म के ही आश्रित मान लेना चाहिए।[२०] इस प्रकार ईश्वर को ही समस्त प्रपंच का उपादान और निमित्त कारण मानते हुए विश्व की उत्पत्ति के क्रम का वर्णन किया है।

इसके बाद विभिन्न अनात्मवादी एवं मीमांसकों, नैयायिकों के मतों की अक्षमता दिखाकर अद्वैतवादियों की विचार करने की प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है। मोक्ष प्राप्ति के लिए उत्तम अधिकारी को अभेदचिन्तन और मध्यम अधिकारी को ओंकारोपासना के आधार पर अहंग्रह ध्यान करने पर बल दिया गया है। अहंग्रह का अर्थ है निर्गुणब्रह्मोपासना या अभेदोपासना के आधार पर लय-चिन्तन करते-करते धीरे-धीरे समस्त भूत-सृष्टि से लेकर एक क्रम से अपने अहंकार तक

को अपने-अपने मूल उत्सों यानी भूतों तथा प्रकृति में लीन करके स्वयं ब्रह्म में लीन हो जाना है।[२१] यहीं आकर ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी का विघटन हो जाता है। यहीं पर ओंकार का माण्डूक्योपनिषद्-भाष्य के आधार पर विस्तृत विवेचन किया गया है।[२२]

तरंग छ: में गुरु वेद आदि की भी अनित्यता का प्रतिपादन कर दिया गया है। शंकराचार्य[२३] के बौद्धों के विरुद्ध स्वप्न और जाग्रत् के भेद को दिखाने वाले तर्कों के आधार पर जगत् की व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताओं का परस्पर विरोध दिखाकर फिर दोनों का मिथ्यात्व प्रतिपादन किया है। इस तरंग में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है कि ज्ञान को ही मुक्ति का साधन मानते हुए उसका कर्म और उपासना से विरोध तो दिखाया है, पर साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि कर्म और उपासना मन्द ज्ञान के ही विरोधी हैं, दृढ़ ज्ञान के विरोधी नहीं।[२४]

इसके अतिरिक्त अद्वैतवेदान्त के चार महावाक्यों के वाच्य, लक्ष्य अर्थों में एक स्पष्ट समन्विति ले आने के लिए विभिन्न वैयाकरण, एवं मीमांसक मतों द्वारा प्रतिपादित शब्दशक्ति सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए वेदान्ती चिन्तन-प्रक्रिया के अनुसार शब्द-शक्ति लक्षणा के जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था एवं भागत्यागलक्षणा रीतियों के अनुसार 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' और 'त्वं' पदों का लक्ष्यार्थ ब्रह्मजीवैक्य सिद्ध किया है।[२५]

सातवीं तरंग से जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति के वर्णन के बाद सामान्यत: ज्ञानी की निर्विकल्पदशा, उसके व्यवहार की निरंकुशता, का वर्णन करके फिर समस्त शास्त्रों की ब्रह्मज्ञानपरकता ही एकमात्र प्रयोजन कहा है। किन्तु इस तरंग में फलदृष्टि से वेद-वेदांग, पुराण, स्मृति, पांचरात्र-पाशुपत मत, नास्तिक मत आदि मतों का अद्वैतवेदान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अन्त में छ: आस्तिक दर्शनों का सार देकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया है।

इस प्रकार विचारसागर का समीक्षण करते हुए हमें स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ विशेष रूप से शांकर मत के गहन आध्यात्मिक रहस्यों के प्रतिपादन के लिए लिखा गया है। कहना चाहिए कि यह ग्रन्थ अद्वैतवेदान्त की प्राय: सर्वांगीण प्रक्रिया को व्यक्त करने में सक्षम है। संस्कृत में इसके ढंग का ग्रन्थ है, पंचदशी। विद्यारण्य मुनि द्वारा रचित इस पंचदशी ग्रन्थ की शैली एवं विचार-प्रक्रिया का निश्चलदास पर बहुत ही वरिष्ठ प्रभाव रहा होगा, ऐसा विचारसागर के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है। पंचदशीकार शांकरवेदान्त के व्याख्याताओं में अग्रणी माने जाते हैं। उन्होंने अपने 'विवरण प्रमेय संग्रह' और पंचदशी दोनों ग्रन्थों में शांकर मत का बहुत ही बड़े किस्म का विश्लेषण किया था, और वाचस्पति मिश्र के वेदान्त प्रसिद्ध अवच्छेदवाद के विरुद्ध माया, ब्रह्म, जीव ईश्वर के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर प्रतिबिम्बवाद का ही प्रतिपादन किया था। निश्चलदास ने इस

ग्रन्थों से यथास्थान स्व-मत सम्पादन के लिए तर्क लिए हैं। किन्तु माया, जीव, ईश्वर के सम्बन्ध को लेकर अवच्छेदवाद और प्रतिबिम्बवाद को छोड़कर वे आभासवाद का आश्रय लेते है।[२६] आभासवाद की श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए उन्होंने विचारसागर में अपना दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है, और आभासवाद को ही आचार्य शंकर का वास्तविक अद्वैतनिष्ठ दृष्टिकोण माना है।[२७] सुरेश्वराचार्य और आनन्दगिरि जैसे अद्वैतवेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान् प्रतिबिम्बवाद को स्थूल होने से दोषपूर्ण मानते थे। अतः वे चैतन्य के बिम्ब या प्रतिबिम्बभाव की अपेक्षा चैतन्य का आभास या चिदाभास को ही समस्त विश्वप्रपंच एवं ईश्वर मानते थे।[२८] निश्चलदास ने तरंग ४ के दोहा ८४ एवं ८८ में इस आभासवादी दृष्टिकोण के अनुसार ही जीव और ईश्वर के स्वरूप का क्रमशः स्पष्टीकरण किया है। उनका कहना है कि बुद्धि या मलिन सत्वगुणप्रधान अविद्या में चैतन्य के आभास (प्रकाश) का मिश्रण ही ईश्वर है। इस विषय में उन्होंने पंचदशी के उस मत को ग्रहण नहीं किया जिसमें बिम्बस्थानीय ब्रह्म माया उपाधि को अपने वश में करके ईश्वर बन जाता है।[२९] और अविद्या के अधीन होकर सुख-दुःख का भोक्ता जीव बन जाता है।[३०] आभासवादी दृष्टिकोण के अनुसार ईश्वर में चैतन्य का आभास अंश ही समस्त शुभ-अशुभ कर्मों का फल दाता है।[३१] जीव में जो चैतन्य का आभास अंश है वह पुण्य-पाप करता है तथा ईश्वर में जो आभास अंश है वह जीवों के कर्मों का फलदाता है। उसका सदा ब्रह्म से अभेद है।[३२] महावाक्य-विवेक द्वारा आभासवाद के अनुसार ईश्वर और जीव में से माया और अविद्या के अंशों को पृथक् करके चेतनाभास की ब्रह्मचैतन्य में प्रतिष्ठा का अनुभव करना होता है। इसी से गुरु शिष्य को वेदान्तविधि के अनुसार उपदेश करता हुआ समझाता है कि जीव और ईश्वर में जो चेतन है उसे भेदरहित ही मानना चाहिए।[३३]

वस्तुतः जीव और ब्रह्म को एकीकरण की प्रक्रिया को लेकर यह माना जाता है कि घटाकाश, जलाकाश, मेघाकाश, एवं महाकाश ये चार एक ही आकाश के छोटे-बड़े उपाधि वाले रूप हैं। घटाकाश हमारे अन्दर की कूटस्थ चेतना का उपलक्षण है, जलाकाश जीव-चेतना का, मेघाकाश सगुण ईश्वर-चेतना का, और महाकाश पूर्ण निर्विकार ब्रह्म-चेतना का। अद्वैतवेदान्त के अनुसार हमें परिच्छिन्न जीव-चेतना की निर्विकार निर्गुण ब्रह्म-चेतना के साथ तादात्म्यानुभूति करनी होती है न कि सगुणोपासकों की तरह ईश्वर से अभेद स्थापन करना होता है। ईश्वर मायाश्री है। माया से परे जाने के लिए, मोक्ष या परमपद की प्राप्ति के लिए हमें मायातीत निर्विकल्प निरुपाधिक मूलब्रह्म-चेतना में स्वयं को प्रतिष्ठित होते देखना है, न कि ईश्वर में। क्योंकि जीवभाव या ईश्वरभाव दोनों ही माया के कार्य हैं। विचारसागर की प्रथम छः तरंगों में यही सिद्धान्त मुख्य रूप से प्रतिपादित किया गया है।

किन्तु सातवीं तरंग में निश्चलदास कहीं कह बैठे हैं कि विदेहमुक्ति में कूटस्थ साक्षी आत्मचैतन्य का ईश्वर से अभेद होता है, शुद्धब्रह्म-चेतना से नहीं।[34] क्योंकि ईश्वर भी पूर्ण असंग चेतना ही है। नित्यता, सर्वज्ञता आदि गुणों के कारण ईश्वर को जीव के समान तो बन्धन आदि कभी होते नहीं। फलतः मेघाकाश स्थानीय ईश्वर जो कि महाकाश स्थानीय ब्रह्मचेतना का ही रूप है उसी से देहपात के बाद जीव-चेतना का अभेद होता है।

अद्वैतवेदान्त के अन्तिम सिद्धान्त के विषय में निश्चलदास की इस द्विविधा और कथनों की परस्पर विरोधिता को देखकर कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि विचारसागर का अन्तिम सिद्धान्त शांकर वेदान्त के अनुकूल नहीं है।[35] वैसे सन्त निश्चलदास ने अपने अन्तिम मत के समर्थन के लिए युक्ति-पूर्वक आचार्य शंकर के शारीरिक भाष्य के चतुर्थ अध्याय में से कुछ आठ उद्धरणों का विवरण सम्मुख रखा है। किन्तु उन उद्धरणों की पूर्वापर प्रक्रिया की समन्विति में कुछ एक त्रुटियाँ रह जाने से सिद्धान्तविरोध उठ खड़ा हुआ है।[36]

पर इस प्रकार के विचारभेद से इस ग्रन्थ का मूल्य किसी प्रकार भी जिज्ञासु के लिए कम नहीं होता। हिन्दी साहित्य में इतने श्रम से इतनी वेदान्त की मार्मिक व्याख्या कभी न हुई थी, न हुई है। अतः हिन्दी के अध्येताओं के लिए यह अद्वैत ग्रन्थ एक स्पृहणीय उपलब्धि ही है। इस ग्रन्थ के द्वारा अद्वैतवेदान्त का जनमानस में जो प्रचार हुआ है उसका जायजा आप किसी भी पढ़े या अनपढ़ साधु-संन्यासी के मुंह से ले सकते हैं।

अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रौढ़ विवेचन करने के बाद निश्चलदास ने शुद्ध पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ वृत्ति-प्रभाकर लिखा।[37] इसमें लेखक का दृष्टिकोण शतशः हिन्दी को एक प्रौढ़तम तर्कवादी अद्वैतदर्शन का ग्रन्थ देने का था। नैयायिक शैली का इस ग्रन्थ पर काफी प्रभाव है, जिसके कारण लेखक ने अद्वैतवादी दृष्टिकोण से वृत्ति का निरूपण करते हुए प्रमा और अप्रमा को लेकर प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि प्रमाणों का विशद विवेचन एवं भेदोपभेदों का वर्णन करके नैयायिकों के साथ अद्वैत-मत के साम्य और वैषम्य का विद्वत्तापूर्ण वर्णन किया है।

अप्रमा वृत्ति के अन्तर्गत उन्होंने वेदान्त-मत की अध्यास या भ्रान्ति के स्वरूप कथन को लेकर वर्णित अनिर्वचनीय ख्याति का निरूपण किया है, तथा रामानुज आदि आचार्यों के सत्ख्यातिवाद, प्राभाकर-मीमांसकों के अख्यातिवाद, नैयायिकों के अन्यथाख्यातिवाद बौद्धों के आत्मख्यातिवाद एवं शून्यवादी बौद्धों के असत्ख्यातिवाद जैसे भ्रान्ति की व्याख्या को लेकर किए गए विवेचनों का निराकरण करके अद्वैतवेदान्त के अनिर्वचनीयख्यातिवाद की प्रतिष्ठा की है। यहाँ आकर वे वृत्तिरूप ज्ञानों के चौदह भेदों का निरूपण करके वृत्ति के फल एवं

प्रयोजन का व्याख्यान करके ग्रन्थ को समाप्त कर देते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में निश्चलदास ने वृत्ति शब्द को ज्ञानमात्र के लिए प्रयुक्त किया है, और विभिन्न तर्कों से प्रमाणित किया है कि हमारे अन्दर वस्तुओं के अस्तित्त्व के बोधरूप व्यवहार के कारण हमारे अन्तःकरण और अविद्या का परिणाम ही वृत्ति है। अद्वैतवेदान्त मे माना जाता है कि मुमुक्षु को ज्ञानदशा में 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वृत्ति से अज्ञान की सम्पूर्ण निवृत्ति होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है। अतः वेदान्त के अनुसार यह वृत्ति ही साधक का प्रथम उद्देश्य है। यद्यपि क्रोध, सुख, दुःख आदि भी अविद्या और अन्तःकरण के परिणाम हैं परन्तु उन्हें 'वृत्ति' नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनमें किसी भी पदार्थ का प्रकाश नहीं हो पाता। यहाँ वे अद्वैतमत के तत्वानुसंधान और अद्वैतकौस्तुभ ग्रन्थों का दृष्टिकोण समझाते हुए कहते हैं कि उनके मत में भी 'अस्ति' व्यवहार के हेतु अन्तःकरण का ज्ञानरूप जो प्रकाशक परिणाम है वही वृत्ति है।[३८]

इन दो प्रौढ़ ग्रन्थों की रचना के अतिरिक्त निश्चलदास की दो अन्य रचनाओं का भी उल्लेख किया जाता है। वे ईशोपनिषद् और कठोपनिषद् पर वार्तिक हैं जो अभी प्रकाशित नहीं हुए। अस्तु सन्त निश्चलदास के व्यक्तित्व की इस संक्षिप्त मीमांसा से हम इस निष्कर्ष पर निश्चय ही पहुँचते हैं कि वे अद्वैतदर्शी पाण्डित्य और आत्मलीन सन्तत्व के बीच एक महत्त्वपूर्ण सेतु हैं। जाति से जाट होते हुए भी उन्होंने सन्तमत पर शांकर वेदान्त के अक्षुण्ण प्रभाव को स्वीकृत किया और सन्तों के दादू सम्प्रदाय को अपनी प्रतिभा का गौरव प्रदान किया।

सन्दर्भ

१. "असम्प्रदायवित् सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवदुपेक्षणीयः"

—कल्याण (उपनिषद् अंक), पृ० ८१, भूमिका

२. कंठ की जाप पिपीलिका, स्वांसा की है मीन।
सुरत जाप विहंग है जानत परम प्रवीन॥
(अर्थात् साधना की बाहरी क्रियाएँ पिपीलिका मार्ग में, ध्यान, धारणा आदि मीन मार्ग में, पूर्ण वैराग्य एवं पूर्ण अहं का निरसन विहंगम मार्ग में है।)

—सन्तमत में साधना का स्वरूप, पृ० १४

३. विचारसागर की प्रत्येक तरंग के अन्त में उन्होंने सन्त दादू को अपने परम गुरु के रूप में स्मरण किया है।

४. यह विवरण 'साधुबेला उदासीन आश्रम बम्बई' द्वारा प्रकाशित विचारसागर की भूमिका के आधार पर है।

५. रामचरित मानस, बालकाण्ड, श्लोक ७

६. कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहं हित होई।।
—वही, गीता प्रेस, गोरखपुर प्रकाशन (मंझला साइज), पृ० ४६

७. सूत्र, भाष्य, वार्तिक प्रभृति, ग्रंथ बहुत सुरबानि।
तद्यपि मैं भाषा करूं, लखि मतिमंद अजानि।।
—विचारसागर १-७

८. सांख्य न्याय में श्रम कियो, पढ़ि व्याकरण अशेष।
पढ़े ग्रंथ अद्वैत के, रह्यो न एकहु शेष।।
तिन यह भाषा ग्रन्थ किय रंच न उपजी लाज।
ता मैं यह इक हेतु है दया-धर्म सिरताज।।
—विचारसागर, तरंग ७, पद्य १११, ११३, ११४

९. विचारसागर, तरंग ५, पद्य २ से लेकर १२ तक। "शिष्य के जैन, बौद्ध एवं मध्व आदि के मतों के आधार पर शंका करने पर गुरु कहता है"—
गुरु बोले सिष कीसुनि बानी। संकर का मत परम प्रमानी।।३।।
तथा—श्री संकर अद्वैतहि मान्यो। तिन को मत यह हेतु प्रमान्यो।।१०।।

१०. विचारसागर, पृ० ८४-८५, तरंग २, (साधुबेला स्वयं सेवक मण्डल प्रकाशन १९६७)

११. विचारसागर, पृ० २११, (वेंकटेश्वर प्रेस प्रकाशन, सन् १९५३)

१२. वही, तरंग ४, दोहा ३३-३४

१३. वही, तरंग ४, दोहा ५० पर अन्तिम विवेचन।

१४. वही, तरंग ४, दोहा ५२

१५. वही, दोहा ७५ से ९६ तक।

१६. वही, दोहा ९७

१७. वही, दोहा ९८

१८. विचारसागर, पृ० २६४, तरंग ४, गद्य खण्ड २०३ (वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई प्रकाशन १९५३)

१९. वेदान्त सिद्धान्त सूक्ति मंजरी, गंगाधरेन्द्र सरस्वतीकृत—
ब्रह्मैव जीवाश्रितया विद्यया विषयीकृतम्।
वाचस्पतिमते हेतुर्माया तु सहकारिणी।।२६।।

२०. विचारसागर, तरंग ५, दोहा १५४ पर व्याख्या, पृ० ३०७, ३०८ (वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई १९५३)

२१. विचारसागर, तरंग ५, सवैया १६७

२२. वही, सवैया १६८ की व्याख्या

२३. "वैधर्म्यं हि भवति स्वप्न जागरितयोः"
—ब्र० सू० शां० भा० २-२-२९

२४. विचारसागर, तरंग ६, पृ० ४५८-५९ (वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई १९५३)— "जो मन्द बोध वाला कर्म उपासना करेगा तो उत्पन्न हुवा बोध नष्ट होय जावेगा।"

२५. वही, तरंग ६, पृ० ४८० से ५११ तक।

२६. वही, तरंग ४, पद ७५ तथा पृ० १७४ (साधुबेला मण्डल, प्रकाशन बम्बई १९६७, तरंग ४, दोहा ११६ से आगे।

२७. वही, तरंग ४, दोहा १०८ के आगे गद्य खण्ड २०३ में "भाष्यकार ने आभासवाद अंगीकार किया है", पृ० २६४

२८. बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक ३-४-८६ तथा १-४-३४१

२९. "मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः" —पंचदशी १-१६

३०. "अविद्यावशगस्त्वन्यः" —वही १-१७

३१. विचारसागर, तरंग ४, दोहा ९२

३२. वही, तरंग ४, दोहा ११३

३३. वही, तरंग ६, दोहा १४

३४. अंत भयो प्रारब्ध को पायो निश्चल गेह।
आतम परमातम मिल्यो देह खेह में छेह ॥ —दोहा १०९ पर टीका

३५. विचारसागर के अन्तिम सिद्धान्त का निराकरण : दण्डी संन्यासी स्वामी रामतीर्थ लिखित।

३६. वही, पृ० १६

३७. वृत्तिप्रभाकर का ही समस्त सार निकालकर बाद में पण्डित पीताम्बर ने श्री वृत्तिरत्नावली नाम की संक्षिप्त पुस्तक लिखी है।

३८. वृत्ति रत्नावली, पृ० ५७९-८० (वेंकटेश्वर प्रेस प्रकाशन, बम्बई सन् १९५३)

●●●